अमृत

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

वर्ष – एक
अगस्त १९५१
अंक – एक

बापा का जन्म ही दलितों की सेवा के लिए है, भले वे अस्पृश्य हों या भील या संताल या खासी। इनकी कदर करने में भी हम दलितों की कुछ-न-कुछ सेवा करते हैं। बापा की सेवा ने हिन्दुस्तान को बढ़ाया है।

—मो० क० गांधी

बापा और बापू

वार्षिक मूल्य—पांच रुपया
एक प्रति—आठ आना

सम्पादक
नगेन्द्र नारायण सिंह

इस अंक के लेख और लेखक

शुभकामनायें

महामहिम श्री माधव श्रीहरि अणे, राज्यपाल, बिहार —

शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले 'अमृत' के समक्ष एक स्थिर आदर्श है। असहाय तथा गरीबोंके प्राण ठक्कर बापा की स्मृतिको सुरक्षित रखना ही इसका ध्येय नहीं, वह तो बापा की निःस्वार्थ सेवा भावना की उच्च परम्पराको अक्षुण्ण रखनेके लिए निकला है। अमृतलाल ठक्कर की पुण्य-स्मृति 'अमृत' का पथ सदा आलोकित करे। मैं इसकी सफलता चाहता हूँ।

माननीय श्री बदरीनाथ वर्मा, शिक्षा तथा सूचना मंत्री, बिहार —

ठक्कर बापाके कामको चालू रखना केवल आवश्यक ही नहीं वरन अनिवार्य है। ऐसी अवस्थामें एक ऐसे पत्रका रहना आवश्यक है जो उस वीतराग सेवाव्रती महर्षिके आदर्शों की याद सदा लोगोंको दिलाता रहे और उनके पद चिह्नों पर चलनेकी प्रेरणा देता रहे। मैं आशा करता हूँ 'अमृत' इस आवश्यकता की पूर्त्ति करेगा और ठक्कर बापाके कार्य को आगे बढ़ाकर उनका सच्चा स्मारक बनेगा। मैं हृदय से इसकी सफलता की कामना करता हूँ।

श्री घनश्याम दास बिड़ला, सभापति अखिल भारतीय हरिजन-सेवक-संघ, दिल्ली—

'अमृत' बापाके चरण चिह्नों पर चले। मैं इसकी सफलता की कामना करता हूँ।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, सभापति बिहार-हरिजन-सेवक संघ, पटना —

वैसे तो हर कोई इस जीवन में दुनिया के हाथों उतना ही पाता है जितना कि वह उसे खुद देता है—न कम न बेश। मगर वह चाहता है कि जो कुछ वह दिल उड़ेल दिये जा रहा है उसकी चर्चा तो दुनिया की जबान पर बनी रहे निरन्तर। उसका नाम ही उजियार न रहा तो फिर उस सेवा का पुरस्कार क्या। हमारा नाम ही अमर न हुआ तो फिर हम औरोंके लिये मरें क्यों। जभी तो आज लीडरी और नामवरी दामन-चोली हो रही है जैसे।

मगर इस धरती पर कुछ ऐसे भी व्रती आये हैं जिनके साथ सेवा ही सेवा है मिछका-ढिंढोरा नहीं। ठक्कर बापाका भी एक ऐसाही अनूठा व्यक्तित्व था।

समाजके गंदे नाबदानमें रेंगते कीड़ोंको हौले-हौले उठाकर खुली हवा और खुली रोशनी में लानेके लिये उन्होंने क्या-क्या पहाड़ नहीं तोड़े—क्या-क्या मोर्चे नहीं लिये। वैसी निर्भीक अक्लान्त सेवा, वैसी बेलौस निःस्वार्थ सेवा—कोई इश्तहार नहीं, प्रचार नहीं–तो एक अचरज है अचरज। वह लगन, वह धुन कि अस्सीका सिन भी उस श्रमका दामन थाम न सका। आज उस व्रतीकी साधनाके सारे दास्तानको दुनिया जान पाती तो अपनी प्रेरणाओंमें नई जान पाती जैसे। 'अमृत' इस कामको करे यही मेरी कामना है।

श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला, सम्पादक—'हरिजन', वर्धा

हरिजनोंके हितके लिए मासिक पत्रिका निकालनेका संकल्प एक तरहसे योग्य मालूम होता है, क्योंकि स्वराज्य होने पर भी और कानूनी सब अनुकूलताएँ होते हुए भी लोगों की वृत्तिमें अभी संतोषकारक परिवर्तन नहीं हो रहा है।

श्रीमती लीलावती मुन्शी, बंबई —

बापा आज हमारे बीच नहीं रहे, पर आप सरीखे लोगोंकी सहायतासे, जो उनके जलाये मशालको आगे ले जानेको तत्पर हैं, उनका संदेश हमारे बीच गूंजता रहेगा।

श्री मीरा बहन, पिलखी, टेहरी गढ़वाल —

इस सुदूर हिमालयमें मुझे आपका पत्र मिला। लेख तो मैं लिखती नहीं, लेकिन 'अमृत' की विशेषताके कारण कुछ स्थिर हो लूँ तो लिखूँगी।

आचार्य जे० बी० कृपलानी, दिल्ली —

मानवताके लिए, और विशेषतः दलितों, पिछड़ावर्ग, हरिजन तथा आदिवासियों के लिए ठक्कर बापाका प्रेम अत्यधिक था। उनकी स्मृतिमें प्रकाशित आपके पत्रका शुभ चाहता हूँ।

सेन्ट निहाल सिंह, देहरादून —

मैं 'अमृत' की प्रस्तावित योजना पर आपको बधाई भेजता हूँ।

श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल, वर्धा —

आपके मासिक पत्र की सफलता चाहता हूँ।

सेठ गोविन्द दास, एम० पी० जब्बलपुर —

मैं 'अमृत' की सफलता की हृदयसे कामना करता हूँ।

श्रीकृष्णानंद गुप्त, सम्पादक, 'संगम', इलाहाबाद—

यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप ठक्कर बापा की पुण्य-स्मृतिमें 'अमृत' नामका एक मासिक पत्र निकालने जा रहे हैं।

श्री परिपूर्णानन्द वर्मा, कानपुर —

'अमृत' सचमुच अमृतका काम करे। आपकी पत्रिका हमको चरित्र की, सेवा की, लगनकी, पारस्परिक सचाईकी मर्यादा सिखावे, यही मेरी शुभकामना है।

श्री राधाकृष्ण, सम्पादक 'आदिवासी', राँची —

जिस महाप्राणने अपने अमृत-स्पर्शसे भारतकी करोड़ों सन्तानोंको जगाया, आत्म-विभोर हो उन्हें गलेसे लगाया, उनकी वाणीको ओज और विश्वास दिया, उन्हें कर्त्तव्यके मार्ग पर आगे बढ़ाया उन्हीं अमृतलाल ठक्करके पुनीत नाम पर यह पत्र उनकी स्मृतिके दीपको जलाये रखनेको निकला है। स्वागतम्।

श्री एन० आर० मलकानी, डायरेक्टर, पुनर्वास विभाग, राजस्थान —

'अमृत' जैसा समाज-कल्याण-संबंधी मासिक पत्र निकालनेके लिए बधाई।

श्री चन्द्रिका राम, एम० पी०, पटना —

हमें बापासे प्रकाश लेकर उनके पद-चिह्नों पर आगे बढ़ना है। 'अमृत' इस लक्ष्यकी प्राप्तिमें सफल हो, यही हमारी हार्दिक कामना है।

श्री परीक्षित लाल मजमुदार, साबरमती —

ठक्कर बापाके पवित्र नामको जोड़कर आप एक मासिक निकाल रहे हैं। मेरे खयालमें सारे भारतमें दूसरा किसीने यह नहीं सोचा। ठक्कर बापाने जो पवित्र प्रवृत्तियां की हैं उनके अनुसंधानके लिए मासिक चलानेका काम जिम्मेवारी का है। इसको सफल बनानेके लिए आपको परिश्रम करना होगा।

श्री श्यामलाल, कस्तूरबा ग्राम, इन्दौर —

ईश्वर आपको इस जिम्मेदारीके अनुरूप बनावें।

श्री पी० आर० रमैय्या, सभापति, हरिजन-सेवक-संघ, मैसूर —

'अमृत' के प्रकाशनका संकल्प सराहनीय है। इससे बिहारमें हरिजन आन्दोलन को प्रगति मिलेगी। बापा ईश्वर-रूप थे। मैसूर निवासी ठक्कर बापा की स्मृतिका आदर करते हैं। 'अमृत' नित्य ही बलशाली हो।

श्री श्यामाचरण दूबे, उसमानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद —

पूज्य ठक्कर बापाकी स्मृतिमें 'अमृत' का प्रकाशन अत्यन्त स्तुत्य है। इसके माध्यमसे हिन्दीमें समाज-सेवा-संबंधी उपयोगी साहित्यका निर्माण होगा, ऐसी आशा है। सफलताके लिये शुभकामना।

श्री बालकृष्ण गर्ग, अध्यक्ष, प्रा० कांग्रेस कमिटी, अजमेर —

दलित दुखी जनताकी समानरूपसे सेवा करने और समाजकी न्यूनताओंको दूर कर उसके अंगोंको सबल-सुन्दर बनानेके ध्येयमें प्रभु आपको सफलता दें।

श्री श्यामसुन्दर मिश्र, सदस्य भारत-सेवक-समाज, कटक —

मानव जातिके महान सेवक ठक्कर बापा की स्मृतिमें प्रकाशित 'अमृत' की मैं मंगल कामना करता हूँ।

श्री प्रियरञ्जन सेन, मन्त्री, बंगाल हरिजन-सेवक-संघ, कलकत्ता —

'अमृत' के लिए शुभ कामना।

श्री पी० एन० सक्सेना, चीफ प्रोबेशन आफिसर, लखनऊ —

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप 'अमृत' का प्रकाशन करने जा रहे हैं।

श्री बलवन्त सिंह, सीकर, राजस्थान --

आप शुभकार्यका आरंभ कर रहे हैं। ईश्वर आपका संकल्प पूर्ण करे।

श्री टी० प्रकाशम, मद्रास —

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि बिहार हरिजन सेवक संघने ऐसे समयमें समाज-सेवाका पत्र निकालनेका निश्चय किया है जब महात्मा गांधीके सच्चे अनुयायी देशका स्तर ऊँचा करने की कोशिशमें लगे हुए हैं।

श्री रामचन्द्र राव, सम्पादक 'संघम', विजयवाड़ा, मद्रास —

मैं आपको 'अमृत' के प्रकाशनके लिए बधाई देता हूँ – सचमुच ही यह नाम कई अर्थोंमें बेजोड़ है।

श्री सुरेशराम भाई, 'नया हिन्द'; इलाहाबाद —

आपका 'अमृत' हरिजन समस्यामें दिलचस्पी लेनेवालों और उसमें तंग तड़पने वालोंके लिए 'अमृत' की बूँदका काम करे। 'नया हिन्द' की तरफसे शुभकामना।

श्री महामाया प्रसाद सिंह, एम० पी०, पटना —

मैं इस पत्रके लिए अपनी हार्दिक शुभकामना भेजता हूँ।

श्री विशेश्वरनारायण, स्वतन्त्र-भारत, लखनऊ —

आप की पत्रिकाके लिए प्रोत्साहनके विशेष कारण हो सकते हैं, क्योंकि कोई उच्च कोटिकी सामाजिक पत्रिका हिन्दीमें नहीं है।

प्रो० जयगोविन्द राय, शांतिनिकेतन —

साधनाका मार्ग त्याग और तपस्यासे निकली हुई शान्ति की अपेक्षा रखता है। 'अमृत' इसी शान्ति की वर्षासे विश्वके गरलको शान्त करे।

श्री ब्रजकिशोर वर्मा, बहेड़ा, दरभंगा —

सागर-मंथन करने वाले श्रमिकोंको दानवका नाम देकर किसी दिन उन्हें अमृत पानेसे वंचित कर दिया गया था, किन्तु आज आप जन-जनके लिए 'अमृत' का आयोजन कर रहे हैं। यह 'अमृत' हमारे जन-जीवनको प्राणमय करता रहे।

मृत—
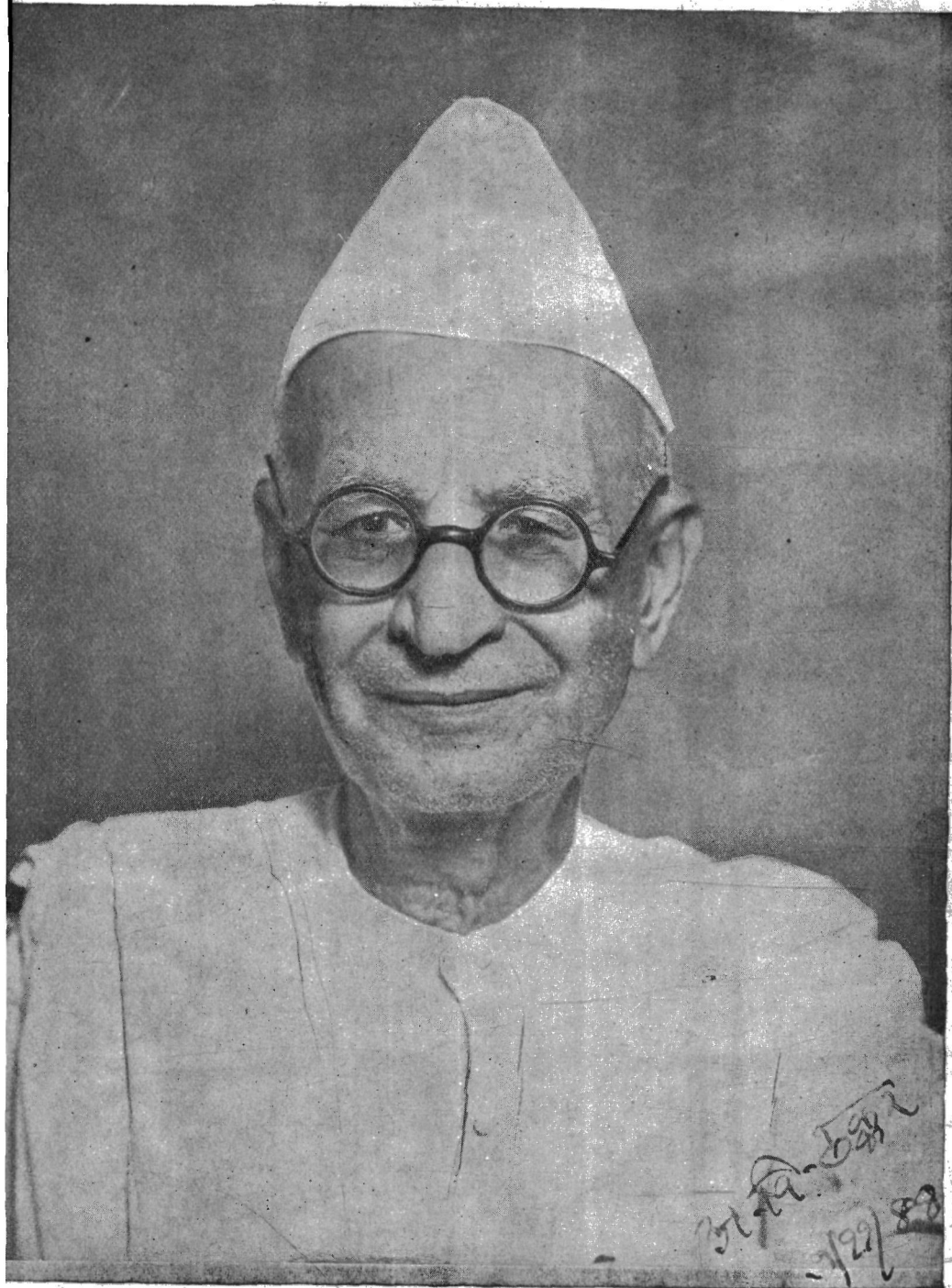
ठक्कर बापा

वर्ष एक

अंक एक

पटना, अगस्त १९५१

सम्पादकीय

'अमृत'

देवताओंका अमृत चाहे क्षीर-सागरसे भलेही निकला हो, पर यह जो हमारा-आपका 'अमृत' आज निकल रहा है, उसका उद्‌गम तो पटनेका मछुआटोली-डोमखाना ही है।

और यह डोमखाना चाहे क्षीर सागर न रहा हो, मंथन तो यहाँ भी हुआ ही। यह मंथन था हमारे हृदयका, क्योंकि बापा के श्राद्ध-दिवसके आयोजन में हम वहां इकट्ठे हुए थे।

सभापति थे बिहारके राज्यपाल महामहिम श्री माधव श्रीहरि अणे, जिन्होंने अपने अभिभाषणमें यह इच्छा प्रकट की कि मानव की निःस्वार्थ सेवाके लिए महात्मा गांधीकी विचारधाराके अन्तर्गत पूज्य ठक्कर बापा द्वारा प्रसारित प्रवृत्तियोंका प्रचार करनेके लिए बिहार हरिजन सेवक संघ एक पत्र निकालता।

और 'अमृत' का जन्म वहीं हुआ अमृतलाल विठ्ठलदास ठक्कर (बापा) के उसी प्रिय मछुआटोली-डोमखानेमें जहाँ जीवनमें बार-बार जाकर भी वे कभी नहीं थके।

'अमृत' के लालन-पालनका उत्तरदायित्व, उसके पनपने-निभनेकी कठिनाइयां, अपनी निजी रिक्तता – हमसे कुछ भी छिपी नहीं। लेकिन साथ ही हम यह भी जानते हैं कि मानवकी निःस्वार्थ सेवाका मार्ग, जिसपर चलकर ही विश्व-कल्याणकी कामना सफल हो सकती है, फूलोंसे नहीं, शूलोंसे भरा होता है।

'अमृत' किसी दलका दूत, न 'वाद' का प्रचारक; मुखिया, न पंच और न किसीका अभिभावक बनेगा। दीन-दुखियोंका यह साथी प्राणी-मात्रकी सेवामें सतत प्रयत्नशील रहकर ही अपने आपको सार्थक मान लेगा।

'अमृत' के पृष्ठोंमें हमारे दोषसे भूलोंका रह जाना स्वाभाविक है, लेकिन पत्रको उत्तरोत्तर उन्नत और उपादेय बनानेमें हम कोई परिश्रम उठा नहीं रखेंगे, इसका हम आपको विश्वास दिलाते हैं।

शिवपूजन सहाय

अमृत

जो विषका मार्जन करे वह अमृत है—जो विषके प्रभावका निवारण करे वही अमृत है। अमृतकी जाँचके लिए विष ही कसौटी है। "*सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच।*"

संसारमें नाना प्रकारके विष हैं और नाना प्रकारके अमृत भी। विष और अमृत घोलकर विधाताने संसार सिरजा। "जड़ चेतन गुनदोषमय बिस्व कीन्ह करतार।"

कहते हैं कि शरीरके अन्दर दाँतमें विष है, जीभमें अमृत; नखमें विष है, तलहथीमें अमृत; आँखमें विष है, आँसूमें अमृत। इसी प्रकार, कवियोंके मतानुसार, कामिनीके कटाक्षोंमें विष है, अधरोंमें अमृत। माता-पिताके लिए बच्चेकी मुस्कानमें अमृत है, प्रेमीके लिए प्रेयसीके दृष्टिदानमें। कुछ ठीक कहा नहीं जा सकता कि कहाँ-कहाँ विष है—कहाँ-कहाँ अमृत। ऐसा भी हो सकता है कि जो एकके लिए अमृत हो वह दूसरेके लिए विष—वृद्धस्य तरुणी विषम्।

मनुष्यके जीवनमें अमृत है सत्य मधुर वाणी, पृथ्वीका अमृत है गायका दूध। साहित्यमें अमृत है हितकर भाव-विचार, समाजमें अमृत है सत्संग। अन्नोंमें अमृत चना, फलोंमें अमृत आम, फूलोंमें अमृत कमल। विद्याओंमें अमृत है संगीत, ललित कलाओंमें अमृत है काव्य। लौकिक व्यवहारमें अमृत है प्रेम, आध्यात्मिक जगत्में अमृत है मनःसंयम। मननशीलोंके लिए अमृत है स्वाध्याय, जिज्ञासुओंके लिए अमृत है ज्ञान। किसी के लिए चाटुकारिता अमृत है, किसीके लिए स्वाभिमान। इस प्रकार अमृत सर्वत्र व्यापक है। उसे देखनेके लिए पैनी दृष्टि चाहिए।

अमृतकी छानबीन करते समय विषकी परख स्वतः हो जाती है। अमृत और विषका अन्तर जिसको ज्ञात हो जाय, उसका जीवन सुखशान्तिमय और सफल हो सकता है। किन्तु इनकी पहचान अत्यन्त कठिन है। गोस्वामी तुलसी

(शेष पृष्ठ ८ पर)

वियोगी हरि

ऐसा पत्र हो 'अमृत'

कोई तीन महीने पहले बिहार हरिजन सेवक संघ के मन्त्री मेरे मित्र श्री नगीना बाबू ने जब मुझे लिखा कि वे पूज्य ठक्कर बापा की पुण्य-स्मृति में एक पत्र पटना से निकालने की बात सोच रहे हैं, तब मैंने उन्हें थोड़ा निरुत्साहित सा किया। कुछ कारण भी मैंने दिये। मेरे मन में कई विचार आये। मेरा मत बन गया है कि पत्र-पत्रिकायें तभी निकालनी चाहिये, जब उनके द्वारा जनता को देने के लिये कुछ अधिकृत और सुलझे हुए सद्विचार हमारे पास हों; ऐसे विचार, जिनसे लोगों का हित होता हो, और जिनको उन तक न पहुंचाने से उनकी हानि होने की संभावना हो; साथ ही, जिन विचारों के सहारे, बिना विज्ञापन लिये ही, पत्र या पत्रिका स्वावलम्बी भी हो सके—अर्थात् जिन हितकर विचारों को अपना समय और पैसा देकर अपनाने के लिये लोग खुशी से तैयार हों।

ऐसा मत बनने में गांधीजी की विचारधारा का मेरे मन पर प्रभाव पड़ा है।

उस समय कितने ही अखबारों और मासिक पत्रिकाओं पर मेरा ध्यान गया—जिनके पन्ने झूठ-सच और सनसनीदार समाचारों से रंगे हुये, भद्दी कहानियों और कविताओं से भरे हुये होते हैं। अस्थिर राजनीतिक पार्टियों के अखबारों की बात मैं नहीं कहता हूं, क्योंकि वे तो स्पष्ट ही अमुक उद्देश्यों के प्रचार की दृष्टि से निकाले जाते हैं। ऐसे अखबारों का कोई अपना जीवन नहीं होता है, वे तो उन दलों के अमुक विचारों पर निर्भर करते हैं, जिनसे उन्हें पोषण मिलता है। मगर जिन पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन समाज, साहित्य और संस्कृति के संशोधन और संवर्द्धन के उद्देश्य को लेकर होता है, उनके महान् दायित्व पर जब दृष्टि जाती है तब उनके विषय में एक बार नहीं, सौ बार सोचना पड़ता है।

इसीलिये, जब पूज्य बापा की पुण्य-स्मृति में और उनके नाम पर "अमृत" पत्र प्रकाशित करने का विचार सामने आया, तब कुछ हिचकिचाहट के साथ मैंने अपनी सहमति दी। बापा यद्यपि ढेर-के ढेर अखबार पढ़ने, और बाद में तो आँखों की ज्योति चले जाने पर दूसरों से पढ़वाकर सुनने में बहुत दिल-चस्पी रखते थे, तो भी हरिजन सेवक संघ की ओर से पत्र निकालने के वे पक्षपाती नहीं थे। एक मामूली सा मासिक-पर्चा, जिसमें

काम की कुछ खबरें रहती थीं. संध से, वह भी बहुत पीछे, निकालने लगे थे, और वह आज भी छपता है। गांधीजी के इन शब्दों में उनको पूरा विश्वास था कि "यदि हमारा सेवाकार्य सच्चा होगा, हमारा सार्वजनिक जीवन शुद्ध होगा तो उसका प्रचार तो अपने आप हो जायगा।" फूल की सुगंध चारों ओर न फैले यह कैसे हो सकता है?

पर जब श्री नगीना बाबू ने मुझसे खोलकर कहा कि ठक्कर बापा को जो जो सेवाकार्य प्रिय थे, उन्ही सब प्रवृत्तियों और विचारों का उल्लेख "अमृत" में रहेगा तब मुझे कुछ समाधान हुआ।

ऐसा कुछ उलटा प्रवाह वह रहा है कि आचार बहुत कम देखनेमें आता है, विचार उससे कहीं अधिक और प्रचार तो उससे भी बहुत अधिक। बिना आचार का विचार संभवतः भयावह हो सकता है और आचारहीन विचार का प्रचार तो और भी अधिक भयावह होता है। इसलिये गांधीजी और ठक्कर बापा ऐसे प्रचार और उसके विविध साधनों से सदा दूर ही रहे।

तब मेरे मन में "अमृत" पत्र का कुछ-कुछ ऐसा चित्र होना चाहिये कि वह समाज-सेवक कार्यकर्त्ताओंका पत्र होगा जिसमें उनके कार्यों, उनके विचारों और अनुभवों का विवरण तथा विश्लेषण रहेगा — जिसमें उनकी आपबीती कहानियाँ, और उनके कार्यक्षेत्रों की विविध शक्तियाँ होंगी।

बिहार राज्य में परिगणित एवं आदिम-जाति दोनों का ही विशाल सेवा-क्षेत्र पड़ा है। मुसहरों, बावरियों तथा डोमों का प्रश्न भयंकर रूप में वहाँ खड़ा है। भूमि को जोतनेवालों के पास भूमि का छोटे से छोटा टुकड़ा भी नहीं। उनके पास न अन्न है, न वस्त्र। कितनी ही जगह तो उनकी अपनी झोपड़ियाँ तक नहीं। समाज में जैसे उनका कोई अपना स्थान ही नहीं। दुर्भाग्य से, उनके बीच में निःस्वार्थ भावना से काम करनेवाले सेवकों का भी आज प्रायः अभाव-सा है। मिशनरी भावना से काम करनेवाले सेवक ढूँढ़ने से भी नहीं मिल रहे हैं। जिसे भी देखिये, मोहिनी राजनीति की ओर खिंचता चला जा रहा है। ऐसे लोक सेवक कहाँ से लाये जायें जो इन पीड़ितों और उपेक्षितों के सेवा-कार्य में अपने आप को समर्पित कर दें, खपा दें? अन्न का अकाल तो किसी तरह कुछ समय में सरकार और जनता के प्रयत्नों से दूर हो जायेगा, पर लोक सेवकों का यह भयंकर अकाल कब और कैसे दूर होगा?

यदि इस अंधकारमयी दिशा में "अमृत" ने और उसके संचालकों ने मर-खपकर कुछ भी जीवन ज्योति जगायी, तो उसका जन्म और उसका जीवन सफल होगा—अमृत पथ के अमर यात्री अमृतलाल ठक्कर, हमारे पूज्य बापा के पवित्र नाम को वह सार्थक भी करेगा।

मेरी कामना है कि ऐसा ही हो।

जगलाल चौधरी

मानव-धर्म और समाज

समाजका अर्थ है, जो साथ-साथ चले अर्थात जिन जिन लोगोंका स्वार्थ एक हो, जो अपने जीवन-निर्वाहके लिये एक उपाय का अवलम्बन करें। जिनका हित एक हो, ऐसे सभी लोग एक समाजके होंगे। उपरोक्त दृष्टिसे देखने पर हम जिस मानव-समाजकी चर्चा करते हैं, वह वास्तवमें एक मानव-समाज नहीं। इस समाजमें सबके हित एक से नहीं दीख पड़ते, सबकी अपनी-अपनी खिचड़ी अलग-अलग पकती है। आज एक राष्ट्र दूसरेसे लड़ता है; दोनोंके हितोंमें विरोध प्रायः रहता ही है। पुनः एक ही राष्ट्रके अन्दर पूँजीपति तथा मजदूर, किसान तथा जमीन्दार, महाजन तथा खदुक आदिके स्वार्थोंमें विरोध होनेके कारण इन सबके अलग-अलग समाज हैं। हम फिर भी मानव-समाजकी दुहाई देते हैं। क्यों? शायद इसलिये कि इन विरोधी हितोंका सामंजस्य कर हम एक साथ चल सकें। किन्तु मनुष्यने आजतक इस सामंजस्य-स्थापनाका प्रयास भर किया, सफलता तो अभी तक नहीं मिली। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की!' इसका कारण? हमने आज तक इसका कारण खोजनेका प्रयास नहीं किया। लक्षण देखकर रोग की दवा की। फल भी वैसा ही मिलता गया।

आखिर मनुष्य है क्या? वही साधारण प्राणी—सृष्टिका प्रथम जीव "एमीबा" (Amoeba) जिन मूल प्रवृत्तियों के साथ पैदा हुआ, आज इस २० वीं सदीके मानव में भी वे ही मूल प्रवृत्तियाँ हैं - प्राण-रक्षा करनेकी, स्वजाति-वृद्धि करनेकी, स्वार्थ-साधना की, शक्ति-प्राप्ति की। यह ठीक है कि मनुष्यने इन मूल प्रवृत्तियोंका विकास एक विशिष्ट तरीकेसे किया है, मस्तिष्कने उसकी सहायता की है इस विकास-पद्धति में। मूलमें मनुष्य भी अन्य प्राणियोंकी तरह ही केवल स्वार्थी है, और सबसे बढ़कर विकास पा जानेके कारण सब प्राणियोंसे बढ़कर स्वार्थी। इस दृष्टिसे देखने पर मनुष्य और पशुमें कोई खास अन्तर नहीं दीख पड़ता। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि अन्य पशुओं की अपेक्षा मनुष्यको स्वार्थ-साधनकी वृत्ति कहीं प्रबल और पद्धति कहीं अधिक धूर्ततापूर्ण है।

किन्तु, मनुष्यमें एक ऐसी भी शक्ति है जो औरोंको नसीब नहीं—वह है आत्म-दर्शन की, अध्यात्म-साधन की। "हम क्या हैं और दूसरोंके साथ हमारा क्या संबंध है"—इसकी कल्पना करनेवाले मनीषी इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। जिनके हृदय-मुकुर विशाल और निर्मल हैं, वे अपनी आत्माके अन्दर ही सारे विश्वको देख सकते हैं। वे अपने और परायेके भेदाभेदकी संकीर्णतासे उठे रहते हैं, दूसरोंके सुख-दुःख

का अनुभव करना उनका सहज गुण हो जाता है।

जब तक मनुष्य की यह आध्यात्मिक शक्ति विकसित नहीं होती, जब तक मनुष्य इस शक्ति की उपासना उसी तन्मयतासे नहीं करता जिस तन्मयतासे वह पार्थिव शक्तियों की उपासना करता आया है, तब तक मनुष्य अपनेको अन्य प्राणियोंसे विशेष ऊँचा नहीं उठा सकता। वह अपने मस्तिष्क की सहायतासे प्रकृतिके गूढ़तम रहस्योंका पता भले ही प्राप्त कर ले; पर वह अपने पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। वह इन शक्तियोंका उपयोग कर विशाल विश्व की दूरी भले ही घटा दे, पर वह मनुष्य और मनुष्यके बीच की दूरी बढ़ाता ही जायगा। सारी दुनियाको देखनेकी दिव्य दृष्टि उसे भले ही प्राप्त हो जाय, पर अपने हृदय तक उसकी दृष्टि नहीं पहुँच सकती। वह विश्वके एक छोरसे दूसरे छोर तक की आवाज घर बैठे भले ही सुन ले, पर अपने हृदयकी आवाज उसे सुनाई नहीं पड़ सकती।

पर दुःख तो इस बातका है कि दुनिया पार्थिव सुख और साधन की प्राप्ति के लिये उतावली दीख पड़ती है और उसके सारे प्रयास भयंकर पार्थिवताके लिये ही हो रहे हैं। फलतः दुनियाका एक गिरोह, आज भी, इस परमाणु-युगमें भी, दाने-दानेको तरसता और चिथड़ोंमें अपनी लज्जा छिपानेका विफल प्रयास करता है; और दूसरा गिरोह उन्हींकी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाता है। लहू को पसीना बनाकर समाजके लिये भोजन, वस्त्र तथा अन्य सभी सुखके साधन जुटाने वाला आज जीवनकी परम आवश्यक सामग्री के लिये भी मुहताज है। साथ ही, निठल्ले बैठे लोगों की धन-राशि विन्ध्याचलके समान और उनकी धनलिप्सा सुरसाके मुँहकी तरह बढ़ती चली जा रही है। यह परिस्थिति आयी कैसे? यह तो एक लम्बा इतिहास है, पर एक शब्दमें यह 'निर्बलों पर कुछ ताकतवरोंके सीधे-सादे लोगों पर कुछ धूर्तोंके—आधिपत्यका फल मात्र है।' इनलोगों ने इस नग्न स्वार्थ पर आवरण डालनेके लिये बहुत से कुत्सित सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है। इनके सिद्धान्तोंकी जड़, समाज के हृदयमें, इतनी गहराई तक पहुँच चुकी है कि आज हम अन्यायको न्याय, असमानता को समानता और डाकेजनीको मिहनतकी कमाई समझते हैं। हम आज सभी मनुष्यों को बराबर नहीं मानते। हम जमीन्दारों तथा पूँजीपतियोंको बिना मुआवजा दिये उनके धनका समाज-सेवाके लिये उपयोग करनेकी बातको अनुचित समझते हैं। अपने लुटे मालको वापस लेनेमें उसका मूल्य देना आवश्यक समझते हैं! इन दुष्ट सिद्धान्तों की आड़में हम मनुष्यको अछूत मानते हैं तथा उन्हें मानवके मूल अधिकारोंसे वंचित रखते हैं। इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन कैसे होता है? जैसा कि मैंने कहा, अपनी पशुवृत्तिको, स्वार्थको, छिपानेके लिये मानव-मस्तिष्ककी यह उपज मात्र है। इन सिद्धान्तों से मानव-समाजका उपकार क्या हुआ, यह तो हमें पता नहीं; पर भारतका इतिहास इसका साक्षी है कि भारतके पतनका यह एक-मात्र कारण हुआ है।

फिर भी मानवकी उदात्त वृत्तियाँ कभी बिल्कुल लुप्त नहीं हो सकीं। इस जघन्य विषमताके विरुद्ध आवाज उठती रही। विश्व-विभूतियोंने, साधकों और तपस्वियोंने, सुधारकों और समाज-सेवियोंने, समय समय पर, अपने आचरण द्वारा, इसका विरोध किया है। समाजकी विशिष्ट चेतना इन महापुरुषोंकी वाणीमें मुखरित हो उठी। पतनकी ओर तीव्र गतिसे बढ़ता समाज कुछ

देरके लिये ठिठक-सा गया– पतनोन्मुखी गतिमें कुछ धीमापन आ गया। सदियों के गुलाम भारतको स्वतंत्र करनेका अन्तिम प्रयास करनेवाले महापुरुष, विश्व की अमर विभूति, बापूने भारतीय समाजके कोढ़को देखा, इसकी भीषणता समझी। मानव के अमानुषिक आचरणके प्रति विद्रोह किया उन्होंने—अपने प्राणोंकी आहुति देकर। वाह्य रूपसे भारत स्वतंत्र भी हो गया, पर इसके हृदयकी कालिमा अभी भी धुली नहीं, हरिजनोंकी हालत आज भी सुधरी नहीं, वे आज भी अछूत हैं, पददलित हैं, लांछित अपमानित हैं।

इस कलंकको धोनेका प्रयास हो रहा है, विभिन्न संगठनों द्वारा और सरकार तथा व्यक्तियों द्वारा। पर इस प्रयासके पीछे जो भावनाएँ काम कर रही हैं, वे प्रायः सदोष हैं। इस प्रकारके प्रयासके दो रूप हो सकते हैं। एक सेवा द्वारा उन यातनाओंको कम करनेका और दूसरा क्रांति द्वारा समाजकी पद्धति और विचारधारा ही पलट देनेका। इनमेंसे कौन-सी पद्धति ग्राह्य तथा उपयुक्त है, यह विचारणीय विषय है।

जब हम किसी समाज या व्यक्तिकी सेवा की बात करते है, तो साधारणतः सेवकमें अहं-भावनाका उदय होता है तथा सेव्यमें दीन-भावना का। यही बात दानी और भिक्षुकके हृदयमें उठा करती है। यही कारण है कि बापूने हरिजन-सेवाको प्रायश्चित्तका रूप दिया था, जिससे सवर्णों के हृदयमें यह भाव उत्पन्न हो कि वे अपने भाईके प्रति सदियोंसे किये गये अन्यायका उचित परिमार्जन कर रहे हैं, किसी दूसरेका उपकार नहीं। इस प्रकार उनकी आत्म-शुद्धि होती है और अहं-भावनाका नाश। साथ ही, हरिजनोंके बीच दीनता की भावना नहीं पनपने पाती। हरिजन तथा अन्य पिछड़े समाजके कल्याणका कार्य इसी भावनासे होना चाहिये, अन्यथा इसका परिणाम समाजके लिये मंगलकारी न होकर हानिकर होगा, दोनों वर्गके लोगोंकी मनोदशा की वर्तमान विकृति इतनी बढ़ जायेगी कि पुनः इस दोषको हटाना एक ऐसा भीषण प्रश्न बन जायेगा, जिसे हल करनेमें महान् बलिदान की आवश्यकता पड़ेगी।

अगर ऐसी सेवा सम्भव न हो तो मैं उस क्रांतिको ही ज्यादा पसन्द करूँगा, उस विप्लव को ही अधिक उपयुक्त मानूँगा, जो बुराई के साथ-साथ समाजकी संचित भलाईका भी समूल नाश कर देता है और कर देता है प्राचीन समाजके भस्म पर नवीन समाजकी रचना। अगर पश्चात्तापके आँसूसे हमने दलितोंके अन्तस्थलमें जलती भीषण ज्वाला का शमन नहीं किया, तो हमें भस्म होना ही है, और हम उसकी कामना भी करेंगे।

इन अभागोंकी समस्याएँ चाहे जो हों, पर उनका हल किस भावनासे हो, यह एक बहुत महत्वपूर्ण विषय है। इस प्रयासमें उदात्त वृत्ति न होकर अगर संकीर्ण वृत्ति की ही प्रधानता रही, तो हम मानव-समाजके सृजनमें सहायक नहीं हो सकते। बापूने इस दिशामें सही कदम उठाया था, पर आज

वे नहीं हैं। हमारे 'बापा' भी हमसे छिन गये। इन्होंने विशुद्ध और पवित्र सेवाका दीप जलाया। जो विशुद्ध सेवाको ही अपने जीवनका लक्ष्य बना लेता है, वह सचमुच उत्कृष्ट मानवधर्मका सच्चा पुजारी है। अपने तथा अपने स्वार्थके लियेही जीना मानव-धर्म नहीं। मनुष्य इसलिये मनुष्य है कि वह अपने साथ अपने समाज, अपने पड़ोसी के हित-अहितकी चिन्ता करता है और समय पड़ने पर समाज-सेवाकी वेदी पर अपने स्वार्थोंकी आहुति दे डालता है, समाज-स्वार्थ के सामने व्यक्ति-स्वार्थकी अवहेलना करता है, समीपस्थ तथा नग्न स्वार्थको त्याग कर सुदूर और विशिष्ट स्वार्थकी चिन्ता करता है। यही विवेकशीलता मनुष्यको और प्राणियोंसे अलग करता तथा उनसे ऊँचा बनाये रखता है। मानवकी उत्कृष्टता, उसके त्याग और विशुद्ध सेवा-वृत्तिमें ही निखरती है। हमें इसी मानव-धर्मकी उपासना करनी है, और सुन्दर समाजका सृजन करना है।

(पृष्ठ २ के आगे)

दासजी ने अखिल ब्रह्माण्डमें राम-नामको ही अमृत माना है। पुराण कहते हैं कि समुद्र-मंथन से अमृत निकला था। तुलसीदासजी ने भवसागरको मथकर राम-नाम-रूपी अमृत निकाला। उन्होंने 'रामचरितमानस' में अंकित भी कर दिया कि सदा राम-नामका अमृत पीने वाले पुण्यात्मा धन्य हैं—"धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्।" तुलसीके इस अमृतको महात्मा गान्धीने खूब पहचाना। आजकी दुनिया इस अत्यंत सुलभ अमृतको नहीं पहचानती—नहीं पहचानना चाहती। फलस्वरूप हर तरफ विष बिखरा फिरता है।

हमारे ठक्कर बापा नेताओंमें अमृत थे। समाजका विष उन्होंने पचाया। देवताओंमें अमृत भगवान शङ्कर हैं, तभी वे हालाहल पचा सके। जो अमृतमय नहीं है, वह विष नहीं पचा सकता। किसी शुभ मुहूर्त्तमें ठक्कर बापाका नाम-करण हुआ होगा, तभी उनका नाम अक्षरशः सार्थक हुआ। उनके अमृतत्व को अथवा उनमें स्थित अमृत-तत्त्वको बापूने पहचाना।

अमृत बापाके स्मारक-रूपमें प्रकाशित यह 'अमृत' यदि सामाजिक विषको दूर कर सका, तो इसका जन्म और जीवन सफल हो जायगा। परमात्मासे प्रार्थना है कि इसका लक्ष्य सिद्ध हो।

परीक्षितलाल मजमुदार

बापा के अन्तिम क्षण

मेरा श्री ठक्कर बापाके साथका संबंध सन् १६२१ से था। 'दोहद भील सेवा मंडल' के कार्य देखने मैं जा रहा था और बापा एक बैलगाड़ी में बैठ कर मीराखेज देहातके 'भील-आश्रम' से बाहर निकल रहे थे। उस समय मुझे ख्याल भी नहीं था कि इस तपस्वी पुरुषसे मेरा संबन्ध होना संभव था।

सन् १६२३ में मैंने अन्त्यज सेवा मंडलका सदस्य होकर २० साल तक हरिजन सेवाका व्रत लिया। तबसे ही बापा के साथ मेरा घनिष्ठ संबन्ध हुआ। और तबसेही जैसे कोई पिता अपने बच्चोंको संभाल कर आगे ले जानेकी कोशिश करता है वैसा प्रयत्न ठक्कर बापाने मेरे लिए किया और मुझे एहसानमंद बनाया।

सन् १६२८ में गुजरातमें अतिवृष्टि के कारण भारी जलसंकट हुआ। बापा ने दिन रात काम करके देहातियोंको बहुत मदद दी। सौभाग्यसे उन दिनों मैं उन्हींके साथ काम करता था। सारा दिन भारी काम लेकर बापा एक शब्दसे सारी थकान निकाल देते थे।

जब बापाका देहान्त नजदीक था तो उन्होंने मुझको खत भेजा कि थोड़े दिन आरामके लिए तुम्हें भावनगर मेरे पास आना चाहिए। मैं काममें लगा हुआ था इसलिए जानेमें कुछ देर कर रहा था।

पर एक सन्मित्रने जो बापासे मिलकर आये थे मुझे सलाह दी कि मुझे फौरन ही वहाँ जाना चाहिए।

जनवरी १६ की सुबहमें मैं वहाँ पहुंच गया और सोये हुए बापाके पास जाकर बैठा। गद्गद् होकर उन्होंने कहा—तुम आये इससे मुझे बहुत आनन्द हुआ। मैं तुमसे मिलनेकी इन्तजारी में था। अब मैं इस दुनियाँ में थोड़े दिनका मेहमान हूं।

फिर हम दोनों चुप रहे।

दूसरे दिन बापा जरा ठीक लगे और मुझसे कहने लगे—अब तुमको लौटना चाहिए, तुम्हारे पास बहुत काम है।

लेकिन बापाके कुटुम्बी जनोंने मेरी सिफारिशकी और मुझको दो

(शेष पृष्ठ १२ में)

चन्द्रिका राम

बापा की स्मृति में

अक्टूबर सन् १६३२ में पूज्य बापाका प्रथम दर्शन मुझे छपराकी एक महती सभामें हुआ। सभाकी सदारत डा० भगवान दास कर रहे थे और प्रधान वक्ताओंमें थे श्रीदेवदास गांधी और श्रीजगजीवन राम। श्रीविन्ध्येश्वरी प्रसाद वर्मा—बिन्दा बाबू—के साथ मैं बापासे पहली बार मिला। प्रथम-परिचयके बादसे बापाके मरनेके समय तक, उनके सम्पर्कमें रहने और उनकी कार्य-शैलीको नजदीकसे देखनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उनकी अनुशासन-प्रियता, समयकी पाबन्दी, सीमाके अन्दर रहने-रखनेकी क्षमता और सत्य तथा न्याय पर अडिग डटे रहनेकी अपार शक्तिने बहुतेरे साथियों को इस लायक नहीं रखा कि वह उनके साथ काफी देर तक, काफी दूर तक, काम कर सकें। ऐसा कुछ होते हुये भी नौजवान उनकी कार्य-दक्षता और क्षमताका लोहा मानते थे।

जनताके पैसेको किस मितव्ययिता के साथ खर्च किया जाय बापा इसके ज्वलंत उदाहरण थे। सन् १६३६-४० में जब बापा पटनाके थियोसोफिकल होस्टलमें निरीक्षणके लिये आये तो सम्मानार्थ हम लोगोंने मान-पत्र अर्पित किया। जब उन्हें पता चला कि मान-पत्रके सिलसिलेमें १७)—१८) रु० खर्च हुये तो बापाने गंभीर-मुद्रामें मुझसे कहा—'अगर तुम फिर कभी इस तरह का खर्च करोगे तो मैं तुम्हारी सभाओं में कभी नहीं आऊँगा।' इसी प्रकार एक बार जब बहुत थोड़ी-सी बात एक पत्रमें लिखकर मैंने उसे डाक लिफाफा में भेजा तो उनका जवाब आया कि जिस बातके लिये सिर्फ दो पैसेमें काम चल सके, चार पैसे खर्च करने को क्या जरूरत।

उन दिनों पोस्टकार्ड दो पैसेमें और लिफाफा चार पैसेको मिलते थे।

बापा देशके जन-सेवकोंमें अग्रणी थे। दीन-हीन-उपेक्षित वर्गोंकी सेवामें वह उस समय जुटे जब ऐसे लोग सेवा-कार्यका मूल्य भी नहीं समझते थे। यह वह समय था जब गान्धीजी अफ्रीकासे स्वदेशका काम सम्हालने आये भी नहीं थे। आगे चलकर

गान्धीजीने देशके इस तरहके तमाम कामोंकी जिम्मेदारी बापाके कन्धों पर रख दी और इस तरह उन्हें पददलित अन्त्यज, गिरी हुई और भारतके जंगलोंमें बसी हुई वन्य-जातियोंकी सेवामें समर्पित कर दिया। बापा बुनियादी तौर पर इस काममें विश्वास रखते थे। उन्होंने जिस खूबीसे सबकुछ किया उससे देशकी अमर-विभूतियोंमें वह गिने जाने लगे।

बापा गिरी हुई मानवताके सेवक थे। वे गरीबोंके आदमी थे। उन्होंने अपने जीवनका सारा समय हरिजनों, आदिवासियों और अन्य पीड़ित वर्गों की सेवामें लगा दिया। इतना ही नहीं, उन्हें बड़े-छोटे, ऊँच-नीच, हरिजन-गैरहरिजन और धनी-गरीबका खयाल नहीं था—खयाल था तो यह कि कौन व्यक्ति कहाँ पर किस तरहकी तकलीफ और आपदाओंमें घिरा हुआ है। चाहे उड़ीसामें बाढ़ हो, गुजरातमें अकाल हो, आसाममें भूकम्प या बंगालमें बवंडर, बापा अपने सारे साधनोंके साथ पीड़ितोंकी सेवामें दौड़ पड़ते थे।

बापाको विहारसे दिलचस्पी थी। छोटानागपुरके आदिवासियों और उत्तर बिहारके मुसहरोंसे उन्हें विशेष प्रेम था। उनकी उन्नतिके लिये उन्होंने योजनाएँ बनाईं और उन योजनाओं को क्रियात्मक रूप दिया। उनकी अथक चेष्टाओंके फल-स्वरूप इन लोगोंकी हालतमें इधर कुछ अंश तक सुधार हुआ भी है। बापा जब कभी पत्र लिखते थे बराबर हमलोगोंको मुसहर भाइयोंकी याद दिलाते थे। उनकी चेष्टासे उनकी मृत्युसे कुछ दिन ही पहले 'बिहार मुसहर सेवा मंडल' कायम हुआ। आदिवासियोंके लिये उनके प्रयत्नोंसे ही 'आदिम जाति सेवा मंडल' स्थापित हुआ जिसका संरक्षण आज भी राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद कर रहे हैं।

बापाका नाम बिहारके हरिजन कभी भूल नहीं सकते। यह उनके जातीय उत्थानके इतिहास में सदा आदरसे अंकित रहेगा। न यही भूला जा सकेगा कि जर्जर वृद्धावस्थामें उन्होंने 'बिहार हरिजन जाँच समिति' की सदारत स्वीकारकी। सरकार और जनताका सहयोग प्राप्त हो तो उनकी बनाई पंच-वर्षीय योजना द्वारा हरिजनों की आर्थिक, सामाजिक, नैतिक एवं शिक्षण समस्याएँ बहुत हद तक हल हो जायँगी।

बापाका सबसे अच्छा स्मारक उनके सिद्धान्तोंका पालन करना ही हो सकता है। उनकी प्रिय संस्थाओं—हरिजन सेवक संघ, आदिम जाति सेवा-मंडल, भील सेवा-मंडल, मुसहर सेवा-मंडल इत्यादिका सफलता पूर्वक चलाया जाना भी उनका स्मारक ही

होगा। पर कोष-संग्रहका काम भी गौण नहीं है। इससे हमें अपनी लक्ष्य-सिद्धिमें अनेक तरहसे सहायता मिलेगी। कोषके लिये जमा किये जाने वाले रुपयेका मूल्य इसमें नहीं है कि कोई एक आदमी खासी मोटी रकम इसमें दे दे। अच्छा तो हो कि काँग्रेसके अध्यक्ष एवं देशके गण्यमान्य नेताओंने जिस १० लाख रुपयेकी अपील बापाके स्मारक कोषके लिये निकाली है वह अधिक-से-अधिक आदमियोंके द्वारा छोटी-से-छोटी रकमोंसे जल्द पूरी हो जाय।

बापाका भौतिक शरीर इस संसारमें नहीं रहा, लेकिन उनका नाम अमर रहेगा। उनका आदर्श, उनकी सेवा-भावना, उनकी उदार-हृदयता और उनकी कर्त्तव्य-निष्ठा से सबक लेकर, उनके पद-चिह्नों पर चलकर, हम पद-दलित मानवता की सेवा करते चलें। अगर गुलाम हिन्दुस्तानको ठक्कर बापा और उनकी संस्थाओंकी जरूरत थी, तो स्वतंत्र भारत को इन संस्थाओं की और उनके जैसे कर्मठ, त्यागी और तपस्वी जन-सेवकों की और भी जरूरत है।

(पृष्ठ ६ के आगे)

दिन और ठहरनेकी इजाज़त मिली। फिर तो बापाकी तबीयत बिगड़ती चली और हम लोग रात-दिन उनके पास बैठते रहे।

१६ जनवरीका दिन बापाने शारीरिक कष्टसे निकाला। करीब शामको आठ बजे हमलोगोंने बापा के साथ प्रार्थनाकी। बापा बराबर प्रार्थना सुनते रहे। एकाध चरण दुहराया भी। फिर पेशाब करनेके लिए तैयार हुए। पेशाब करके वे उठ नहीं सके। हमने उनको पकड़ कर फिर बिस्तर पर लिटा दिया।

बापा मुंह दीवारकी ओर करके सो गये, मानों अब दुनियाँ के साथ कुछ संबंध ही नहीं है। दो मिनट बाद ही पता चला कि शरीरसे आत्मा निकल चुकी है।

धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

हरि-जन

पाश्चात्य और प्राच्य विचारकों ने विश्व और ब्रह्मकी कल्पना की है। सामान्य शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि जिसे ब्रह्मका दर्शन करना हो एक ओर तो उसे विराट् प्रकृतिकी ओर अपनी आँखें दौड़ानी होंगी और दूसरी ओर व्यापक मानवताकी तरफ। जब हम मानवताका सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं तो उसमें हमें प्राय: दो प्रमुख स्तर या वर्ग दीख पड़ते हैं—ऊंच एवं नीच, शोषक एवं शोषित, सुखी एवं दु:खी, निरोग एवं रोगग्रस्त, सभ्य एवं असभ्य, बुद्धिजीवी एवं बाहुजीवी इत्यादि। ये दोनों वर्ग या स्तर प्राय: एक दूसरेसे वैषम्य भाव बरतते हैं। विचारकके लिए अब यह समस्या होती है कि किनमें वह ब्रह्मका निवास समझे, किनमें उनका साक्षात्कार करे। यों तो ब्रह्म की सत्ता ऊँच और नीच वर्गोंमें व्यापक रूपसे है तथापि यह सत्ता निम्न और दलितवर्गोंमें जितनी स्पष्ट है उतनी अन्योंमें नहीं। लोक-भाषा के पुराने कवियोंने 'हरिजन' शब्दका प्रयोग 'हरि' के 'भक्त' के रूपमें किया है। महात्मा गाँधीको वह शब्द इतना जंचा कि इसका प्रयोग उन्होंने समाजके शोषित एवं दलित वर्गोंके लिए किया। संभवत: इसकी व्याख्या यों होगी कि दलित वर्गका होना और भगवानका भक्त होना ये दोनों पर्यायवाची हैं। औरों को 'हरि' का 'जन' बननेके लिए विशेष पूजा पाठ और सामग्रीकी आवश्यकता हो सकती है, किन्तु इस समस्त सामग्री के बिना ही हरिजन 'हरि-जन' हैं।

कवीन्द्र रवीन्द्रने गीतांजलिमें एक पंक्ति लिखी है। उसका आशय यह है कि भगवानका सिर अनन्त आकाश को भले ही चूमता हो, किन्तु उसका पैर निम्नस्थल पाताल लोक पर ही टिका है। पाताल-लोकसे अभिप्राय समाजके निम्न, दलित एवं शोषित वर्गसे है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मनुष्य अपने पैरोंके बल खड़ा रहता है और यदि उसके पैर काट दिये जायं तो वह धराशायी हो जाता है; उसी तरह हमारे समाज की आधार शिला है—वह जनता जो सदियोंसे उपेक्षित रही है और जिसकी रीढ़ पर पूँजीवादी और सत्तावादी वर्ग अपने पापका गट्ठर ढोता रहा है और उसने आह तक नहीं भरी है। इसके पहले कि ज्वालामुखीकी दबी हुई आग भड़क उठे, आवश्यकता है कि हम उससे बचने का उपाय करलें। इस निमित्त स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभाव—'अमृत' की ये तीन बूँदें हमें स्वयं भी पीनी होगी और उन उपेक्षित भाई-बहनोंको भी पिलानी होगी।

यमुना प्रसाद

आदिवासियों के लिये सामाजिक सुधार

भारतके उन ६ राज्योंमें बिहार भी एक है जहाँ आदिवासी बहुत बड़ी संख्यामें रहते हैं। छोटानागपुर डिवीजनके जंगल और पहाड़ोंसे भरी भूमि में ओरांव, मुन्डा, खरिया, हो और संताल आदि भारतकी आदिम जातियाँ अपनी एक अलग दुनिया बसाये अपना जीवन व्यतीत कर रही हैं। अलग दुनिया इस अर्थमें कि अभी वे आधुनिक सभ्यता और संस्कृति, नये विचार और नई हलचलोंसे बेखबर, झाड़-जंगलोंकी अपनी कुटियोंमें प्रायः उसी तरह रह रहे हैं जैसे विगत युगोंमें। भोले-भाले, छल-कपटसे परे, स्वतन्त्रता-प्रेमी ये आदि-वासी युगोंसे लोगोंकी उपेक्षाके शिकार रहे हैं।

आदिवासियोंके प्रति अँगरेजों का रुख विचित्र था। एक ओर बराबर उनकी यह कोशिश रही कि ये लोग अपने आस-पासके सभ्य प्रदेशों की झाँकी न पा सकें. दूसरी ओर उन्हों ने ईसाई पादरियोंको उनके बीच प्रचारका खुला मैदान प्रदान किया। ईसाई मिशनरियोंसे फायदा केवल उन चन्द आदिवासियोंको पहुँचा जिन्होंने उनके मतको माना। बाकी लोग उसी अशिक्षित और अभावकी अवस्थामें पड़े सड़ते रहे। अँगरेजोंकी इसी 'बन्द दरवाजा' नीतिके कारण पिछले वर्षोंमें आदिवासी जनता देशकी प्रगतिमें खुल कर साथ न दे सकी और न जनता की सहानुभूति उन तक अँगरेजी शासन के कारण पहुँच सकी। लेकिन जमाना ने पलटा खाया और आजादीके सूरज की किरणें झाड़-जंगलोंको चीरती हुई आज आदिवासी लोकमें पहुँच चुकी हैं। भारत-सरकारने आदिवासियों की उन्नतिके लिये ठोस कदम उठानेका निश्चय किया है।

इधर बिहार राज्यकी ओरसे आदिवासियोंके सामाजिक सुधारके लिये सन् १९४६ में एक कल्याण-विभाग खोला गया जो माननीय मन्त्री श्री कृष्ण वल्लभ सहायकी देख-रेखमें काम कर रहा है। पिछले गत चार वर्षोंकी छोटी-सी अवधिमें आदि-वासियोंका बहुत कुछ सुधार कर सकने में यह विभाग सफल हुआ है। उनके

आर्थिक सुधारके लिये और महाजनों के चंगुलसे उनकी रक्षा करनेके लिये सरकारने आदिवासी क्षेत्रोंमें अन्नके १६१ गोलोंको खोलनेका प्रबन्ध किया। इन गोलोंसे आदिवासियोंको गल्ला एव धानके बीज दिये जाते हैं। अड़तीस नये गोले इस साल खोले जाने वाले हैं। यह गोले थाना-कल्याण-अफसरों की देख-रेखमें हैं। इनके खोले जाने से महाजनोंकी सूदकी दरसे बहुत कम दर पर अन्न आदिवासियोंको दिये जाते हैं। थाना अफसरोंके अतिरिक्त जिला-कल्याण-अफसर और डिवीज-नल-कल्याण-अफसर देख-रेखके लिये नियुक्त किये गये हैं।

आदिवासियोंका मुख्य पेशा खेती है। उनकी खेतीके सुधारके लिये पुराने आहरों, बाँधों एवं पइनोंकी मरम्मत और जरूरतके अनुसार नये बनानेकी ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है और इस मदमें काफी रुपया खर्च हो रहा है।

आदिवासियोंमें शिक्षा प्रचारके मार्गमें उनकी गरीबी बाधक है। अतएव स्कूल और कॉलेजोंमें इनको सरकारी छात्रवृत्तियाँ देनेकी योजना काममें लाई गई है। आँकड़े इस प्रकार हैं :—

१६४६-४७ ... ... ५०,००० रु०
१६४७-४८ ... ... १,२६,५७६ रु०
१६४६-५० ... ... २,२६,५७६ रु०
१६५०-५१ ... ... २,४४,६३६ रु०

आदिवासियोंके लिये सरकारकी ओर से राँची जिलेमें ७, हजारीबागमें २ तथा मानभूम और सिंहभूममें २ छात्रावास खोले गये हैं। इनके अलावा वह ४० होस्टल किरायेके मकानोंमें, विभिन्न जिलोंमें, चला रही है। आदिवासी क्षेत्रोंमें स्कूलों और पाठशालाओं इत्यादिकी दशा सुधारनेके लिये सरकारने १६४८-४६ में ६५,८०० रु० तथा १६४६-५० में १५,००० रुपये दिये। इस प्रकार आदिवासियोंमें शिक्षा-प्रचारकी प्रगति बढ़ाई जा रही है।

आदिवासियोंकी आर्थिक दशाके सुधारके लिये सरकार सहायक-पेशा की व्यवस्था कर उन्हें भिन्न-भिन्न धन्धों में लगानेकी कोशिश कर रही है। इस उद्देश्यसे राँची, हजारीबाग, सिंहभूम और संताल परगनामें हाथ कताई और बुनाईके प्रचारकी योजना जारी की गई है। इसके लिये दो शिक्षण-केन्द्र खोले गये हैं। सरकार १,७२,५०० रु० सालाना इस काम पर खर्च कर रही है।

ओरांव, मुंडा, खरिया, हो एवं संतालोंके सांस्कृतिक विकास तथा उसकी रक्षाके लिये सरकारने पाँच सांस्कृतिक मंडल खोले हैं। ओरांव और मुंडारी भाषा-कोष बनकर छपने के लिये तैयार हैं। लोक-गीतों एवं लोक-कथाओंके संग्रह और रामायणके सन्ताली अनुवादका काम जारी है।

श्री ए० वी० ठक्कर (ठक्कर बापा) ने १९४७ में १५ मासकी एक योजना बनाकर सरकारको दी जिसमें आदिवासियोंमें शिक्षा-प्रचार एवं इनकी सामाजिक कुरीतियोंको दूर करनेकी ओर विशेष जोर था। सरकारने इस योजनाको कार्यान्वित करनेके लिये १ लाख ३५ हजार रु० खर्च किया। मार्च १९४९-५० में २ लाख ८५ हजार ९९८ रु० और १९५०-५१ में फिर इतनी ही रकम देकर योजनाको जारी रखा है। इस योजनाको सफल बनानेमें दो गैर-सरकारी संस्थाएँ—'आदिम जाति सेवा मंडल' और 'संताल पहाड़िया मंडल' बहुत मदद दे रही हैं। इनके अलावा अन्य कई छोटी-छोटी संस्थाएँ भी सहयोग दे रही हैं। इन सभी संस्थाओंको सरकारकी ओरसे आर्थिक मदद दी जाती है।

कई खानाबदोश आदिम जातियोंको सरकार 'एबोरजीनल रैयत ऐग्रीकल्चरल लैंड रेस्टोरेशन एक्ट' पास कर फिरसे बसानेके काममें लगी हुई है। कितनेही परिवार अब तक बसाये जा चुके। इनके अधिकारोंकी रक्षाके लिये कानून भी पास किये गये हैं। इनके देवस्थानोंके जीर्णोद्धार तथा इनके लिये आमोद-प्रमोदके स्थान, पुस्तकालय, रात्रि-पाठशाला, दवाखाना इत्यादिका प्रबन्ध हो रहा है।

आदिवासियोंकी शक्ति एवं उनकी प्रतिभाका हनन जिस प्रकार किया गया उनको पुनः जाग्रत करनेके प्रयत्नमें सरकारको एक हद तक सफलता मिल सकी है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि आदिवासियोंको पूर्ण रूपसे फलने-फूलनेकी अवस्थामें लानेमें काफी समय लगेगा और खर्च भी। सरकार सचेष्ट है। वह दिन अब शीघ्रही आनेवाला है जब आदिवासी हमारे देशकी एक जोरदार ताकत बनकर राष्ट्रकी उन्नति और प्रगतिमें अपना हाथ बटाएँगे—अपना समुचित स्थान प्राप्त करेंगे।

"...जनताकी आर्थिक स्थितिमें समानता पैदाकी जाय। मौजूदा वक्तमें जो घोर असमानताएँ हैं, उनका एक गहरी सामाजिक बुराईके रूपमें मुकाबला किया जाना चाहिए। किसी स्वस्थ समाजके अन्दर चन्द आदमियोंमें धनका केन्द्रित हो जाना और लाखोंका बेकार होना एक महान् सामाजिक अपराध या रोग है। जिसका इलाज अवश्य होना चाहिए।"

—महात्मा गांधी

राधाकृष्ण

चर्मकार

बात जब चल निकलती है तो एक से अनेक होते देर नहीं लगती। उसी तरहकी बातको तूल देकर विदेशी विद्वानोंने चमारोंको केवट और चांडालिनके संसर्गसे उत्पन्न मान लिया है। अंगरेज लोग जब हमारे यहाँ व्यापार करते-करते शासन भी करने लगे तो हमारे यहाँके जीवन और जातियोंके बारेमें उन्होंने अध्ययनभी किया। जिस सूत्रसे जो बात उन्हें मिली, लिख लिया। उसमें कुछ अपने विचार भी मिला दिये। कुल मिला कर ऐसा माल-मसाला तैयार किया कि बात बिल्कुल गोल हो गई। उसी गोल-मटोल बातको कभी इधर घुमा कर देखा और कभी उधर पलट कर देखा। और जब भी देखा तो अपने मतलबकी बातको ही देखा।

चमार जातिका डील-डौल, ढाँचा, चेहरा-मोहरा, रंग-ढंग कुछ भी आर्य जातियोंसे भिन्न नहीं। दस मिल कर एक जगह खड़े हो जायँ तो यह कहना मुश्किल हो जायगा कि इसमें कौन ब्राह्मण है, कौन क्षत्रिय है, कौन वैश्य और कौन चमार है। मगर फिर भी नेस्फील्ड साहब चमारोंको कंजर, हबुरा, चेरो, डोम आदि जन-जातियोंसे निकला हुआ मानते हैं। सीमा-प्रान्त के चमारोंका वर्णन करते हुए सर हेनरी इलियट साहब एक प्रचलित कहावत को ही लेकर बुरी तरह उलझ गये। उसी कहावतकी बातको लेकर उन्होंने हर तरह साबित करनेका प्रयत्न किया कि सच्चा चमार तो बस काला ही होता है। हाँ, डा० वाइज़ साहबने चमारों का वर्णन करते समय अवश्य ही अच्छे ढंगसे लिखा है कि साधारण चांडालकी अपेक्षा चमार कम काला होता है और बहुतसे श्रोत्रिय ब्राह्मणों की अपेक्षा भी यह साफ होता है।

मगर यह सब अपनी-अपनी बात है। इसका कोई नियम नहीं। चमार गोरा भी होता है, काला भी होता है, साँवला भी होता है। जिस तरह भिन्न-भिन्न रंग-रूपके लोग हिन्दुओंकी अन्य जातियोंमें पाये जाते हैं वैसा ही चमारोंके यहाँ भी। उनके शरीरके रंग-रूपमें न कोई भिन्नता है और न

विशेषता। अलबत्ता मध्य प्रान्त की चमारिनें अपने सौन्दर्य के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। मध्य प्रान्त के चमार भी अच्छा शारीरिक गठन रखते हैं। मगर साथ ही एक बात और भी है। मध्य प्रान्त के चमार अन्य प्रान्तों में बसनेवाले चमारों की अपेक्षा कुछ सुखी भी अधिक हैं। उनके पास अपने लिये खेती की जमीन है, कुछ चमड़े का भी काम कर लेते हैं और कुल मिलाकर खाते-पीते अच्छे हैं। यह शारीरिक गठन और सौन्दर्य की जो बात चलाई जाती है वह बहुत-कुछ भोजन और निश्चिन्तता से सन्बन्ध रखती है। अगर आदमी को ठीक से खाना न मिले, ऊपर से काम भी करना पड़े और हजार तरह की चिन्ता घेर कर खड़ी रहे, तो फिर चाँद-से चेहरे पर भी अमावस का अंधकार घिर आवेगा।

लगता है कि विदेशी विद्वानों ने इस तरह की बातें लिख कर हमारे समाज के प्रति अविचार ही किया है। उन्होंने कभी भी एकता का सूत्र खोजने की चेष्टा नहीं की। जब खोजा तो उन्होंने विरोध और वैषम्य को ही खोजा। शेरिंग नाम के सज्जन तो चमारों के बारे में यहाँ तक लिख गये हैं कि वे आधा ब्राह्मण, चौथाई वैश्य और चौथाई शूद्रों से उत्पन्न हैं और वे आसानी से उच्च जातियों के सामने अपना सिर उठा सकते हैं। यहाँ पर उन्होंने जिस ढंग से सिर उठाने की बात कही है वह भारतीय जातियों के प्रति प्रेम को प्रदर्शित नहीं करता, बल्कि विरोध, घृणा तथा प्रतिकार की भावनाओं को ही उभाड़ता है।

और अगर इसी बात की छान-बीन की जाय तब भी तो ऐसा नहीं मालूम होता कि प्राचीन काल में जातीयता का बंधन बहुत कड़ा था। पांडवों का वंश मलाहिन सत्यवती से उत्पन्न हुआ था। इस तरह के एक नहीं एक सहस्र उदाहरण हैं कि पुराने समय में शादी-ब्याह आदि के लिये जाति का विचार कोई भारी अड़चन की चीज नहीं थी। मगर विदेशी विद्वानों ने बात को खींच-खींच कर चमारों तथा अन्य अछूत जातियों को मिश्रित साबित करने की चेष्टा की है। मगर जाति-जाति के मिश्रण की बात को लेकर माथापच्ची करने से कोई लाभ तो है नहीं।

मनुस्मृति के दसवें अध्याय में चमड़ा का काम करने वालों का जिक्र है। वहाँ वे कारावर बतलाये गये हैं। हो सकता है कि यही कारावर आगे चलकर चमार या चर्मकार कहे गये। कारावर नामक किसी जाति विशेष का तो आजकल पता नहीं चलता। अतएव ये वही हैं जो आज चर्मकार या चमार के नाम से विख्यात हैं। एक जाति के कई नाम भी तो हो सकते हैं।

एक ही जाति है ब्राह्मण; मगर कोई उन्हें द्विज कहता है, कोई विप्र बतलाता है। हो सकता है कि चर्मकार पहले कारावर नाम से जाने जाते थे; पर आगे चल कर चर्मकार नाम रह गया, कारावर विलुप्त हो गया।

कारावर जाति की उत्पत्ति को निषाद पिता और वैदेह माता से हुआ बतलाया गया है। उस प्रसंग को लेकर रिजले साहब ने जहाँ चमारों के बारे में लिखा है वहाँ उन्होंने बतलाया है कि ब्राह्मण पिता और शूद्राणी माता से निषाद जाति की उत्पत्ति हुई थी। वैदेह के बारे में उन्होंने कहा कि वैश्य पिता और ब्राह्मणी स्त्री से वैदेह जाति का जन्म हुआ। रिजले साहब लिखने को लिख तो गये; मगर उनको बात का आधार क्या है इसका उन्होंने कोई विवरण नहीं दिया है। कम-से-कम निषाद की उत्पत्ति जो उन्होंने बतलाई है वह प्रचलित कथा से दूर है। प्राचीन काल में वेन नामक एक राजा था। यह स्वायंभुव मनु के उसी वंश में उत्पन्न हुआ था जिस वंश में महाराजा उत्तानपाद और ध्रुव ने जन्म-ग्रहण किया था। यह वेन बहुत ही कुचाली और कुकर्मी था। प्रजा को सताना यह अपना कर्तव्य समझता था। ऋषियों और ब्राह्मणों ने इस राजा वेन को बहुत समझाया-बुझाया, सीख दी, सत्परामर्श दिये; मगर अधिकार-प्रमत्त वेन पर किसी बात का असर नहीं हुआ। अन्त में ऋषियों को भी रोष आ गया। क्रोधित होकर ऋषियों ने शाप दिया और राजा वेन मर गये। राजा वेन के मरने पर राज काज देखने वाला कोई न रहा। तमाम अराजकता छा गई। चोर-डाकू खुलकर खेलने लगे। सवाल आया कि अब राज्य कौन चलावेगा? सरस्वती नदी के तीर पर बैठ कर ऋषियों ने सलाह की कि अब क्या होना चाहिये। राजा वेन का तो कोई पुत्र है ही नहीं। आखिर विचार-विमर्श करके ऋषियों ने राजा वेन के मृत शरीर की जाँघ का मंथन किया। उस मंथन से एक बलिष्ठ पुरुष उत्पन्न हुआ और ऋषियों से पूछने लगा कि मैं क्या करूँ?

ऋषियों ने कहा—"निषीद!" अर्थात् बैठ जा।

इसी निषीद शब्द के कारण वह निषाद कहलाया। इसी निषाद का छोटा भाई पृथु था। वही पृथु, जिसके कारण धरती का नाम पृथिवी पड़ा है।

यों तो अपनी-अपनी कल्पना है। चाहे कोई कुछ कह दे। मगर चर्मकार जाति बहुत प्राचीन मालूम होती है। चर्मकार शब्द ही बतलाता है कि यह शब्द लगभग उतना ही पुराना है जितना कि ब्राह्मण। अत्यन्त पुरातन
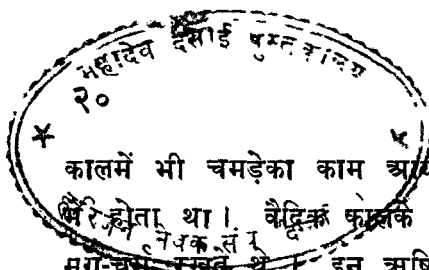
कालमें भी चमड़ेका काम आर्यावर्त में होता था। वैदिक कालके ऋषि मृग-चर्म रखते थे। इन ऋषियोंके बारेमें बतलाया गया है कि वे ब्रह्म को जानते थे; मगर यह तो नहीं बतलाया गया कि वे चमड़ेकी "टैनिंग" करना भी जानते थे। अतएव यह अनुमान आसान है कि उनके मृग-चर्मको बनानेवाले दूसरे लोग होंगे। वे लोग चमड़ेका ही काम करते होंगे। चर्मकार शब्द ही सूचित करता है कि यह जाति चमड़ा बनानेवाली जाति रही है।

ऋषियोंके पास जो मृगचर्म था वह बिछाने वगैरहके काम आता था; मगर प्राचीन कालमें चमड़ा पहिरने का रिवाज भी था। शिवजीको बाघाम्बरधारी बतलाया गया है। हो सकता है कि अति प्राचीन कालमें कुछ ऐसे भी लोग रहे हों जो बल्कल वगैरह न धारण करके चमड़ा भी पहिनते हों। तीर रखनेका जो तूणीर होता था वह चमड़ेकी पट्टीके द्वारा बायें कन्धेके पीछेकी ओर लटकाया जाता था। जानवरकी नस से बनी हुई ताँतका प्रयोग धनुषकी डोर (जो बाँसका ही होता था) बाँधने के लिये किया जाता था। अतएव यह बात निर्विवाद है कि प्राचीन कालके आर्यावर्तमें चमड़ेका काम पूरी तरह होता था।

चमार लोगोंके बीच अपनी जाति के बारेमें एक कहानी प्रचलित है। वह कहानी यों कही जाती है कि किसी समय कुछ ब्राह्मण—जो आपसमें भाई-भाई थे—गंगा-स्नानके लिये गये। वहाँ जाकर देखते क्या हैं कि एक गाय दलदलमें धँसी जा रही है। अब उसे निकालने कौन जाय? दल-दल में कौन फँसे? आगे कोई बढ़ता ही न था। तब छोटे भाईको ताव आ गया। उसने बाजी लगाई कि गायको मैं जरूर निकाल लाऊँगा। वह आगे बढ़ा। मगर जब तक वह फंसी हुई गायके पास पहुँचे-पहुँचे कि तबतक गाय मर चुकी थी। अब वह सोचने लगा कि मैं करूँ तो क्या करूँ? अगर यों खाली हाथ लौट जाता हूँ तो बाजी हार हो जाती है। और अगर मुर्देको ले जाना चाहूँ तो गाय की इतनी बड़ी लाशको कैसे ले जा सकूँगा? आखिर उसने क्या किया कि पहचानके लिये मरी हुई गायका चमड़ा ही उतार लिया और अपने भाइयोंके पास ले गया। चमड़ा लाने के कारण भाई लोग बाजी तो हार गये; मगर चमड़ा उतारनेके कारण उसे जातिसे च्युत करके चमारका नाम दे दिया।

इस कहानीका कोई आधार नहीं। यह यों ही कही जाती है। इसकी ऐतिहासिकता और प्रामाणिकताकी

जाँच व्यर्थ होगी। मगर एक बात इस कहानीमें प्रत्यक्ष है। वह बात यह है कि चमार अपनी जातिको हीन नहीं समझता, अन्य जातियोंके संसर्ग से उत्पन्न हुआ भी नहीं मानता। अपने कर्मके कारण वह ब्राह्मणोंसे च्युत हो गया समझता है।

चमारोंने उच्च जातिकी जितनी उपेक्षा सही है उतनी शायद किसी अन्य जातिको नहीं भोगना पड़ा होगा। चमारोंसे बेगारका काम बहुत लिया गया है। बेगारीके बदले में चमारोंको थोड़ी-सी जमीन दी जाती थी। मगर जमीनकी सीमा थी, बेगारीकी कोई सीमा नहीं थी।

चौदहवीं शताब्दीमें चमारोंकी जातिमें एक ऐसे सन्त पैदा हुये थे जिनके यश और ज्ञानकी छाया इस जाति के ऊपर बहुत पड़ी। वे सन्त रैदास भगत थे जो स्वामी रामानन्द के शिष्य बतलाये जाते हैं। इनके बनाये हुए पद आज भी हिन्दी-साहित्य में अनेकानेक रत्नों की भाँति चमक रहे हैं। उदाहरणके लिये उनका एक पद यहाँ दिया जाता है :—

प्रभुजी तुम चंदन हम पानी।
जाके अंग-अंग बास समानी॥
प्रभुजी तुम घन-बन हम मोरा।
जैसे चितवत चंद चकोरा॥
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती।
जाकी जोत बरै दिन राती॥
प्रभुजी तुम मोती हम धागा।
जैसे सोना मिलत सुहागा॥
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा।
ऐसी भक्ति करत रैदासा॥

भक्त रैदासजीको कुछ लोग रविदास भी कहते आते हैं। इनका प्रभाव चर्मकार जातिके ऊपर इतना पड़ा है कि आज भी वह अपनेको चमार न कह कर बड़े गर्वसे रैदास बतलाता है। रैदास पन्थके माननेवाले चमार आपको बहुत बड़ी संख्यामें मिलेंगे। बंगालके बहुतसे चमार भी रैदास-पन्थके माननेवाले हैं।

सन् १७३५ के आसपासमें शिवनारायण नामके एक सन्त हुए थे। इनका स्थान गाजीपुर कहा जाता है और जाति राजपूत बतलायी जाती है। बहुतसे लोग कहते हैं कि चमार जातिमें जो नारायणी पन्थका प्रचार है उस पन्थ के प्रवर्तक ये शिवनारायण जी ही थे। मगर चमारों का विश्वास है कि उनके श्री नारायणी पन्थ (या शिवनारायणी पन्थ) के प्रवर्तक श्री नारायण जी अभीसे ११४५ वर्ष पहले हुए थे। मजेकी बात तो यह है कि रिजले साहबने अपनी पुस्तक, "ट्राइब्स एन्ड कास्टस आफ बंगाल" जो लगभग १८८६ ईस्वीमें छपी थी, उसमें भी उन्होंने श्री नारायणीजीके समयका जिक्र ११४५ वर्ष पहले किया

था और अभी हाल में जब मैंने एक चमार से श्री नारायणी पन्थ की चर्चा की तो उसने कहा कि यह हमलोगों का बहुत पुराना पन्थ है और आज से ११४५ साल पहले श्रीनारायणीजी ने इस पन्थ को चलाया था !

जो भी हो, श्री नारायणी पन्थ का प्रचार चमार जाति में दूर-दूर तक है। यहाँ तक कि बंगाल में भी श्री नारायणी पन्थ का यथेष्ठ प्रचार है। एकदम पूरब बंगाल (जो आज-कल पाकिस्तान हो गया है) के ढाका की ओर के चमार लोग कबीर-पन्थ के माननेवाले मिलते हैं। जिस गाँव के चमारों के बीच श्री नारायणी पन्थ का प्रचार होता है वहाँ एक धाम-घर का भी प्रबन्ध होता है। इस धाम-घर के अधिकारी एक महन्थ होते हैं। बसन्त-पञ्चमी के दिन वे "ग्रन्थ" पढ़कर सुनाते हैं। इस धाम-घर में एक ही बड़ा-सा कमरा होता है और उसके चारों ओर बरामदे रहते हैं। बसन्त-पञ्चमी का त्योहार चमार लोग बड़े उत्साह से मनाते हैं। दो दिनों तक काम-धाम कुछ भी नहीं करते। खूब पूजा-पाठ होती है। रैदास-पन्थी लोग गुरु रखते हैं। गुरु लोग मन्त्र देने का काम करते हैं। ब पन में ही गुरु लोग कान में मन्त्र फूँक देते हैं। बंगाल में रैदास-पन्थी हिन्दी भाषा-भाषी लोग चमारों को मन्त्र देने का काम लेकर गाँव-गाँव घूमते हुए दिखलाई देते हैं। संताल परगना के इलाके में जो लोग चमारों के यहाँ पूजा-पाठ का काम कराते हैं वे 'पुरी' कहे जाते हैं। जाति के ये चमार ही होते हैं। इनके बारे में कहा जाता है कि पहले ये पुरी जाति के लोग कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे; मगर पीछे चमारों के यहाँ पूजा-पाठ कराने के कारण चमार बन गये। मिथिला के चमारों के यहाँ अपनी जाति के खास देवी-देवताओं की पूजा नहीं होती। अन्य जातियों की तरह वह सभी देवताओं की पूजा करते हैं। पूजा कराने के लिये उनके यहाँ मैथिल ब्राह्मण लोग आ भी जाते हैं। मिस्टर नेस्फील्ड ने लिखा है कि दीवाली के दिन चमार चमड़ा कमाने वाले औजार "रापी" की पूजा करते हैं। हो सकता है कि यह प्रथा कहीं-कहीं प्रचलित हो। साधारण तौर पर अपने देवी-देवताओं की पूजा में ये भेंड़, बकरा, मिठाई, फल और दूध आदि चढ़ाते हैं।

चमारों के यहाँ अनेक देवी-देवताओं का पूजन होता है। काली, बन्दी, गोरैया आदि की पूजा उनके यहाँ प्रसिद्ध है। दूसरे-दूसरे देवता-देवियों के नाम निम्नलिखित हैं—लोकेश्वरी, रक्तमाला, मनसाराम, कारू, मनसा, ममिया, दाना, जलपैत, आदि। विपत्ति आने पर सीतला माता और

सातो बहिनी जलका देवी की भी पूजा होती है।

उच्च वर्ण के लोगों के यहाँ चमार जाति को इस बात का महत्व दिया गया है कि जिस स्त्री के प्रसव के समय चमारिन ने धात्री का काम नहीं किया वह स्त्री अपवित्र मानी जाती है। मगर आजकल शहरों में इस बात का कोई खयाल नहीं करता। जच्चा-गृह में प्रसव कराया जाता है और मिडवाइफ लोग प्रसव कराती हैं। यदि चमार लड़कियाँ कुछ पढ़-लिख कर नर्स, मिडवाइफ आदि की ट्रेनिंग लें तो वे इस दिशा में दक्ष साबित हो सकती हैं। यह गुण तो उनके संस्कार के अन्दर ही है।

आज की दुनिया की नवीन चेतना ने इस जाति को भी स्पर्श किया है। यह जाति भी उच्च जातियों के समकक्ष होकर राष्ट्र की उन्नति में भाग लेना चाहती है। अन्य हरिजन जातियों के बीच इस जाति को इस दिशा में अच्छी सफलता भी मिली है। माननीय जगजीवन राम और माननीय डा० भीम राव अम्बेडकर आज भारत-सरकार में मंत्री का पद सुशोभित कर रहे हैं। जिस प्रकार के ये दोनों नेता हैं उसी प्रकार की दो मनोवृत्तियाँ भी इस जाति के अन्दर काम कर रही हैं। एक तरह के लोग तो यह चाहते हैं कि पुराने अत्याचारों का नाम लेकर उच्चवर्ग के लोगों को नीचा दिखाया जाय, उनके मार्ग में रोड़े डाले जायँ। यह मार्ग प्रतिहिंसा और प्रतिकार का है। दूसरे प्रकार के लोग सोचते हैं कि आदमी से भूल होती है और आदमी ही उन्हें क्षमा भी करता है। जो हो चुका उसे तो भूल जाना उचित है और अब आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए। अन्य उच्च वर्ग के लोग भी हरिजन जातियों की उन्नति के लिये सचेष्ट हैं। बिहार-सरकार ने भी हरिजन जातियों की उन्नति के लिये जिले-जिले, थाने-थाने में अफसर मुकर्रर कर दिये हैं। मगर सफलता तो तभी मिल सकती है जब ये स्वयँ आगे बढ़ें और अपनी उन्नति के लिये पूर्ण प्रयत्न करें। शिक्षा-दीक्षा, कला-कौशल, वाणिज्य-व्यवसाय सभी दिशाओं में तो उनको आगे बढ़ना है। उसके लिये दूसरे लोग चाहे जितना भी प्रयत्न करते रहें ; मगर करना तो है सबकुछ इन्हें ही। कहावत भी है कि जब तक आदमी खुद नहीं मरता तब तक वह स्वर्ग नहीं देखता।

भगवान भला है

भगवान उसी अर्थमें भला नहीं है, जिसमें इन्सान भला है। इन्सान तुलनामें भला है। वह बुरेके बनिस्बत भला ज्यादा है। लेकिन भगवान तो भला ही भला है। उसमें बुराईका नाम भी नहीं है। भगवानने इन्सानको अपनी ही तरह बनाया। लेकिन हमारे दुर्भाग्यसे इन्सानने भगवानको अपने जैसा बना डाला है। इस घमण्डसे मनुष्य-जाति दुःखों और कठिनाइयोंके समुद्र में जा पड़ी है। भगवान सबसे बड़ा रसायन-शास्त्री (कीमियागर) है। वह जहाँ मौजूद रहता है, वहाँ लोहा और कचरा भी खरा सोना बन जाता है। उसी तरह सारी बुराई, भलाईमें बदल जाती है।

फिर, भगवान है, लेकिन हमारी तरह नहीं। उसके प्राणी मरनेके लिये ही जीते हैं। लेकिन भगवान तो खुद जीवन है। इसलिये भलाई, अपने हर मानीमें, भगवानका गुण नहीं है। भलाई भगवान ही है। भगवानसे अलग जिस भलाईकी कल्पनाकी जाती है, वह बेजान चीज है। और, वह तभी तक टिकती है जब तक उससे हमें फायदा पहुँचता है। यही बात सारे सदाचारोंके बारेमें भी सच है। अगर उन्हें हमारे जीवनमें जिन्दा रहना है, तो हमें यह सोच कर अपनेमें उन्हें बढ़ाना होगा कि भगवानसे उनका सम्बन्ध है। वे भगवानके दिये हुये हैं। हम भले बनना चाहते हैं, क्योंकि हम भगवानको पाना और उसमें मिल जाना चाहते हैं।

दुनियाके सारे सूखे नैतिक उसूल बेकार हैं, क्योंकि भगवानसे अलग उनकी कोई हस्ती नहीं है—वे बेजान हैं। भगवानके प्रसादके रूपमें वे जानदार बनकर आते हैं। वे हमारे जीवनके अंग बन जाते हैं और हमें ऊँचा उठाते हैं। इसके खिलाफ, भलाईके बिना भगवानभी बेजान है। हम अपनी झूठी कल्पनाओंमें ही उसे जिन्दा बनाते हैं—उसमें प्राण फूँकने की कोशिश करते हैं।

—महात्मा गांधी

मोहिनीमोहन

महाभिनिष्क्रमण

दक्षिण अफ्रीकामें रेलकी पटरियां बिछाने वाला इंजीनियर एक दिन भारतके दुर्दशाग्रस्त गरीबोंका प्राण होगा, यह किसे मालूम था !

और यह कौन जानता था कि एकही समयमें गुजरात भारतको दो ऐसे रत्न भेंट करेगा जिनका मोल लगाये नहीं लग सकता !

बापू और बापा—गुजरातके ये दो रत्न आज नहीं रहे, पर उनकी कीर्त्ति युग-युगके लिये रह गयी।

बापू और बापाके इसी गुजरातके भावनगर प्रदेशमें लोहणा (क्षत्रिय) वंश सवा दो सौ सालसे ऊपरसे बसा हुआ है। सन् १८६९ में इसी वंशके एक मध्यम श्रेणीके कुलीन परिवारमें अमृतलाल विट्ठलदास ठक्करका जन्म हुआ।

पिता विट्ठलदास लालजी सीधे-सादे व्यक्ति थे। जीवन-यापन नौकरीसे करते, कभी व्यापारसे। अपनी जातिके पक्के हितैषी थे और अपने जीवनके अन्त समय तक परोपकारमें ही लगे रहे।

मांका नाम मूलीबा था। उनको ६ पुत्र थे परमानन्द, अमृतलाल, मगनलाल, मणिलाल, केशवलाल और नारायण। इनके सिवा एक पुत्री भी थी।

पाँच वर्षमें अमृतकी पढ़ाई शुरू हुई। लड़का था खिलाड़ी, पढ़नेमें मन लगाता नहीं था, और पिता थे कि तुले थे उसे पढ़ाने पर। भला मध्य-परिवारका लड़का पढ़ेगा नहीं तो क्या करेगा। और इसीलिये अमृतलाल खूब पिटता। पिटता इतना कि मां मूलीबा दौड़ कर आतीं बचानेके लिए।

पर पिटने-पिटानेका काम ज्यादा नहीं चला। उम्र बढ़नेके साथही पढ़नेकी लगन बढ़ती गई और चुलबुला बालक अध्ययनको लेकर गंभीर बन गया। आगे चलकर उसने इंजीनियरिंगकी परीक्षा सम्मानपूर्वक पास कर ली जो इसके पहले उसकी जातिका कोई भी नहीं कर सका था।

घरकी हालत अच्छी नहीं थी। प्रतिष्ठा थी, सम्पन्नता नहीं। अमृत

लाल ठक्कर रेलवे ओवरसियर हो गये, फिर वहीं सहकारी इंजीनियर हुए; पर ठक्कर परिवार बड़ा था; रुपयों की जरूरत उसे सदा बनी रहती थी। अमृतलाल ऐसी नौकरीमें थे जहाँ इच्छा होनेसे ही वे रुपयोंका ढेर लगा सकते थे, पर तपस्या और सेवा जिसकी घुट्टीमें पड़ी हो, वह क्या ऐसी बातोंका ध्यानभी मनमें ला सकता था।

और एक दिन हुआ भी ऐसा ही। जिस रेल-विभागमें वे थे उसने कहींसे एक लाइन निकालनेका निश्चय किया। जमीनकी नाप-जोख होने लगी। अब जिनकी जमीनसे होकर लाइन गुजरने वाली थी, वे घबड़ाये। रुपयोंका एक गठ्ठर लिए वे अमृतलालके पास पहुँचे, सिर्फ इसलिए कि लाइन उनकी जमीन होकर नहीं बल्कि बगल-वाली जमीनसे होकर निकले।

शायद लाइनकी लीक टेढ़ी करना सबसे आसान और भय रहित काम होता और उस पर वह रुपयोंका तोड़ा········...। पर नौजवान अमृतने बिना एक क्षणकी देर किये उन रुपयेवालोंको अपने सामनेसे निकलवा दिया।

थोड़े दिनोंके बाद अमृतलालने अपने पदसे त्याग-पत्र दे दिया, क्योंकि रेलवेके बड़े इंजिनियरसे इनकी अनबन हो गयी। वह भी इसलिए कि वह इनपर रोब गांठता और इनके अधिकारोंको अपना अधिकार मानना-मनवाना चाहता। अमृतलाल सब बर्दाश्त करते, अन्याय बर्दाश्त करनेकी ताव इनमें कहाँ, और अपनी आर्थिक स्थितिसे अवगत होने पर भी नौकरी छोड़नेमें ये तनिक भी नहीं हिचकिचाये।

उसके बाद, कुछ दिन गुजरातके देशी राज्योंमें इधर-उधर इंजीनियर बन कर काम करते रहे और तब एक दिन सुदूर पूर्वी अफ्रीकाके लिए रेलवे इंजीनियर बनकर रवाना हो गये।

अफ्रीकामें अच्छी तनख्वाह पर वे तीन वर्ष तक रहे और इस बीच पैसे वे घरको बराबर भेजते रहे।

तीन वर्षके बाद घर लौटे तो घर वालोंने सोचा—परदेस जाने वाला रुपये कमा कर घर लौटता है; देखें, अमृत क्या ला रहा है। इस मौके पर वे शायद यह भूल गये कि पिछले तीन वर्षोंमें अमृतने बराबर रुपये भेजे हैं। पर उम्मीद तो उन्होंने बांध ही रखी थी।

लेकिन यह क्या! भाईने तार खोला तो देखा—अमृत भारत पहुँच गया है और लिखता है बधावन स्टेशन पर आगेका टिकट लेकर मिलो—पैसे नहीं बचे।

पैसा चाहे न बचा हो, पर अमृत लाल एक चीज जरूर लेकर लौटे थे—जीवनके प्रति एक नया दृष्टिकोण।

एक दिन, जब घरमें मैले कपड़ेका बड़ा गठ्ठर बंधा पड़ा था और धोबी नहीं आया था—घरके लोग समझ नहीं पा रहे थे क्या करें। अमृतलाल उठे, कपड़ेके बड़े गठ्ठरको पीठ पर लादा और चकित घरवाले, अड़ोस-पड़ोस तथा परिचित राहगीरोंके देखते-देखते धोबीके घर पहुँच गये।

अमृतलाल फिर काममें जुट गये। सांगलीमें और फिर बम्बई शहरमें वे इंजीनियर हुये। उनका काम उस छोटी रेलवे लाइनकी देखभाल करनी थी जिसपर होकर शहरका कूड़ा-कर्कट कुरलाकी ओर ले जाया जाता था और जहां भंगी और माहर उसे उतार कर गढ़ोंमें डालते थे।

और अमृतलाल ठक्करके जीवन का दूसरा नया अध्याय यहींसे शुरू हुआ।

उसी छोटी रेलकी लाइनका काम देखते हुए अमृतलालने बहुत कुछ देखा। उन भंगियों और माहरोंको देखा, उनकी गरीबी देखी, उनके छोटे गन्दे-घिनौने घर देखे। दूरसे आकर शहरमें नौकर होनेके लिए उनको जबर्दस्त दस्तूरी देते देखा, नौकरी पाकर क़ठोर पठानों को ऊंचे दरों पर कर्जका सूद देते देखा।

अमृतलालका दिल कांप उठा। यह सच है कि उनके पहले न जाने कितने उस जगह पर आये और गये। सबने ही यह तमाशा देखा होगा, पर दिल कांप उठा अमृतका ही। इनकी दशा सुधारनी होगी, इनके जीवनमें परिवर्तन लाना होगा, इनको मनुष्य का दर्जा दिलाना ही होगा।

लेकिन कैसे?

कि इसी बीच, क्षयसे पीड़ित जीवकोर (पत्नी) तथा छः वर्षके एक पुत्रने इनसे नाता तोड़ भगवानसे जोड़ा; उनकी भेंट बिट्ठलरामजी शिन्दे और देवधर से हुई और वे सर्वेन्ट आफ इन्डिया सोसायटीके कामों का गौरसे अध्ययन करने लगे।

उन्हीं दिनों वृद्ध माता-पिताके बहुत जोर देने पर ३७ वर्ष की अवस्थामें उन्होंने दूसरी शादी की, पर थोड़े ही दिनोंमें उसका भी देहान्त हो गया।

पर सब कुछ होते हुये भी वे भंगी-माहर इन्हें भूलते नहीं थे।

सन् १६१२ में एक अभूतपूर्व घटना हुई। बम्बईमें उस समय कुछ गुजराती और दक्षिणी सुधारक थे। उन्होंने एक दिन सब हिन्दू भाइयोंको अछूतोंके एक सहभोजमें शामिल होनेका निमंत्रण दिया।

आज शायद इस सहभोजकी घटनाका कोई महत्व न हो, पर ३५ साल पहले इसकी कल्पना भी किसी सवर्ण हिन्दूके शरीरमें कंपकंपी लानेको पर्याप्त थी।

पर जो भी हो, अमृतलालने इस सहभोजमें शामिल होनेका निश्चय कर

लिया। छूआछूतका विचार तो बहुत रोज हुए उन्होंने छोड़ ही दिया था।

लेकिन भोजके दूसरे दिन ही सवर्ण प्रेसमें उन लोगोंका नाम निकला जिन्होंने पिछली रात अछूतोंके साथ भोजन किया था।

एक सनसनी-सी फैल गई। बम्बई की लोहणा जातिके वृद्धगण क्रोधमें भर गये। जातिकी एक पंचायतमें अमृतलालको उपस्थित होकर अपनी सफाई देनेका हुक्म हुआ।

पहले तो अमृतलालने इसकी उपेक्षा की, पर बादमें लोगोंके समझाने-बुझाने पर कि जानेमें हर्ज ही क्या है, वे गये।

पंचायत ने दंड सुना दिया-५००) जुर्माना तथा प्रायश्चित। दंड नहीं मानने पर जाति-बहिष्कृत।

नौजवान अमृतके लिए कठिन परिस्थिति आ गई थी। जीवनके अपने सिद्धान्तोंके सम्मुख जीवन-दाता पिताको वे मृत्यु-शैय्या पर पड़े देख रहे थे। क्या करना होगा, किसे छोड़ना होगा?

पर पिताके प्रेमने सिद्धान्तों पर विजय पायी। अमृतने सिर झुका दिया।

और निर्लज्ज समाजने उस झुके सिर पर उस्तरा चलाया।

मुड़ा सिर लेकर अमृतलाल पिताके पास पहुंचे। उन्हें इन बातों का कतई पता नहीं था। घबड़ाकर पूछा-क्यों क्या हुआ? यह सिर क्यों मुड़ा लिया तुमने?

अमृतने धीमे शब्दों में उत्तर दिया—ससुरालमें एक देहान्त हो गया है।

१९१३ में पिताकी मृत्यु हो गई। स्नेहकी अन्तिम कड़ी भी टूट गयी। सालके अन्त होने तक सारी तैयारियां खत्म हो गयीं। छोटे भाईके रहने का अलग इन्तजाम हो गया। दूसरे भाईकी विधवा वनिताश्रममें भेज दी गयी। लोगोंका देना-पावना साफ कर लिया गया और इस्तीफा-पत्र भी भेज दिया गया। अफसरने इन्हें समझाया भी—थोड़े दिन और नौकरी कर लो तो पेंशनके हकदार हो जाओगे, और अभीके लिये तुम्हारी तरक्की किये देता हूं।

पर अमृतको न मानना था, न माने।

२५ जनवरी १९१४ को अमृतलाल ने घर पर अपने भाइयोंके पास एक हृदय-स्पर्शी पत्र भेजा जिसमें अपने इस महत्त्वपूर्ण कदम लेनेके विषय में उन्होंने लिखा था। यह पत्र तो अब इतिहास की वस्तु हो गयी है।

१९१४ की फरवरीमें 'महाभिनिष्क्रमण' प्रारंभ हुआ तथा अमृतलाल विट्ठलदास ठक्करने सर्वेण्टस आफ इन्डिया सोसायटी की बम्बई शाखा के मकान में अपना कदम रखा।

परिपूर्णानन्द वर्म्मा

जन्म-मरण का लेखा

विश्वकी जनसंख्या इस समय लगभग २ अरब है। २ करोड़ नर-नारी प्रति वर्ष बढ़ते जा रहे हैं। आबादीमें वृद्धिका यही औसत है। यह वृद्धि तब और मार्केकी समझ में आती है जब हम यह देखते हैं कि हर साल ३,३०,००,००० प्राणी संसार छोड़ते जा रहे हैं, यानी फ़ी मिनट ६३ व्यक्ति मर रहे हैं। फिर भी ५० वर्षोंके भीतर, यानी १८८१ से १९३१ के भीतर, अनेक देशोंकी जनसंख्यामें अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। इस अवधिमें जापानकी जनसंख्यामें ७४.१ प्रतिशत, फ्रांसमें ११.३ प्रतिशत तथा भारतमें ३९.० प्रतिशतकी वृद्धि हुई। पर, सन् १९५१ की हमारी जनगणनासे पता चलता है कि भारतमें गत दस सालमें ११.६ प्रतिशत आबादीकी वृद्धि हुई।

वास्तवमें विश्वके स्वास्थ्यमें वृद्धि हुई है। विश्व अधिक स्वस्थ हो गया है। जो देश छोटे हैं, वहां स्वास्थ्य सुधारका काम ज्यादा अच्छी तरहसे हुआ है। यह केवल इसलिये कि देशके छोटा होनेके कारण सरकारके लिये स्वास्थ्य सुधारका काम संघटित करनेमें आसानी होती है। स्वेडन में गत बीस वर्षोंके भीतर मानव जीवनकी औसतमें ४.४ वर्षोंकी वृद्धि हुई है। वास्तव में मृत्युका औसत ही देशके स्वास्थ्य का मापक होता है। स्वेडनमें मृत्युका औसत सबसे कम है। न्यूजीलैंडकी गोरी आबादी में मृत्युका औसत संसारमें सबसे कम समझा जाता है। हरेक सभ्य देश आज मृत्युका औसत घटानेके प्रयत्नमें लगा हुआ है। मृत्युका औसत देखनेके लिए फी एक हजार जीवित सन्तानोंकी उत्पत्ति से हिसाब लगाया जाता है। इस हिसाब से :—

फी एक हजार जीवित उत्पत्ति पर मृत्यु का औसत

देश	वर्ष १९२१-२२ (औसत)	१९३८	१९४९
भारतवर्ष	...	...	४८
डेन्मार्क	८२	५९	३४
स्वीजरलैंड	६५	४१	३४
इंगलैंड-वेल्स	७६	५३	३२
संयुक्तराज्य अमेरिका	७४	५१	३१
नार्वे	५२	३७	३०
आस्ट्रेलिया	५८	३८	२८
हालेन्ड-बेल्जियम	६४	३७	२७
न्यूजीलैंड	४३	३६	२४
स्वेडन	६०	४१	२३

राष्ट्रसंघके आबादी कमीशनकी रिपोर्ट के अनुसार आजके ५० वर्ष पहलेसे १५० वर्ष तक संसारमें औसतन १००० जीवित बच्चोंके पैदा होने पर २०० बच्चे मर जाया करते थे। १९ वीं शताब्दीमें, अर्थात् सन् १८७० के जमानेमें १००० पीछे १०० की मृत्युका औसत नार्वे देशमें था। उस समय ३०० का औसत जर्मनीमें तथा २०० का औसत ब्रिटेन, फ्रांस इत्यादिमें था। पर उसी समयसे स्वेडन, इटली तथा स्विजरलैन्ड में यह औसत कम होना शुरु हुआ, यद्यपि स्वेडनमें सन् १८५० में १००० जीवित उत्पत्ति पीछे १३० का औसत था। इस बातको ध्यानमें रखकर विचार करनेसे आज की स्थिति अत्यधिक सन्तोषजनक समझी जायेगी। बड़े तथा छोटे देशमें मृत्युका औसत कितना गिरा है, इसकी मिसाल सन् १९०० से सन् १९४१ के भीतरके युगके लिये दो देशोंसे समझा जा सकता है। बड़े देशोंके लिये संयुक्तराज्य अमेरिका तथा छोटे देशोंके लिये स्वेडनका उदाहरण पर्याप्त होगा।

संयुक्तराज्य अमेरिका- प्रतिशत् में कमी

उम्र	(सन् १९००–१९४१)
१ वर्ष से नीचे	६७
१ से ४ वर्ष	८५
१५ से २४ „	६६
३५ से ४४ „	४९
५५ से ६४ „	१८

स्वेडन प्रतिशतमें कमी

उम्र	१७५१-१८००	१९३६-४०
एक वर्ष से नीचे	७९	१,४९३
१५ से २४ वर्ष	६७	
२५ से ४४ „	७२	
५० से ५४ „	७०	
६० से ६४ „	५१	
७० से ७४ „	४२	

सभ्यता का प्रभाव

दोनों ही देशोंमें १ से ४ वर्षकी उम्रके भीतर मृत्युमें अत्यधिक कमी सन्तानों तथा उनकी माताकी पूर्ण वैज्ञानिक देख-रेखका परिणाम है। वास्तवमें मृत्युकी कमी सभ्य देशोंमें शिक्षा तथा उद्योग-धंधों की प्रगति तथा लक्ष्मीकी वृद्धिके कारण हुई। गरीब देशोंमें मृत्यु-संख्याकी अधिकताका कारण उनकी गरीबी है। १९वीं सदीसे यूरोपमें सुधार-युग शुरु हुआ। तभीसे वहां मृत्यु कम होने लगी। पर एक बात मार्के की जरूर है।

सभ्यताकी वृद्धिके साथ फैशनकी बढ़ती हुई और उससे सन्तति-निरोधका भी विकास हुआ। नकली जिन्दगीके कारण नर-नारीकी उत्पादक शक्ति भी कम हो गयी। सभ्य देशोंमें सन्तान कम पैदा होने लगी और वहांकी सरकारों को, जैसे फ्रांसमें, सन्तान पैदा करने पर सर-कारी सहायता तथा पुरस्कारका प्रलोभन देना पड़ा। हिटलरके समयमें जर्मनीमें सन्तान पैदा करने तथा वैवाहिक जीवन बिताने पर सरकारी कानून बने। इस हिसाबसे संसार

की आबादी घटनी चाहिये थी। पर, मृत्यु के औसतमें कमीके कारण ऐसा न हो पाया। उत्पत्तिकी कमी मृत्युकी कमीसे पूरी कर दी गई। ऐसे मामलोंमें एक देश की दूसरे से तुलना करना ठीक नहीं है, फिर भी आंकड़े तो देख लेने ही चाहिये।

आज संसार दो टुकड़ोंमें बँट गया है। पहला, कम उत्पादन (सन्तान) शक्ति वाले देश तथा दूसरा, अधिक उत्पादन (सन्तान) शक्ति वाले देश। फी १००० जनसंख्या पीछे ३०-४० की वार्षिक उत्पत्ति अधिक उत्पादन-शक्तिका प्रतीक समझा जाता है। यह महत्व एशिया, अफ्रिकाके देशोंको प्राप्त है। कम उत्पादन-शक्ति वाले देश आजकल संयुक्तराज्य अमेरिका, यूरोपके अनेक देश, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैन्ड, कनाडा तथा जापान हैं। दक्षिणी अमेरिका इस मामले में एशियाका साथी है।

उत्पत्ति में वृद्धि

सन् १८४० तक संसारके अधिकांश राज्योंकी जन्म तथा मरण संख्या तैयार होने लगी थी। उससे पता चलता है कि सन् १८७१-८० के बीच फी १००० जनसंख्या पीछे सजीव जन्मका औसत उत्तरी, पश्चिमी तथा केन्द्रीय यूरोप में ३० तथा ३२ के बीच में स्थिर-सा था। उसके बाद सभ्यताके विकासके साथ यह औसत घटने लगा। सन् १९३२ से सन् १९३८ के बीच निम्नलिखित औसत था :—

स्वेडन	१४.२
नार्वे	१५.०
इंगलैन्ड-वेल्स	१५.३
जर्मनी	१७.७
स्पेन	२५.०
इटली	२८.०
यूनान	२८.०
बलगेरिया—रुमानिया	३०.३४

साठ वर्षों तक यूरोपमें जन्मका औसत घटता ही गया। राष्ट्रसंघका कहना है कि सन् १९३० के बाद यूरोप तथा अन्य देशोंके राज्य इस विषय में जाग उठे और परिणाम-स्वरूप सन् १९३३ से १९३८ के बीच जर्मनी का औसत सबसे आगे बढ़ गया। अन्य देशोंमें भी क्रमागत वृद्धि शुरु हुई, पर द्वितीय महायुद्धके छिड़ जानेके कारण वृद्धि रुक गयी। राष्ट्रसंघका आबादी कमीशन इस नतीजे पर पहुंचा कि आबादी में वृद्धिके लिये राजनैतिक तथा आर्थिक शान्ति आवश्यक है। साथ ही मनुष्य को सन्तानोत्पत्तिके सम्बन्धमें अपना कर्त्तव्य समझना पड़ेगा। भूखोंका सन्तान पैदा करना बेकार है। सम्पन्नका सन्तान न पैदा करना अन्याय है।

गरीब देशोंमें आमतौर पर फी १००० की आबादी पीछे ४० बच्चे हर साल पैदा होते हैं। कुछ देशोंका औसत इस प्रकार है :—

उरुगुये (केन्द्रीय अमेरिका)	२०.६
मेक्सिको	४३.२
भारत	४५
चीन	४७

मृत्यु का आक्रमण

यह सब कुछ है, पर मृत्युके देवता चुप नहीं बैठते हैं। अब भी रोज व्याधिसे काफी लोग मरते हैं। भारतमें हरसाल ५० लाख व्यक्ति क्षयसे क्षय हो जाते हैं। संयुक्त-राज्य अमेरिकामें कुछ मरने वालोंका २६ प्रतिशत हृदयकी बीमारीसे तथा १२.४ तिशत ज़हरबाद यानी कैंसरसे मर जाते हैं। संयुक्तराज्य अमेरिकामें नवजात शिशुओंमें ३० प्रतिशत केवल निश्चित समयके पूर्व पैदा होनेके कारण मर जाते हैं। एशियामें अकाल, खाद्य संकट, छूतही बीमारी तथा अस्वास्थ्यकर जीवनके कारण काफी व्यक्ति मर जाते हैं। चीन, भारत आदि देशोंके सामने जन्मसे बढ़कर मृत्यु की समस्या है। इन देशोंको भगीरथ प्रयत्न करना होगा कि हमारे देशवासी अकाल कालके ग्रास न बनें। ऐसा प्रयत्न करनेके लिये दरिद्रताके अभिशापको दूर करना होगा।

कृपामूर्ति ठक्कर बापा

पूज्य बापूजीके भी पहलेसे जिन्होंने मेरे जीवनमें दिलचस्पी ली, मुझे बापूकी सेवामें सुपुर्द किया और करीब एक तिहाई सदी तक जो मुझे हर तरह प्रोत्साहन और मार्गदर्शन देते रहे और मेरी पत्नीकी और मेरी संभाल लेते रहे, उनके गुणोंका मैं क्या वर्णन करूं ?

परन्तु हमारे जैसे तो उनके अनेक पुत्र-पुत्रियां थीं। उनके यथा-नाम अमृत भरे हृदयमें बड़ा स्थान तो उन करोड़ों लोगोंके लिये था, जिनका जगतमें कोई आधार न था और जिन्हें देशकी जबरदस्त जातियोंने हमेशा दबाये हुए और अपमानित ही रखनेकी आदत बना ली थी।

भगवानको अशरणशरण, पतितपावन, अनाथनाथका विरुद दिया जाता है। इन गुणोंका अनुशीलन करके बापा स्वयं "परम कृपालु सकल जीवन पर, हरि सम सब दुःख हारी" बने। सन्त तुकारामका एक अभंग है, जिसका अर्थ है :—

जो बहुत रंजमें दिन बितानेवाले और जुल्मसे दबे हुए लोगोंको अपनाता है,—वही साधु है, वही भगवानका धाम है। जिसका हृदय मक्खनकी तरह अन्दर और बाहर मृदु है—वही साधु है, वही भगवानका धाम है। जो दासदासियों पर वैसा ही भाव रखता है जैसा अपनी सन्तानों पर रखता है—वही साधु है, वही भगवानका धाम है। वही साधु है, वही भगवानका धाम है, ज्यादा क्या कहूं, वही भगवानकी मूर्ति है।

इस वाणीका साक्षात्कार करानेवाले कृपामूर्ति ठक्कर बापाको अनेकानेक वंदन।—हरिजन-सेवकसे।

—कि० घ० मशरूवाला

राजेश्वर प्रसाद

मुन्डाओं के देशमें

जिस तरह भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जीकी याद आतेही हठात् आँखोंके सामने उनकी प्रेयसी श्रीराधाजीकी मूर्ति आ जाती है, उसी तरह उनकी बाँसुरी की ओर भी बरबस ध्यान आकर्षित हो जाता है। आपने बाँसुरीकी तान तो बहुत सुनी होगी, पर सम्भवत: गोकुल या ब्रजमें यह सौभाग्य आपको प्राप्त नहीं हुआ होगा। अफसोस, न अब वह पहलेका गोकुल रहा, न ब्रज! मथुरा नगरीमें तो आपको रेडियो, ग्रामोफोन और हारमोनियम ही सुनने को मिलेंगे। फिर भी, यदि आप भगवान श्रीकृष्णकी प्यारी बाँसुरीकी माधुरीका रसास्वादन करना चाहते हों, तो आप मुन्डाओंके देशमें एक बार अवश्य जाइए।

माना, यहाँ आपको न गोकुलकी गाय मिलेगी, न ब्रजकी समतल भूमि; न कलकल-निनादिनी कालिन्दीका कूल, न कदम्बकी डाल। फिर भी आज यहाँ आपको कितनेही मुरलीधर अपनी बाँसुरीकी तानसे वनस्थलीमें जान फूँकते मिलेंगे। विश्वास कीजिए, आप क्षण-मात्रके लिए भूल जायेंगे परिस्थिति को।

मैथिल-कोकिल कविवर विद्यापति का पद "नन्दक नन्दन कदम्बक तरू-तर धीरे-धीरे मुरली बजाव" पढ़ा तो जरूर था, पर इसकी कोई खास विशेषता समझमें नहीं आती थी। विशेषताका आभास तो तब मिला जब गत फागुन महीनेमें "सोनापेटकी तराई" की पगडंडीसे होकर रारगाँवसे जौजोहातू-दलभंगाकी ओर जा रहा था। हठात् घोर जंगलमें (सौभाग्यसे यह जंगल सरकारकी ओरसे सुरक्षित है) दोनों ओरसे दो ऊँचे पहाड़ोंसे घिरे एक स्थान पर, एक पहाड़ी नदीके किनारे करंजकी डालसे मीठी बाँसुरी की आवाज सुनाई पड़ी। पथरीले ऊँचे-नीचे पहाड़ी रास्ते पर बिना अभ्यास करीब दस मील पैदल चलने पर बेहद थकावट मालूम पड़ रही थी, पर सच कहता हूँ मिट-सी गई मेरी थकावट। मैं मन्त्र-मुग्ध-सा सुनने लगा उस मधुर सँगीत को। इस बार मेरे श्रीकृष्ण मुझे मुरलीधरके रूपमें मिले थे। बैठ गया मैं एक छाया में। मेरे साथ एक काफला-सा था। बाधा पड़ी मेरे मुरलीधरको अपने सँगीतमें और वे चल पड़े एक ओर। एक निराशा-सी हुई मेरे मनमें। मुन्डारी भाषामें मैंने उन्हें रुकनेको कहा और

उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। मैंने अनुरोध किया उन्हें कुछ सुनाने को; फिर तो सुमधुर सँगीतकी सरिता-सी उमड़ पड़ी। निर्जन वन था, चारों ओर पहाड़ोंसे घिरा हुआ। बाँसुरी से निकले हुए 'राधे-राधे' की ध्वनि-प्रतिध्वनिसे सारा वायुमंडल गूंज उठा। पहाड़की ऊँची चोटीसे प्रति-ध्वनित 'राधे-राधे' शब्द ऐसा प्रतीत होता था मानो भगवान श्रीकृष्ण आकाशसे स्वयं श्रीराधिकाजीको पुकार रहे हों। भक्ति और शृंगार रसके ललित काव्यके निर्माता श्रीजयदेव जी के "गीत-गोविन्द" की याद आ गई—

'नाम समेतं कृत संकेतं वादयतं मृदु वेणुम्।'

क्या बताऊं, श्रीजयदेवजीकी कल्पना का साकार चित्र मेरे सामने उपस्थित हो गया। भूल गया मैं अपने आपको।

मेरे अनुरोध पर मुरलीधरने मुझे कई संगीत अपनी बाँसुरी पर सुनाए जो बहुतही श्रुतिमधुर थे। आप भी सुनिये :—

ओकोए रुतुए सड़ी तना रधा-रधा।
रधा-रधा रुतु सड़ी अयुम मेन्ने
बरैल-बरैल हपनुमको अड़गुण तना॥
डाड़ि होरा कोदम दारू बंका।
दड़ारेए दुब अकना
रधा नुतुम तिया रधा-रधा रुतुए सड़िया॥

कवि होनेका दावा तो मैं करता नहीं; पर शायद मतलब समझनेमें इस अनुवाद से सहायता मिले :—

राधा-राधाकी यह वंशी
सुमधुर कौन बजाए।
आयीं जिसके श्रवण हेतु
चहुँदिशिसे नव बालायें॥
जलपथमें इस कदम वृक्ष पर
बैठा कौन पुजारी।
जिसकी मधुर बाँसुरीसे ध्वनि
आती—राधा प्यारी॥

जयदेवजीके भावसे कितनी समा-नता है. इन असभ्य कहे जानेवाले मुन्डाओंके गीतसे, जिनके पास न तो कोई साहित्य ही है, न वर्णमाला ही।

और सुनिए :—

ओको तिया ब्रजो मला
सुगड़ सोना दुर कला।
अङ्ग गोड़ेङ्ग चिका जना
निदा सिंगी नुवा जना।
ती इदिंग पेरे दोती दोला
ओगो दोती सेनेयावु दोला।
तिसिंगकापे इदिंग दोइङ्ग गोजोआरे
इदि केदाय सबेन निलाकला।

राधाजी विलाप करती हैं :—

स्वर्ण-सरिस सुषमामय, आली,
कहाँ गए मेरे वनमाली?
जाने कौन व्याधि मोही घेरा,
दीख परत दिन-रैन अन्धेरा॥
हाथ पकरि मोही देहु सहारा,
ले चलु जहाँ नाथ मम प्यारा।
रैन-दिवस बेचैन अधीरा,
अब विलम्ब हूँ तजब शरीरा॥

विरहका कैसा उच्च कोटिका वर्णन है! क्या यह हिन्दी या संस्कृतके विरह-वर्णनसे किसी अंशमें कम है?

पर अधिक देर तक मैं अपने मुरलीधरकी बाँसुरी नहीं सुन सका। मुझे सरकारकी ओरसे आदिवासियों के लिए ग्रेन-गोला (धान उधार देनेका बैंक) खोलवानेकी जल्दी जो थी।

रमाचरण

प्रकृति की ओर

सृष्टिमें जो कुछ है वह प्रकृति प्रदत्त है, उसकी गोदमें ही फल-फूल रहा है और पुनः उसमें ही विलीन हो जाने वाला है। हमारा कण-कण प्रकृति का दिया हुआ है। हमारी प्रत्येक सांस प्रकृतिकी प्रेरणा मात्र है। मगर अब ऐसा भी सोचा जाने लगा है कि मनुष्य पंच तत्वों पर शासन कर सकता है, विश्वामित्रकी तरह या उनसे भी आगे बढ़कर, स्वयं सृष्टिकर्त्ता बन सकता है!

प्रकृति और उसके नियमोंके बाहर कोई हस्ती या ताकत न है, न हो सकती है; क्या ऐसा कहना गलत है? अगर नहीं तो हमें प्रकृतिकी ओर ही तो जाना है। प्रकृतिकी ओर जाने का अर्थ है प्रकृति द्वारा निर्धारित नियमों पर जाना—'स्व' का 'धर्म' (नियम) पालन करना और फलतः 'स्वस्थ'—अपने आपमें स्थित—होना!

प्रकृतिके नियम अबाध गति से चल रहे हैं। उनसे बरी होने या उनकी उपेक्षा कर बेदाग बच निकलने की गुंजाइश नहीं है। यह दूसरी बात है कि हम एक रूपमें मूल्य न चुका कर दूसरे रूपमें देना पसंद करें। मजा प्रकृति के नियमानुकूल चलकर अपनी ताकत बढ़ानेमें है, उसके नियमों की उपेक्षा कर मजा किरकिरा कर देने में मजा क्या!

हम स्वाभाविक सहज भावमें आज सन्तुष्ट नहीं हैं, कृत्रिम ओजक रस हमको चाहिए—नित नया, तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण-तर! सादा निर्मल जल हम को नीरस लगता है। हमको चाहिए शर्बत, चाय, आसव! फल, मेवे तथा नीरा का मिठास हमारे लिये ना-काफी है—हमको चाहिए गुड़, शक्कर, सफेद चीनी, सैकरीन और गरिष्ठ मिष्ठान्न! स्वाभाविक धूप-छाँह, प्रकाश-अंधकारके बदले हमें चाहिए सिनेमा का कृत्रिम आलोक! प्रकृतिकी अद्भुत् शक्तिका अनुभव करने और उससे प्रेरणा लेनेके बदले हम उसको हेय समझने लगे हैं, उससे संतोष न मान कृत्रिमताके पीछे पड़ गये हैं।

प्रकृतिके नियमोंका उल्लंघन मानों आजका फैशन हो गया है। नियमों

का उल्लंघन और दंड। छुटकारा, उल्लंघन और फिर दंड।

आदमी बीमार पड़ कर पूछता है—अच्छा हो जाऊँगा? कब तक सबकुछ खा सकूँगा?

यह तो मानो किसी फौजदारी कानूनकी धाराका उल्लंघन कर जेल जानेवाले अभियुक्तकी तरह हुआ जो अपने वकीलसे पूछे—छूट जाऊँगा? कब तक फिर स्वतंत्र होकर जैसा चाहूँ कर सकूँगा?

प्राकृतिक चिकित्सक और वकील जैसे स्वर-में-स्वर मिलाकर कहेंगे—कोशिश तो रहेगी कि इस बार तुम किसी तरह बरी हो जाओ—या सजा हल्की रहे। लेकिन सावधान! फिर नियम तोड़ोगे फिर पकड़े जाओगे, और तब बड़ी-से-बड़ी फीस लेकर भी तुम्हें नजात दिला सकूँगा, कह नहीं सकता!

मौतें—बड़े पैमाने पर होने वाली प्राकृतिक आपत्तियाँ—आती हैं, आती ही रहेंगी। रोग-शोक स्वेच्छाचारके परिणाम हैं। सभ्यता बढ़ती है, उसके साथ कृत्रिमता और कृत्रिमता के साथ रोग-शोक। मनुष्य कृत्रिम वस्तुओंसे उत्तेजना, क्षणिक सुख एवं दंभ-जनित संतोष का अनुभव ले सकता है, परन्तु प्राण-प्रद शक्ति के लिये उसे प्राण-धारिणी प्रकृति की शरण में ही जाना होगा। चित्त की प्रसन्नता, मन की शान्ति, शरीर का स्वास्थ्य तथा स्नायुओं की स्फूर्ति का खजाना प्रकृति द्वारा दिये गये हवा, पानी, मिट्टी और अकाशके स्वाभाविक वातावरण ही हैं।

समुद्र, आकाश, जंगल और पर्वत के दृश्य-चित्र हम पसन्द करते हैं। क्या साक्षात्कार और भी सुख-प्रद नहीं होगा?

इत्र, सेन्ट सिगरेट तथा अन्य कृत्रिम चीजों में हम सुख की खोज करते हैं। क्या स्वच्छ जल, प्राकृतिक-भोजन और सरल-स्वाभाविक रहन-सहन ही प्राण-प्रद नहीं है?

बीमार होकर उपवास करना, जल, मिट्टी, धूप या भाप के उपचार कर लेना ही काफ़ी नहीं है। यदि हम स्वस्थ और सुखी होना चाहते हैं तो हमको प्रकृतिकी ओर लौटना होगा—प्रकृतिके साथ समरस होना पड़ेगा। परिवार, राष्ट्र एवं मानवता का इसीमें कल्याण है।

योगेन्द्र मिश्र

प्राचीन चम्पाका नारी-समाज

आजकल हिन्द-चीनका बिलकुल पूर्वी हिस्सा 'अनाम' कहलाता है। पहले इसे 'चम्पा' कहते थे, क्योंकि चम्पा (आधुनिक भागलपुर) के लोगों ने वहाँ अपना उपनिवेश कायम किया था और अपनी मातृभूमिके नाम पर अपने नये उपनिवेशका नाम भी 'चम्पा' ही रखा था।

जिस समय हिन्दुओंने नवीन चम्पामें अपना उपनिवेश स्थापित किया, उसके पहले वहाँ मातृसत्ताक समाज था। वहांके प्राचीन निवासी चाम्' कहलाते थे। एक चीनी लेखक ने लिखा है—"चाम् लोगोंमें औरत की ही प्रधानता है, मर्दका कोई महत्व नहीं।" अनामके आधुनिक चाम् लोगोंमें ऐसे कई रस्म-रिवाज हैं, जिन पर मातृसत्ताक सिद्धान्तोंकी छाप बतलायी जाती है। मगर वे रस्म-रिवाज अन्य मलय-पोलिनेशियन नस्लों में भी पाये जाते हैं। कुछ भी हो, हिन्दुओंने वहांके सामाजिक ढांचेमें काफी परिवर्तन कर दिये और चम्पाके नारी-समाजकी अवस्था भी भारतीय नारीकी अवस्थाके समान हो गयी।

गद्दी पानेके मामलेमें प्रथम श्रेणी की रानीके लड़केको दूसरी श्रेणीकी रानीके बड़े लड़कोंके ऊपर भी तरजीह दी जाती थी। यह बात भा में भी प्रचलित थी और बिना मातृसत्ताक समाज हुए भी यह सम्भव है। इस सम्बन्धमें अधिक दिलचस्पीकी बात यह है कि कन्या-पक्षके लोगोंको भी गद्दी मिलती थी। उदाहरणार्थ पृथिवीन्द्र वर्मा (७५८-७७३ ई०) के उत्तराधिकारी सत्यवर्मा और इन्द्रवर्मा हुए। ये दोनों उसकी बहनके लड़के थे। इन्द्रवर्माका उत्तराधिकारी उसका बहनोई हुआ। इसी तरह इन्द्रवर्मा द्वितीय (८७०-८९५ ई०) का उत्तराधिकारी उसकी स्त्रीकी बहनका लड़का हुआ। हमें निश्चित रूपसे यह नहीं मालूम है कि पुत्रके वंशवालोंके रहते कन्या-पक्ष वालोंको गद्दी मिली या पुत्रके वंशवालोंके न रहने पर ऐसा हुआ। अतएव इन उदाहरणोंके आधार पर मातृसत्ताक समाजके सम्बन्धमें किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन है।

चम्पाके भारतीय उपनिवेशमें विवाह एक पवित्र संस्कार माना जाता

था। इसीके द्वारा पारिवारिक जीवन की नींव डाली जाती थी। चीनी ग्रन्थों में चम्पाकी विवाह-प्रणालीके बारे में जो बातें उपलब्ध हैं, उनसे जाना जाता है कि भारत और चम्पाकी विवाह-प्रथा में बड़ी समानता थी। भारतके समान वहाँ भी साधारणतया ब्राह्मण विवाह-सम्बन्ध ठीक करता था। दोनों पक्षोंके स्वीकार करने पर वह एक पवित्र तिथि निश्चित करता था, क्योंकि भारतके समान वहाँ भी विवाह खास-खास तिथियोंको ही हो सकता था। पूर्व-निश्चित दिनको वर और कन्या पक्षों के मित्र और कुटुम्ब वर और कन्याके घरों पर जमा होते थे एवं नृत्य, संगीत आदि द्वारा आनन्द मनाते थे। इसके बाद वर कन्याके घर पर जाता था। कन्या अवसरके अनुकूल उत्तम वस्त्र धारण करती थी। पुरोहित पाणि-ग्रहण कराता था और पवित्र मन्त्रोंका उच्चारण होता था। इस प्रकार विवाह-संस्कार समाप्त हो जाता था। फिर नृत्य, संगीत आदि विविध प्रकारके आमोद-प्रमोद होते थे।

विवाह-संस्कारकी तरह पति-पत्नी-सम्बन्ध में भी चम्पा और भारतके बीच समानता थी। पतिके मरने पर ऊँचे घरोंकी स्त्रियाँ सती हो जाती थीं। कुछ अभिलेखोंमें राजाओंके मरने पर उनकी रानियोंके जल मरने के उल्लेख हैं। यह प्रथा इस हद तक पहुँच गयी थी कि यदि कोई रानी सती न होना चाहती, तो उसे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता। जयसिंह वर्मा चतुर्थ (१२८७-१३०७ ई०) के मरने पर बड़ी कठिनाईसे उसकी पत्नी को इस विपत्तिसे बचाया जा सका। जो स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ नहीं जल जाती थीं, वे हिन्दू विधवाओं के समान जीवन-यापन करती थीं। वे धर्म-कर्ममें जीवन बिताती थीं। संसार के बनाव-सिंगारसे वे अलग रहती थीं। संभव है, खास-खास परिस्थितियोंमें विधवाओंका पुनर्विवाह भी होता हो।

राजाओंके अनेक पत्नियाँ और उपपत्नियाँ थीं। प्रसिद्ध इटालियन यात्री मार्को पोलो (१२७१-१२६५ ई०) जो १२८५ ई० के लगभग चम्पा पहुँचा था, लिखता है—"चम्पाके राज्यमें तब तक किसी स्त्रीका विवाह नहीं हो सकता, जब तक राजा उसे देख न ले। अगर वह राजा को पसन्द आ जाती, तो रनिवास में ले ली जाती; अगर नहीं, तो राजा उसे धन देता था जिससे उस स्त्री को पति पाने में सुविधा हो।" मार्को पोलो ने यह भी लिखा है कि लड़के-लड़कियाँ मिलाकर राजा के ३२६ सन्तानें थीं, जिनमें कम-से-कम १५० शस्त्र धारण करने योग्य थे। इससे पता चलता है कि वहाँ भारतके समान बहुविवाह प्रचलित था।

चीनी ग्रन्थोंमें चम्पाकी एक विचित्र प्रथाका वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है कि जब कभी चम्पाके किसी समुद्रतटवर्ती नगरमें कोई जहाज कुछ दिनोंके लिए ठहरता था, तब नाविक (जहाजी) लोग स्थानीय स्त्रियोंसे विवाह कर लेते थे। चम्पा की स्त्रियाँ और बाहरके नाविक पत्नी और पति-रूपमें रहते थे। फिर जब नाविकोंके चले जानेका समय आता, तब दोनों दल एक दूसरेसे रोते हुए विदा लेते। अगले साल वे स्त्रियाँ फिर दूसरे नाविकोंसे विवाह कर लेतीं। अगर संयोगवश कोई नाविक बहुत समयके बाद फिर उसी स्थान पर पहुँचता, तो उसकी पहलेकी स्त्री उसका बहुत स्वागत-सत्कार करती और उसे खाने-पीनेकी चीजें भी देती। मगर पति-पत्नी सम्बन्ध जब एक बार टूट जाता था, तब वह आप से आप नहीं जुट जाता था।

इतना होने पर भी नारीत्वका आदर्श बहुत ऊँचा था। चम्पामें पाये गये अनेक अभिलेखोंमें महिलोचित गुणोंकी बार-बार चर्चा आयी है। जयसिंह वर्मा प्रथम (८६५-६०४ ई०) के एक अभिलेखमें उसकी मौसी (माता की बहन) के गुणोंका वर्णन है। ये गुण चम्पावालोंके विचारानुसार एक आदर्श नारीके माने जा सकते हैं। नीचे उक्त अभिलेखमें आये संस्कृतके उन पद्योंका अनुवाद दिया जाता है, जिनमें महिलोचित गुणोंका उल्लेख है :—

"उस श्री जयसिंहवर्मा राजा की माताकी बहन है, जो सदा पुण्य-कार्यमें निपुण, विशेष गुणोंसे युक्त और भाग्योदयसे अलंकृत है। अपनी कीर्ति और आशामें वह लीन है, मनमें बने सुन्दर विचारोंका वह भण्डार है तथा गन्ध, पुष्पनिबन्ध एवं वस्त्ररचनामें वह परम दक्ष है।"

"वह अपने प्रिय पतिकी चरण भक्तिमें लीन, परमार्थको अपना हित समझने वाली और धार्मिक सिद्धान्तों एवं सहज गुणों के अनुसार विभूति (धन) का विशिष्ट रूपसे भोग करने वाली है। संसारमें द्विज, यति और सज्जनको जो बराबर दान देने वाली है, वह सदा शिवपदपूजन के विचार से ही अपना शरीर धारण किये हुए है।"

"उसकी सुकीर्ति गुरुजनोंकी प्रशंसा से पवित्र हुई। उनकी विमल सन्तुष्टिका कारण होनेके लिए ही वह भाग्यसे युक्त बनायी गयी। वह महान् थी। (उन गुरुजनोंके) प्रसाद से उसे रुचिकर और पावन वर उपलब्ध हुए। उसने निश्चल विचार से सम्पत्ति उपार्जितकी। उसकी बुद्धि अनिन्दित थी।

"पुल्यङ् राजकुल नाम वह धर्मपटु वाली और सुन्दर मुख वाली थी।"···

"वह सत्य बोलती है, असत्य नहीं, अपवित्र नहीं बोलती, पवित्र ही बोलती है अद्वेष।"···

ऊपरके पाँच अनुवादोंमें पद्योंमें चम्पाकी आदर्श नारीका अच्छा चित्र मिलता है।

नारी-समाज साधारणतया धर्म-प्राण था। अनेक अभिलेखोंमें उसकी दानशीलताका वर्णन आता है। कई स्त्रियोंने अप्रतिष्ठाका अवसर आने पर मृत्युका ही आलिंगन श्रेयस्कर समझा।

साहित्यमें नारीका जो रूप मिलता है, कलामें उसी रूपकी अभिव्यक्तिकी गयी है। वहाँकी मूर्तियोंके अध्ययन से स्त्रीकी पोशाक, गहने आदिके बारेमें बहुत-सी बातें मालूम पड़ती हैं। प्रारम्भिक कलामें कमरके नीचे ही कपड़ा दिखलाया गया है। शरीरका बाकी हिस्सा (औरतोंका भी) नंगा ही दिखलाया गया है। डाक्टर रमेश चन्द्र मजूमदारका विचार है कि आगे चल कर शरीरके ऊपरी भागके लिए भी वस्त्रका उपयोग होने लगा यद्यपि कला में इसकी अभिव्यक्ति बहुत पीछे हुई। गहनोंमें, कानके गहने ज्यादा हैं और अधिक किस्मोंके हैं। इनके बाद कंगन, बाजू आदिका स्थान है। पैरमें भी गहने पहने जाते थे। हार और मेखलाके उदाहरण भी मिले हैं।

यह है चम्पाके नारी-समाज का स्वरूप, जो राज्य १९२ ई० में कायम हुआ और सोलहवीं सदीके मध्य तक अत्यन्त प्रभावशाली अवस्थामें बना रहा। हिन्दू सभ्यतामें नारीका क्या स्थान है—इसका विश्लेषण हुआ है, मगर बृहत्तर भारतके हिन्दू राज्योंके नारी-समाज पर स्वतंत्र रूप से लोगों का ध्यान नहीं गया है। यह लेख उसी दिशामें एक इशारा-मात्र है।

"···किसी आदमीके ख्यालातको हमने ग्रहण तो किया, पर हजम नहीं किया, बुद्धिसे उनको ग्रहण कर लिया पर उन्हें हृदयस्थ नहीं किया, उनपर अमल नहीं किया तो वह एक प्रकार की बदहजमी ही है; बुद्धिका विलास है। विचारोंकी बदहजमी खुराककी बदहजमीसे कहीं बुरी है। खुराककी बदहजमी के लिए तो दवा है, पर विचारोंकी बदहजमी आत्माको बिगाड़ देती है।"

—महात्मा गाँधी

प्राचीन चम्पा का नारी-समाज—

श्री योगेन्द्र मिश्र के उपर्युक्त लेख में चम्पा में प्राप्त शिलालेखों की चर्चा आयी है। हिन्दी अनुवाद लेख में (पृष्ठ संख्या—३९-४०) दिया जा चुका है, संस्कृत में उनका मूलरूप इस प्रकार है :—

—सम्पादक

(एक पीठ)

(८) तस्य श्रीजयसिंहवर्मनृपतेर्मातृष्वसा सन्ततं
या पुण्ये निपुणाविशेषगुणाभाग् भाग्योदयालङ्कृता ।
कीर्त्याशाभिरता मनोविहितसच्चिन्तास्पदा भ्राजते
गन्धे पुष्पनिबन्धवस्त्ररचनास्वेवं विदग्धोचिता ॥

(९) प्रियपतिपादभक्त्यभिरता परमार्थहिता
विधिगुणसंपदा कृतविभोगविभूतिरियं ।
द्विजयतिसज्जनाविरतदानकरी भुवि या
शिवपदपूजनाशयतनुः सततं भवति ॥

(१०) गुरुजनसाधुकारपरिपूतसुकीर्त्तिरियं
तदमलतुष्टिहेतुकृतभाग्ययुता महती ।
उपरुचितप्रसादहितपावनलब्धवरा-
भवदचलाशयोपहितसंपदनिन्दितधीः ॥

(दूसरी पीठ)

नमः परमेश्वराय

(१) पुल्यङ् राजकुलाख्या सा धर्मपत्नी वरानना
... .

(२) सत्यं वदति नासत्यं नाशौचं शौचमेवसा
अद्वेषं नाम ... ...

विभूतिनाथ झा

कल्याण-मार्ग

विश्वके किसी भी देशमें जन्मके कारण मनुष्य मनुष्यको अस्पृश्य नहीं कहता। यह कलंक तो सिर्फ हिन्दुस्तानके सिरपर ही है। हम हिन्दुस्तानी तो उन्हें ही नीची नजरसे देखते हैं जो हमारे समाजके ही एक प्रबल अंग हैं तथा जिनकी सेवाओं के भारसे हम दबे हैं। आज तक फिरभी हम उनकी उपेक्षा ही करते आये हैं।

पर समय सबका एक-सा नहीं रहता। हमारे बीच अब एक नई सामाजिक चेतनाका जन्म हुआ है। महात्मा गांधीने हममें एक नई जान फूंक दी है। बापूने ही सबसे पहले हरिजनोंके कल्याणका मार्ग दिखाया—स्नेह-दीप जलाकर। नवजात राष्ट्र इस रोशनीमें अपना कदम रख रहा है।

हरिजन-कल्याण कार्य राष्ट्रके जीवनमें एक आवश्यक प्रयास है, परन्तु यह प्रयास जबतक समाजके एक-एक व्यक्तिका नहीं होता, तबतक हमारे सिर परका कलंक धोया नहीं जा सकता।

मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि वे हरिजन जिन्होंने सदासे राष्ट्रके स्वास्थ्य और नागरिक जीवनकी रक्षा की (और जिनके इस उपकारके बदले हमने उन्हें 'उदारतापूर्वक सिर्फ मुट्ठीभर अन्न और फटे कपड़े ही दिये हैं) तथा जिनके परिश्रम और त्यागके बलपर आज हमारी सभ्यता सुरक्षित रह सकी है, क्या वे सचमुच इस लायक नहीं कि हम उन्हें आज अपने गलेसे लगाकर अपने पिछले पापोंका प्रायश्चित कर लें।

पर सत्य तो यह है कि मनुष्यका ध्यान अक्सर अपनी गलतियोंकी ओर नहीं जाता। दूसरोंकी बुराइयोंकी ओर नजर डालनेमें हम देरी नहीं करते। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी कमजोरियोंको समझकर उसे दूर करनेका प्रयास करे तो सचमुच सामूहिक कल्याण हो सकेगा। अपने स्वत्वों और अधिकारोंको समझने से ज्यादा आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने कर्त्तव्यको समझें। और इस तरह जब हम अपने हरिजन भाइयोंको गले लगाकर शिष्टता, सभ्यता और सामाजिक उत्थानके स्तरपर ला खड़ा करेंगे, उसी दिन हमारे राष्ट्र-पिता बापूकी अमर आत्माको शान्ति मिलेगी। सत्य, अहिंसा और प्रेम तभी विश्वको प्रभावित कर सकेंगे।

रामखेलावन पाण्डेय

अमृत-साधना

मनुष्यने जिस दिन आँखें खोली, दुःखका उमड़ता सागर उसे दीख पड़ा। जरा दुःख है, मरण भी दुःख है, अ-प्रियकी प्राप्ति दुःख है, प्रियकी अ-प्राप्ति भी दुःख है और प्रियका मिलकर बिछुड़ जाना तो और भयानक दुःख है। संसारमें दुःख ही दुःख है। कोमल, सुकुमार, सुगन्धि-आपूरित कुसुम खिलते हैं, खिलकर झड़ जाते हैं। चाँदनी मिट जाती है, निर्झरका संगीत 'सम' पर आनेके पहले थम जाता है। आँखोंसे आँसुओंकी गंगा-जमुनी लहराती है। मृत्यु, भयानक और नृशंस मृत्यु, संसारको श्मशान बना रही है, बनाती रहेगी, कौन जाने कब तक! प्रकृतिने मनुष्यकी सीमाएँ बाँध दी थीं—अगम्य पर्वत हैं, दुस्तर समुद्र और नदियाँ हैं, बीहड़ वन-प्रान्त हैं अन्धकाराच्छन्न और संकटापन्न। फिर भी मनुष्य डरा नहीं, रुका नहीं, डिगा नहीं। और, मनुष्य मरता है, मानव-जाति जीती है, फूल मुरझा जाते हैं किन्तु कलियों की मुस्कान थमती नहीं, गीत रुक जाता है, किन्तु रागिनीकी मीठी झंकार मिटती नहीं। सुन्दर नष्ट हो जाता है, किन्तु सौन्दर्य अमर है। और, मानव ने कहा—वह अमर है, अमृत-संतान है, मर्त्यलोक की सीमाएँ उसे बाँध नहीं सकतीं। वह दुःख-द्वन्द्व पर, शोक-संताप पर विजय प्राप्त करेगा। वह बढ़ेगा, बढ़ता चलेगा—बाधाएँ दूर होंगी, विघ्न मिटेंगे, वह अमृत-पुत्र जो है। बढ़ता रहेगा वह, बढ़ता चलेगा। दुस्तर सागर और नदियों को उसने पार किया, आकाश में उन्मुक्त हो डैने फैलाए; हिम-शृंगों ने उसकी चरण-धूलि चाटी और वन-प्रान्तों ने उसके लिए रमणीक नगर बसाए। स्वामिनी-सी अभिमान में चूर और दर्पमयी प्रकृति उसकी दासी बनी। फिर भी, मनुष्य की जय-यात्रा रुकी नहीं, रुक सकी नहीं। अमृत-तत्त्व-प्राप्तिका उसे अधिकार है और इसी कारण मानव गौरवास्पद है, गरिमा-मण्डित है। सद्यःजात मानव-शिशुको देख कर किसने सोचा होगा कि उस नन्हें से जीव में यह

अपूर्व क्षमता है, अनन्त शक्ति है। उसकी 'अहं' शक्ति विश्व-विजयनी है, चतुर्दिक फैली हुई विरोधी शक्तियों पर उसने विजय पाई है, वह संकुचित नहीं, सामान्य भी नहीं। उसने केवल अभ्र-भेदी अट्टालिकाओं की ही रचना नहीं की, जल-यान और वायु-यानका ही वह निर्माता नहीं, धर्म, आचार-नीति, सभ्यताका ही वह व्यवस्थापक नहीं। उसने ईश्वर की सृष्टि की, हाँ, ईश्वर की सृष्टि, चाहे आप विश्वास करें अथवा नहीं।

सोचा था उसने—अभाव की पूर्ति सुख है, असीम साधन चाहिए; पृथ्वी अधिक अन्न दे, जल और अग्नि अतुल शक्ति दें। वह अजेय शक्ति और अनन्त साधनों का भोक्ता होगा। भोग ही आनन्द है, सुख ही सौन्दर्य है। इस 'अहं' के प्रसारमें वह भूल गया कि उसकी जय-यात्रा अभी अधूरी है, आगे की प्रगतिका मात्र संकेत। साधना-हीन साधन दंभका मानदण्ड है। बाहरकी विजयके साथ उसे अपने अन्तर पर, अपने आप पर विजय प्राप्त करना होगा। 'अहं' को इतना उदार, इतना व्यापक बनाना होगा कि कोई दूसरा नहीं दीख पड़े, सब अ-विभिन्न है, अभिन्न हैं, अनेक नहीं 'एक' हैं। यह ऐक्य ही अमृत है, यह अनुभूति ही अमरता है। इसके बाद न कोई ब्राह्मण है और न कोई चाण्डाल, न कोई ऊँच और न कोई नीच। संत कविने बहुत दिन पहले ही यह लक्ष्य किया था कि जन्मसे न कोई ब्राह्मण है और न कोई शूद्र। मन यदि निर्मल है तो सर्वत्र निर्मलताही निर्मलता है; मन यदि अपवित्र है तो पवित्रता ढोंग है, आडम्बर और मिथ्याचरण। नाना प्रकारके भेद-भाव भ्रम हैं, संकीर्णताके प्रतीक। सच्चा मनुष्य ईश्वर से बड़ा है, ईश्वर मनुष्य का चरम विकसित स्वरूप है :—

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निरबैरी सब जीव सौं, दादू यह मत सार॥
आपा गरब गुमान तजि, मद मच्छर हंकार।
गहै गरीबी बंदगी, सेवा सिरजन हार॥

—दादू

यह जीवन अमूल्य है—'ऐसा जनम अमोलक भाई' (दादू) और 'सुख-सागर' में हमारा निवास है। कौन कहता है—मानव जीवन व्यर्थ है, हेय है।

अमृतके वरद पुत्र! उठो, अमृत पर तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। अमृत तुम्हारी गति है, आश्रय और स्थिति है। अमृत-साधनाही तुम्हारा लक्ष्य है और अमृत-तत्त्व ही तुम्हारी सिद्धि। किसीका इस पर विशेषाधिकार नहीं, यह राज-पथ मानव-मात्रके लिये सदा उन्मुक्त है। मानव-जाति जीती है, किंतु मानवताको जिलाना होगा। अमृतके लिए समुद्र-मंथन

करना पड़ा था, देव-दानव दोनोंको मिलकर। तुम भी हृदय-मथन करो, विद्वेष नहीं, हिंसा-प्रतिशोध नहीं, स्वस्थ आत्माकी सुगंधि हो, मनोबलकी वर्त्तिका और संयम की अगरू-धूम हो एवं हो स्नेहका मणिदीप और ममता का मधुर नैवेद्य। अमृत-राज्यमें तुम्हारा स्वागत है, जहाँ चेतनाका चैतन्य प्रकाश, भावनाकी सुकुमार तरलता और प्रयोगकी साधना-निष्ठा हो। यही और यहीं आनन्द-लोक होगा। अनुभव करो—तुम अमृतकी संतान हो, तुच्छ नहीं—दीन-हीन भी नहीं। विघ्न-बाधाओंका अतिक्रमण कर तुम्हें उस आनन्द-लोककी सृष्टि करनी पड़ेगी, जहाँ पहुँच कर कबीर ने कहा था :—

हम वासी उस देश के,
जहाँ बारह मास विलास।
प्रेम झरै विलसैं कँवल,
तेज पुंज परकास॥

हम वासी उस देशके,
जहवाँ नहिं मास वसन्त।
नीझर झरै महा अमी,
भीजत हैं सब संत॥
हम वासी उस देशके,
जहाँ जाति बरन कुल नाहिं।
शब्द मिलावा होय रहा,
देह मिलावा नाहिं॥

और रवि बाबूने कहा :—

········· उसके लिए रातके तममें अविरल—

अन्तरदीप सतर्क सँजोए वज्र-गिरे,
अंधड़ आता है,
मानव-यात्री, और युगान्तर की,
युग से—चलता जाता है।

अमृत के वरद पुत्र! तुम्हारा पथ मंगलमय हो। मानवकी जय-यात्राके प्रतीक! तुम्हारा मंगलमय स्वागत है।

जगदम्बिका प्रसाद सिंह

हम क्या करें

संसारमें किसी जाति या राष्ट्रकी उन्नति तब तक नहीं हो सकती जब तक उस जाति या राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिमें अपनी वर्त्तमान अवस्थासे असंतोष और अपनी उन्नतिके लिये तीव्र लालसा नहीं उत्पन्न हो जाय। हमारे अपने देशमें शायद अभी ऐसा नहीं है। हम प्रायः निश्चेष्ट हैं। वर्ग-विभेदकी दीवार तक हम अभी नहीं तोड़ सके। सामाजिक और धार्मिक स्थानोंमें सभी समान रूपसे नहीं आ-जा सकते। अभी तक हम आदमी-आदमीमें एकको ऊँच एकको नीच मानते हैं। एक सभी सामाजिक सुविधाओंका उपभोग करता है, दूसरेके लिये दरवाजे बन्द हैं। एक सम्पन्न है, दूसरेको रोटियोंके लाले पड़े हैं। क्या यह हमारा कर्त्तव्य नहीं होना चाहिए कि जो वर्ग हीनावस्थामें है उसको सहारा दिया जाय—उसको समान अधिकार दिये-दिलाये जायँ? क्या यह बिलकुल आवश्यक नहीं कि बिना भेद-भावके सभी समान रूपसे सभी सामाजिक और धार्मिक स्थानोंमें आयें-जायें, हिले-मिलें? जिन लोगोंको हम अछूत मानते आये हैं उनमें जो खराब आदतें हों—जिनके कारण ही कोई अछूत हो भी सकता है, क्या हम उन आदतोंको छोड़नेमें उनको सहयोग प्रदान न करें? हमें दिल खोलकर एक दूसरेसे हिलमिल कर रहना चाहिए। तभी राष्ट्र एकता के सूत्रमें बँध सकता है। अपने इन भाइयोंकी आर्थिक अवस्थाके सुधारमें भी हम सब तरहसे उनकी मदद करें। उनका शोषण तो बन्द ही हो जाना चाहिए। हम उनके घर जायँ। उनका दुख-सुख सुनें। उनके हृदयों में प्रवेश करें। तभी वह हमारी बात—सीख सुनेंगे। हम उनको बतायें कि वह अपने को नीच-हेय समझना बन्द करें। वह अपनी उन तमाम आदतों को छोड़ दें जिससे पड़ोसी या समाज उनकी ओर ऊँगली उठाता हो।

अति प्राचीन समयमें सवर्ण और हरिजनका सवाल नहीं था। यह बाद की बात है। इसे मिटाना है। समाज के सभी अंग मिलकर भेद-भाव मिटाने में लग जायँ तो विभेदकी भित्तिको ढहते देर नहीं लगेगी। क्या हम ऐसा करेंगे?

ढकासलाल का पत्र —

सिद्धि श्री सम्पादकजीको मुंशी ढकास लालकी तरफसे बहुत जोरावर प्रणाम पहुंचे। आग आपके पास कुशल है तो हमारे यहाँ भी आज मंगल है। पटनेमें आज कौन-सा दिन है सो लिखियेगा। हमने सुना है कि आप एक मासिक-पत्र निकाल रहे हैं। यह काम आप बहुत ही अच्छा कर रहे हैं। जनताके विचारोंको गोपन रखनेके लिये आजकल पत्र पत्रिकाओंकी बड़ी सख्त जरूरत है। और एक बात तो आप गांठमें बांध कर रख ही लें, कि हमलोग अपनी महानता और उदारताके कारण पत्र-पत्रिकाओंकी इतनी कदर करते हैं कि अगर इम्पीरियल बैंक भी किसी पत्र या पत्रिकाका प्रकाशन शुरू कर दे तो वह भी देखते-देखते फेल कर जाय। अतएव हमारा सिद्धान्त है कि अगर पत्र निकालना हो तो पहले उसे बन्द करनेका निश्चय करके निकालना चाहिये। इससे यह लाभ होता है कि पत्र निकलनेसे पहले ही बन्द हो जाता है और घाटा लगनेकी गुंजाइश नहीं रह पाती। मगर हमने सुना कि आप इस मामलेमें अजीब किस्मके आदमी हैं। आप तो पत्र को निकालना ही चाहते हैं, बन्द करना बिल्कुल नहीं चाहते। यह सुन कर हमारे मनमें आपके लिये एक अजीब किस्मकी सहानुभूति हो रही है। अतएव सहानुभूतिपूर्ण गद्गद् शब्दोंमें मैं आपका यह सलाह देता हूं कि जब आपको पत्र निकालते ही जाना है तो पत्रमें जरा मक्खन लगा कर निकाला कीजिये और उसमें थोड़ा-थोड़ा आइसक्रीम भी लगा दिया करें। इससे पत्र चिकना और ठंढा रहेगा।

हमने यह भी सुना कि आप समाजसे संबंध रखनेवाला पत्र निकाल रहे हैं। सो मेरी समझमें नहीं आया कि समाजसे संबंध किस तरह रखा जाता है। हमने तो सबको राजनीतिसे ही संबंध रखते हुए देखा है। सभी राज्य-संचालनके लिये व्यग्र हैं। सबको आज राज चाहिये। किसी को राम-राज्यकी जरूरत है, कोई प्रजातंत्र राज्य चाहता है, कोई ऐसा राज्य चाहता है जिस तरह के राज्य का सपना कभी किसीने किसी किस्म से देखा था और उस सपने को वह राज मांगने वाला भी नहीं जानता कि उस आदमी का सपना कैसा रहा होगा। समाजके बारे में तो कोई सोचता ही नहीं। हलुआ की सभी फिक्र करते हैं, कड़ाहीकी चिन्ता करनेवाले केवल आप ही नजर आ रहे हैं। अतएव हमारी सहानुभूति आपके साथ डबल हो गई है।

अभी-अभी कलकी ही तो बात है। एक समाज-सुधारक महोदयसे हमारी बात हो रही थी। उन्होंने आँख चढ़ा कर, भौं सिकोड़ कर

और गला फाड़ कर कहा कि जो समाजका सुधार नही चाहते, वे नरकमें जायेंगे। वहां उनकी आँख फोड़ डाली जायगी।

इस पर मैंने पूछा कि जो लोग अंधे हैं उनके साथ यह व्यवहार कैसे हो सकेगा?

तो इस पर उन्होंने क्रोधके साथ जवाब दिया कि जो बदमाश अन्धे हैं उनकी आँख पहले बना दी जायगी, तब उसके बाद उन्हें अन्धा किया जायगा।

उस समय हमारी समझमें नही आया कि अन्धोंको किस तरह आंख दी जायगी, मगर जब आपका पत्र निकलनेका सम्वाद मिला तो मेरे जीमें आया कि अन्धोंको इस तरह आँखें दी जा सकेंगी। भले ही आप आँख देकर उसे फोड़नेके लिये राजी न हों, यह दूसरी बात है।

मगर जब सोचने लगता हूं तो बहुत कुछ सोच जाता हूं। खयाल आता है कि आप जो पत्र निकाल रहे हैं वह किसके लिये? ज्यादा लोग तो आपको बहरे ही मिलेंगे। उनसे कुछ कहिये तो वे सुनेंगे ही नहीं। आज ही तो एक आदमीको देखा। वे कहीं जा रहे थे। उनके एक मित्रने टोक कर कहा—कहिये, किधर चल पड़े? सिनेमा देखने जा रहे हैं क्या?

उन्होंने सिर हिलाकर कहा—नहीं तो; मैं तो सिनेमा देखने जा रहा हूं!

तब पूछनेवाले ने लज्जित होकर कहा—माफ कीजिये; मैंने समझा आप सिनेमा देखने जा रहे हैं!

इस बातसे मैं सोचता हूं कि आजकल के जमानेमें पत्रसे ज्यादा लाउडस्पीकरकी जरूरत है। अगर आपके पत्रकी बात न सुनाई दे तब क्या उपाय है? बहिरोंके ऊपर तो मुकदमा भी नहीं चलाया जा सकता। क्योंकि मुकदमा तो तभी चल सकता है जब मुद्दाले सुन सके। और बहिरा सुनता ही नहीं। ऐसी हालतमें विना सुनाईके जज किसी बहरेको सजा भी नहीं दे सकता। कानून भी कहता है कि "without hearing no one will be convicted."

जो भी हो, मैं जब सोचता हूं कि समाज कहाँ है, क्या है; तो इसका उत्तर नहीं मिल पाता। हमेशा यही सुनता हूं कि समाजकी हालत बहुत खराब है। सो समाजकी अवस्थाका तो बहुत पता लगता है, मगर समाजका ही पता नहीं लगता। यह बात मुझे वैसीही मालूम हुई जैसे कोई कहे [शायद सुकरातने अपने मुकदमेके सिलसिले में कहा भी था] कि घुड़सवारी तो होती है और उसकी हालत खराब है, मगर घोड़ा ही नहीं होता। और ऐसी हालतमें अगर घोड़ा-डाक्टर दवा करनेके लिये निकले तो आप उसे क्या कहियेगा?

यह बात मेरे मनमें चुभ गई कि जिस समाजकी ऐसी खराब अवस्था है उस समाज को अवश्य ही देखना चाहिये। मगर देखने जो निकला तो एकसे एक लोग और एकसे एक जातियाँ दिखलाई पड़ीं, मगर समाज

कहीं दिखलाई न पड़ा। एक महोदयका गाल बहुत चिकना-चिकना देख कर मैंने पूछा कि भाई साहब, आप दिनभरमें कितनी बार हजामत बनाते हैं। इस पर उन्होंने कहा—"मेरी बात आप भलेही पूछते हैं; किसी दिन पचास बार हजामत बनाता हूं, किसी दिन साठ बार भी हजामत बना लेता हूं।"

मैंने समझा कि यह आदमी खफ्त है। मगर मालूम हुआ कि आदमी उजबक नहीं। यह तो जातिका हजाम है जिसका कामही दिनभर हजामत बनाना ठहरा।

एक जगह एक विचित्र दृश्य देखने लगा। देखा कि एक आदमीको घेर कर बहुतसे लोग रो रहे हैं और वह आदमी हँस रहा है। उसके चेहरे पर कोई मलाल नहीं। पूछने लगा कि बात क्या है? तुम्हें देख कर इतने लोग कलप क्यों रहे हैं?

उसने जवाब दिया कि मेरे घरमें चोरी हो गई है, इसीलिये ये लोग रो रहे हैं।

मुझे अचम्भा हुआ कि चोरी हो इसके यहाँ और रोवें दूसरे लोग!

इस पर उसने कहा—"मेरे यहाँ चोरी हो जानेसे बेचारे लोग न रोएं तो आखिर क्या करें? मैं जातिका धोबी हूं। मेरे यहाँ से इनके कपड़ोंको छोड़ कर और चोरी जा ही क्या सकती थी?

इसी प्रकार मैंने एक महोदयको बहुत व्यस्त पाया। कुतूहल हुआ। पूछने पर तुरत पता लगा कि ब्रजमोहनजीके भाईके सालेके सालेके भतीजेकी शादी उन्हें ब्रज-मोहनजी की मौसीकी ननदकी लड़कीकी फुफेरी बहनसे ठीक करनी है। ये जातिके ब्राह्मण हैं।

इसी प्रकार मैंने जितना जो कुछ देखा जातियोंको ही देखा। समाजको तो कहीं भी नहीं देखा। आर्य-समाजका नाम बहुत सुनता था। वहाँ गया तो देखा कि तमाम सन्नाटा है। केवल एक उपदेशकजी बैठे-बैठे वेद मन्त्रोंको खेमटामें गा रहे हैं। ब्रह्म-समाज तो मैं खोजता ही रह गया, मगर मिला नहीं। समाजवादी दलका नाम सुना था। वहाँ गया तो समाजके बदले राजनीति का विकट गर्जन सुनाई दिया। इस तरह मैंने जो देखा उसमें समाजको कहीं भी नहीं देखा। सबकुछ जातियोंमें ही बंटा हुआ पाया। तब मेरे मनमें आपसे आप एक प्रश्न जिमनास्टिक करने लगा कि समाज है कहाँ कि जिसकी सेवा आप करना चाहते हैं?

ऐसे भी लोग मिले जिनका समाज तो है, मगर जाति नहीं है। एक डाक्टर साहब कह रहे थे कि हम करें तो क्या करें; हमारे बिलका पैसा वसूल ही नहीं होता। पूछा तो पता लगा कि जो रोगी इनकी दवा खाता है वह ब्रह्ममें लीन हो जाता है; पैसा देनेसे पहले ही वह स्वर्गमें चला जाता है।

मैंने उनसे पूछा कि डाक्टरोंकी कौन-सी जाति होती है?

उन्होंने जवाब दिया कि महोदय, डाक्टरों का एक समाज तो जरूर दिखलाई देता है, मगर डाक्टरोंकी जाति तो होती ही नहीं।

खैर साहब, चलते-चलते भूख लग गई। तब एक होटलमें जा पहुंचा। बहुत ही बढ़िया होटल था। बहुत आदमी थे, बहुत मक्खियाँ थीं। मेरे मुंहसे निकला कि इस होटलमें तो बड़ी बेअदब मक्खियाँ हैं।

इसपर होटलके मालिक पिनपिना उठे। कहने लगे कि ट्रेनिंग पाई हुई मक्खियाँ तो बड़े-बड़े होटलोंमें जाती हैं। यहाँ इस होटल में बेअदब मक्खियाँ ही आया करती हैं।

इस सत्कारके बाद मेरा हृदय बहुत ही सन्तुष्ट हो गया। मैंने सोचा कि जरा इनकी भी जाति पूछ लेनी चाहिये। मैंने पूछा— "भाई साहब, यह तो कहिये कि होटलके मालिकोंकी कौन-सी जाति होती है?

उन्होंने मेरी ओर अजीब तरह देखा और बोले कि होटलके मालिकों की कोई भी जाति नहीं होती! होटलके मालिक की जाति कोई भी जाति हो सकती है।

और इसी तरह कोई भी जातिका आदमी इंजीनियर हो सकता है, किसी भी जातिका आदमी कम्पाउन्डर हो सकता है और कोई भी जातिवाला प्रिन्टर या कम्पोजीटर हो सकता है। और इतना ही नहीं। जिसका जी चाहे वह जूता गाँठनेका काम भी कर सकता है और जिसका जी चाहे वह हजामत बनानेका स्कूल भी खोल सकता है। उस स्कूलमें दूसरोंका गाल काट-काट कर विद्यार्थी आसानीसे परीक्षामें फेल भी कर सकता है। अतएव जातिका जो बन्धन है वह पेशेके साथ भी आजकल बहुत कम संबंध रखता है। ऐसी अवस्थामें हमारा दिमाग समझही नहीं सकता कि जातिका सवाल भी क्या सवाल है और समाज भी कहाँ है? मैं कभी पूरब की ओर देखता हूं और कभी पश्चिमकी ओर देखता हूं। पूरबने पेशेके अनुसार जातिकी नींव डाली थी और पश्चिमने अपने सम्पर्कके कारण उस जातिके बन्धनको ढीला कर दिया। अब अगर सवाल है तो यही है कि नये-नये जो पेशे हैं उनमें किस पुरानी जातिका क्या हक हो सकता है?

और समाज? सो तो इतनी अच्छी चीज है कि आजकल दिखलाई ही नहीं देता। वह विभिन्न राजनैतिक दलोंमें विभक्त-सा हो गया है। ऐसी अवस्थामें हमारे पास तो एक ही प्रस्ताव है कि अब भगवानजीके पास डेपुटेशन ले जाना चाहिये कि आपके अवतार लेनेका समय हो चुका है। जल्दी अवतार लीजिये, समाज बेहाल है। और सम्पादकजी, डेपुटेशन तो जरूर जाना चाहिये; मगर उस डेपुटेशनमें मैं नहीं जाना चाहता। आप वैसे आदमियोंको अपनी निगाहमें रखें जो ऐसा डेपुटेशन लेकर भगवानजीके पास जा सकते हैं।

आशा है आप आनन्दके साथ हैं।

भवदीय, आपका —
मुन्शी ढकामलाल

प्रकाशक — श्रीनगेन्द्र नारायण सिंह, मंत्री, विहार हरिजन सेवक संघ
मुद्रक—वैशाली प्रेस, पटना-४

ठक्कर बापा स्मारक निधि

अपील

स्वर्गीय ठक्कर बापाने ४० वर्ष से भी ऊपर के लम्बे समय में हरिजनों, आदि-वासियों तथा पिछड़े हुए वर्गों को उन्नत करने में तथा अकाल, बाढ़, भूकम्प और संक्रामक रोगों से पीड़ीत मनुष्यों को बचाने के लिये निष्काम भाव से जो बहुमूल्य सेवाएं की हैं, उनको कौन नहीं जानता? उनका कार्य मूक तथा ठोस था और मानवता की चौड़ी तथा ठोस नींव पर अटल था। उसके पीछे अधिकार तथा प्रसिद्ध की भावना न थी और न कोई स्वार्थ अथवा निकट राजनीतिक हेतु ही। मानवता और राष्ट्र निर्माण के लिए उनके लम्बे, स्थायी, कठोर तथा प्रामाणिक परिश्रम ने उनको सबका प्रिय बना दिया था, इसमें वे भी आ जाते हैं जिनका उनसे थोड़े ही समय का परिचय था। अतः श्रद्धा के नाते अथवा उस आदर के नाते जो उन्होंने देश के करोड़ों मनुष्यों से प्राप्त किया है, उनके सहयोगियों, साथियों, प्रशंसकों तथा अनुयायियों की जो कुछ वे कर सकते हैं, करने की स्वाभाविक इच्छा है।

बापाका सच्चा स्मारक तो यही है कि कोई भी मनुष्य बापा की ही भावना तथा शैली को लेकर अपने आप उसी कार्य में जुट जाय जो उनकी आत्मा का मूक मंत्र था और देश के करोड़ों प्राणियों की सेवा कर अपने कर्तव्य का पालन करे। तथापि उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम के संकेतस्वरुप कुछ भी योग्य भेंट चढ़ाने का विचार मन से नहीं हटाया जा सकता।

ठक्कर बापा वास्तव में निर्धनों के अपने थे। वह निर्धनों के ही लिए जीते थे। अतः यह स्वाभाविक है कि उनका स्मारक धन से नहीं आँका जा सकता। उसका मापदंड तो देश-बासियों की वह संख्या है जो अपनी सामर्थ्यानुसार प्रेमपूर्वक छोटी या बड़ी धनाराशि की भेंट प्रदान करेंगे। वह कार्य जिसका वह प्रतिनिधित्व करते थे इतना बड़ा है कि कोई भी धनराशि उसको पूरा करने के लिए अपर्याप्त है। परन्तु यह हमारा पूर्ण विश्वास है कि यदि उस कार्य की भावना मनुष्यों के हृदय में बैठ गई है तो धन की कभी भी कमी नहीं हो सकती। इसलिए स्मारक का लक्ष्य उन मनुष्यों की संख्या पर निर्धारित किया गया है जिन्होंने बापा के संदेश को अपने जीवन का ध्येय बना लिया है।

बापा स्मारक निधि का निर्णय, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ की २० मार्च १९५१ की बैठकमें, जो डा० राजेन्द्र प्रसाद जी की अध्यक्षतामें हुई थी, हुआ था कि कम-से-कम दस लाख मनुष्योंसे धन एकत्र किया जाय। निर्धन से निर्धन चार आना भेंट करें तथा धनिक महानुभाव अधिक से अधिक, कितना भी दे सकते हैं, जो उनकी इच्छा करे और निर्धनोंके कार्यके लिये उनकी आत्मा प्रेरणा दे। अधिक से अधिक देनेकी कोई भी सीमा नहीं है। एकत्रित धनका प्रबन्ध, बापाके बालक हरिजन सेवक संघ तथा भारतीय आदिम जाति सेवक संघ दोनोंके चुने हुए सदस्योंकी एक संयुक्त समिति करेगी जिसमें आवश्यकता होने पर कोआपटेड सदस्य भी सम्मिलित किये जा सकते हैं। चूंकि यह निधि वास्तवमें निर्धनोंके लिये है अतः इसके प्रबन्ध आदिमें कम से कम व्यय करने पर ध्यान रखा गया है।

एकत्रित धन सम्पूर्ण भारतमें हरिजन तथा आदिवासियोंमें शिक्षा तथा सफाईको बढ़ाने, आर्थिक स्थितिको सुधारने तथा रोगों से राहत दिलाने आदिके लिये बराबर-बराबर देशके किस भागसे कितना मिला इसका विचार किये विना खर्च किया जायगा। हमने बापा ही की तरह सम्पूर्ण भारतको एक इकाई माना है और यह धन उसके हरेक भागमें वहाँकी आवश्यकता तथा कार्यक्षमता के अनुसार खर्च किया जायगा।

निधि इकट्ठा करनेका कार्य बापाकी पहली पुण्यतिथि, १९ जनवरी १९५२ तक चालू रखा जायगा। चूंकि बापाका कार्य भविष्यमें और अधिक बड़े पैमाने पर चलाना है, अतः उस तिथिके बाद भी धन स्वीकार किया जायगा और उस अर्थमें फण्ड बन्द नहीं माना जायगा।

अतः हम, सभी धनिकों और निर्धनोंसे अपील करते हैं कि इस स्मारकके लिए, बापा के प्रति श्रद्धाके नाते और आगामी राष्ट्र व मानवताके उत्थानके नाते भी अपनी अपनी सामर्थ्यानुसार भेंट प्रदान करें।

भिन्न स्थानों पर धन एकत्र करनेके लिए स्थानीय कार्यालयोंका प्रबन्ध किया जा रहा है जहां पर भेंट स्वीकार होगी और रसीद दी जायगी। यह सनुरोध प्रार्थना है कि प्रमाणित एजेन्टके अतिरिक्त किसीको धन न दिया जाय और बिना रसीद लिए तो हरगिज न दिया जाय। प्रमाणित एजेन्टों तथा कार्यालयोंकी सूची शीघ्र ही समाचार पत्रोंमें प्रकाशित हो जायगी। तब तक कोई भी जानकारी, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ, हरिजन निवास, किंग्सवे, दिल्लीके मंत्री से; की जा सकती है और धन भी वहीं भेजा जा सकता है।

पुरुषोत्तमदास टंडन, ग० वा० मावलंकर गोविन्दवल्लभ पन्त, हृदयनाथ कुंजरू, बी० जी० खेर, रामेश्वरी नेहरू, घनश्याम दास बिड़ला, देवदास गांधी, श्रीकृष्ण सिंहा, बिष्णुराम मेधी, हरेकृष्ण महताब, अनुग्रह नारायण सिंहा, राजकृष्ण बोस, शांतिकुमार न० मोरारजी, लक्ष्मीदास मं० श्रीकांत, वियोगी हरि, स्वामी रामानंद तीर्थ, भगीरथ कनौड़िया, जहांगीर पटेल, गोपबंधु चौधरी मा० श्री० अणे, वी० भाष्यम् आयंगार।

'अमृत' के नियम

ग्राहकों से —

१. 'अमृत' प्रतिमास प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित होगा।

२. 'अमृत' का वार्षिक मूल्य ५) और एक प्रतिका आठ आना है।

३. पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।

लेखकों से —

४. 'अमृत' में जन-जीवन, विशेषतः हरिजनों, आदिवासियों तथा अन्य उपेक्षित वर्गोंके कल्याण-संबंधी स्वस्थ एवं सुरुचिपूर्ण रचनाओंका विशेष स्थान होगा। यह रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की व्यावहारिक कठिनाइयों तथा उनके निराकरण सम्बन्धी सुझावोंका स्वागत करेगा।

विज्ञापनदाताओं से —

५. 'अमृत' में अश्लील तथा भद्दे विज्ञापन नहीं लिए जायंगे।

विज्ञापन दर निम्नलिखित होंगे —

स्थान	पूरा पृष्ठ	आधा पृष्ठ	चौथाई पृष्ठ
अन्दरके पृष्ठ	५०)	३०)	१६)
कवर दो	६०)	३५)	२०)
कवर तीन	६०)	३५)	२०)
कवर चार	७५)	४०)	२५)

भारत के प्रत्येक कोने में एजेन्टों की आवश्यकता है। एजेंसीके नियमके लिए मैनेजर, 'अमृत' बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना–४ को लिखें।

अमृत

जन-जीवन संबंधी मासिक पत्र

बी० एम० दास रोड :: पटना ४

आवश्यकता

(१) निम्नलिखित म्युनिसिपैलिटियोंकी हरिजन सहयोग समितियोंके लगानी और वसूली के लिए ३० पार्ट टाइम योग्य तथा निष्ठावान कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। वेतन ३५) प्रतिमास।

पटना म्युनिसिपैलिटी,	आरा,	छपरा,
पटना न० सी०,	बक्सर,	सीवान,
दानापुर,	सहसराम,	राँची,
बरबीघा,	डिहरी,	हजारीबाग,
बिहार शरीफ,	दरभंगा,	जमशेदपुर,
गया,	समस्तीपुर,	भागलपुर,
जहानाबाद,	बेतिया,	मुंगेर,
मुजफ्फरपुर,	मनिहारी,	

(२) गांव में रहकर हरिजन कल्याण कार्य करने वाले एवं अनुभवी तथा कर्मठ कार्यकर्ता की आवश्यकता है।

वेतन	...	...	१००)	...	प्रतिमास
मार्गव्यय	...	...	२५)	...	"

मन्त्री,
बिहार हरिजन सेवक संघ,
पटना ४

सस्ती, सुन्दर, तथा शीघ्र — छपाई के लिए

वैशाली प्रेस

बी० एम० दास रोड,
पटना–४

मुद्रक—वैशाली प्रेस, पटना–४

आगत

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

वर्ष – एक
सितम्बर, १९५१
अंक – दो

सम्पादक
नगेन्द्र नारायण सिंह
गिरीन्द्रनारायण, मोहिनीमोहन

वार्षिक मूल्य — पांच रुपया
एक प्रति — आठ आना

बापा

इस अंक के लेख और लेखक

बापा और राजगोपालाचार्य

वर्ष एक

आगत

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

अंक दो

पटना, सितम्बर १९५१

सम्पादकीय

विपन्न बाउरी

बाउरी बिहार में बहुत बड़ी संख्या में बसे हुए हैं। यह यहाँ के आदिम निवासियों में हैं। कभी जमीन के बड़े-बड़े टुकड़ों के काश्तकार, यह अब अधिकतर खेत-मजदूर हैं, रिक्शा-ठेला खींचते हैं, बीड़ी बनाते हैं, मजदूरी के लिए खानों, कल-कारखानों में भटकते फिरते हैं या, शहर-देहात में बहुत अधिक संख्या में निठल्ला रहते हैं।

बाउरी प्रायः स्वस्थ-सबल होते हैं। कोई-कोई काफी सुन्दर। बाउरी स्त्रियाँ खेतों में मजदूरी या सम्पन्न परिवारों में सेवा-वृत्ति करती हैं। गरीबी के कारण अलम्युनियम, पीतल या कंसकुट के ही सही लेकिन अलंकार इन्हें चाहिए। दाँतों को मिस्सी और शरीर को गोदनों से सजाती हैं। कितने ही कामों के लिए बाउरी अछूत हैं, लेकिन बर्तन माँजने या ऐसे ही अन्य घरेलू धन्धों तथा श्रीमानों की वासनाओं की तृप्ति के लिए बाउरी अछूत नहीं हैं।

बाउरी हिन्दू देवी-देवताओं को पूजते हैं। मृतकों को जलाते हैं। इनकी बोली में हिन्दी, खोरठा और बंगला के शब्द मिले-जुले मिलते हैं। श्रावण में मनसा देवी की पूजा और बलिप्रदान तथा दीवाली के अवसर पर पितरों का वर्ष-श्राद्ध और भोज धूमधाम से करते हैं।

कई शाखाओं में विभक्त बाउरी एक दूसरे में विवाह करते हैं। इनमें बाल और बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित है। ममेरे, चचेरे या सात पीढ़ी के अन्दर विवाह नहीं करते। वर-पक्ष कन्या की खोजमें निकलता है। विवाह का रस्म कन्या के घर होता है। विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में पुरखों की प्रशंसा भरी रहती है। वर-पक्ष पान-मिठाई के लिए थोड़ा रुपया देता है—भोज होता है—स्त्री-पुरुष मिलकर शराब पीते हैं और विवाह हो जाता है।

बाउरियों का विवाहित जीवन प्रायः सुखप्रद नहीं होता। तलाक की बहुलता इनको तबाह कर रही है। छोटी-छोटी बातों को लेकर मर्द, और स्त्रियाँ अधिकतर, निःसंकोच तलाक दे देती हैं। विवाह के अवसर पर दी जाने वाली लोहे की चूड़ी उतार कर मुखिया से कह देने से ही रस्म पूरा हो जाता है। मंजूरी में दिक्कत नहीं होती। तलाक के बाद स्त्री स्वतंत्र हो जाती है। दूसरी शादी कर ही लें, यह जरूर नहीं। विधवा विवाह-प्रचलित होने पर भी सभी विधवाएँ पुनर्विवाह नहीं करतीं। यह भी होता है कि बहुत-सी बाउरी लड़कियाँ विवाह के बाद कभी पतिगृह नहीं जातीं। इन सभी स्त्रियों का जीवन स्वेच्छापूर्ण बन जाता है।

बाउरी अपने आप में सुखी नहीं हैं। इनकी समस्याएँ गंभीर हैं। वह इनको खा रही हैं जैसे। शारदा-कानून के रहते हुए भी यह बाल-विवाह करते ही जा रहे हैं। अछूत मानकर देवस्थानों में यह नहीं घुसने दिये जाते न हजाम वगैरह इनकी वृत्ति कमाते हैं। कुँआ और तालाबों के अभाव में बाउरी बस्तियों में जल-संकट रहता है और प्रान्त के कितने ही जिलों में कुँआ के लिए दी जाने वाली सरकारी रकमें वर्ष के अंत में लौटाई जाती हैं कि खर्च नहीं हो सकीं! अपनी जमीन को खोकर, बाउरी मर्द काफी बड़ी संख्या में बेकार बैठे रहते हैं। बाउरी स्त्रियों को जो काम मिलता है, वह इनकी समस्या का समाधान नहीं है। जीवन की आवश्यकताओं से बिलकुल शून्य घरों में दासी वृत्ति से अर्जित पैसा काम ही क्या दे। श्रम के पैसों में उन्हें पाप का पैसा मिलाना पड़ता है। पैसा आता है और पैसों में लगकर संक्रामक विषाक्त रोग।

बाउरियों का प्रश्न मानवता को खुली चुनौती है। अभावों के कारण यह अनीति की राह पर जा रहे हैं। परम्परावश वह भी, जो अपेक्षाकृत सम्पन्न हैं। बहुत से घरों में सम्पन्नता स्वच्छन्दता की देन होती है।

विहार राज्य की सरकार, लोक-कल्याण-कार्य में लगी संस्थाओं और स्वतंत्र जन-सेवियों का ध्यान बाउरियों की समस्याओं की ओर तुरंत जाना चाहिए। स्वयं बाउरी भी सोचें और कुछ करें।

माधव श्रीहरि अणे

सेवा का आदर्श

देश की सबसे बड़ी सेवा हो अगर प्रयाप्त संख्या में उत्साही लोग समाज और मानवता की सेवा का व्रत ले लें। लेकिन निःस्वार्थ समाज-सेवा की भावना से वही प्रेरित हो सकते हैं जो समाज को ईश्वर का प्रतिरूप मानते हैं। ईश्वर अदृश्य है। जिसका मस्तिष्क और ज्ञान-तंतु विकसित हो चुका है वही अदृश्य निराकार ब्रह्म का ध्यान कर सकता है। साधारण लोग ऐसा नहीं कर सकते। वह सगुण में ही निर्गुण की आराधना करते हैं। प्रकृति-पूजा या मूर्ति-पूजा का श्रीगणेश इसी प्रकार हुआ। पूजा के लिए अपना इष्ट चुन कर हम उसे पवित्रता और सौन्दय के वातावरण में रखते हैं। पूजा की पद्धति चार भागों में बँटी हुई है। आराध्य को स्वच्छ-पवित्र स्थान में रखना। आसपास सौंदर्य, सुगंधि और उल्लास का वातावरण बनाना। उत्तमोत्तम नैवेद्य और उपभोग की अन्य सामग्री भेंट चढ़ाना। अंत में, संसार के मंगल-सुख के लिए प्रभु से याचना-प्रार्थना।

सेवा की पहली सीढ़ी है स्वास्थ्य और स्वच्छता का प्रबंध। तब बौद्धिक विकास और सुरुचि की भावना का प्रचार। फिर सेवक द्वारा अपनी सर्वप्रिय सामग्रियों का अर्पण और उच्छिष्ट का ग्रहण करना। अंत में, मानव-जाति या विशाल ब्रह्माण्ड की सुख-समृद्धि में अपने आप को खपा देना— विलीन कर देना।

मानव के अध्यात्मिक आत्म-विकास के लिए मूर्ति-पूजा की महत्ता को सभी धर्मों और सम्प्रदायों ने माना है। निराकार का चिन्तन साकार की आराधना से आरंभ होता है। संसार ईश्वर की सृष्टि, उसकी देन है। बाइबिल में लिखा है कि ईश्वर ने मानव को अपना प्रतिरूप बनाया। हिन्दू तत्त्वज्ञानियों ने इस सिद्धान्त का प्रचार बहुत पहले ही किया जब प्रभु ईसा कुमारी मेरी से प्रसूत भी नहीं हुए थे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि सम्पूर्ण सृष्टि में, सूक्ष्मतम 'स्तंब' से विराट् 'ब्रह्म' तक—आब्रह्मस्तंबपर्यन्तम्—सब जीवों में मानव रूप ही परमात्मा को सबसे प्रिय—तासाममेपौरुषीप्रिया—है। श्रीमद्भागवत में श्लोक है—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान्सरीसृपपशून्खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥२८॥

भागवत ११।९।२८

भगवान् ने अपनी अजेय माया शक्ति से वृक्ष, सरीसृप, पशु, पक्षी, डाँस और मत्स्य आदि नाना प्रकार की योनियाँ रचने

पर उनसे सन्तुष्ट न होकर जब ब्रह्मदर्शन की योग्यतावाले इस पुरुष-शरीर को रचा, तभी प्रसन्नता प्राप्त की। [अतः यह मनुष्य-देह ही सर्वश्रेष्ठ है।] ॥ २८ ॥

अतएव मुक्ति की कामना करनेवाले के लिए ईश्वर का मानव-रूप ही मनन, पूजन और चिन्तन के लिए सबसे उपयुक्त है। श्रीव्यास से लेकर आधुनिक महर्षि रमण तक सभी सन्तों ने दशावतार में सातवें और आठवें अवतार पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र और भगवान श्रीकृष्ण को ही सर्वसाधारण की पूजा के लिए सबसे अधिक उपयुक्त और फलप्रद माना है। इन्हीं दो अवतारों में ईश्वर सुव्यवस्थित मानव-समाज के सदस्य के रूप में प्रकट हुए और शासक, उपदेशक या योद्धा बनकर उन्होंने समाज की सेवा की।

तन्त्र शास्त्रों में लिखा है कि पूजा के समय आराध्य को अभिषेक—स्नान कराते हुए साधक ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का पाठ करे। इस सूक्त में सृष्टि की आरभिक कथा वर्णित है—किस तरह आदि तत्त्व क्रमशः परिवर्तित होकर सुव्यवस्थित प्रगतिशील समाज के रूप में सुगठित हो गया। ईश्वर को सहस्र सिरवाला, सहस्र नेत्र और सहस्र पदवाला—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् कहा गया है। निस्सन्देह सहस्रों प्राणीवाले समाज का यह वर्णन अत्यन्त सुन्दर है। आराध्य की लघु मूर्ति के सामने बैठकर साधक मानव-समाज को ईश्वर का प्रतिरूप मानकर पूजे, यह भी शास्त्र का बचन है। पुरुष सूक्त में मानव-समाज का चित्रण भौतिक शरीर के रूप में किया गया है। मानव-समाज के विभिन्न अंगों और देवताओं को ईश्वर का अंग-प्रत्यंग माना गया है। इस तरह सारा सम्मिलित समाज ईश्वर का स्वरूप है—समाज का छिन्न-भिन्न आकार नहीं।

ईश्वर की सम्पूर्ण महान कल्पना को समाज के रूप में चिन्तन के लिए क्यों कहा गया है? पुरुष सूक्त के अंत में इसका अर्थ भरा उत्तर है। यह कि जो देवताओं की तरह स्वर्ग-सुख भोग रहे हैं अपने त्याग-बलिदान से ही उस अवस्था को प्राप्त हुए। इसी कारण बलिदान धार्मिक कृत्यों की प्रथम क्रिया मानी जाती है। सम्पूर्ण मानव-समाज ईश्वर का प्रतिरूप है। त्याग-बलिदान से ही ईश्वर प्रसन्न होते हैं। साधक प्रभु के चरणों में त्याग-बलिदान द्वारा ही पहुँच सकता है।

समाज-सेवा के आदर्श को अपनाते हुए हम समाज को प्रभु का प्रत्यक्ष प्रकट रूप स्वीकार करते हैं। अतएव समाज के प्रति हमारा दृष्टिकोण विनम्र होना चाहिए। समाज सुख-चैन से रहे इस हेतु अपने कार्य-क्रम में हम स्वस्थ-स्वच्छ समाज की रचना पर ध्यान रखें। समाज के लिए पौष्टिक भोजन और वस्त्र जितना आवश्यक है उतना ही शिक्षा प्रचार।

जन-सेवी जितना स्वयं करते नहीं, उतना वे श्रम की प्रतिष्ठा-महत्ता की बात करते हैं। शिक्षित हरिजन और आदिवासी शारीरिक श्रमवाले अपने गृह-शिल्पों की ओर तब तक नहीं झुकेंगे जबतक तथाकथित उच्चवर्ग के शिक्षित लोग उस तरह के काम स्वयं करके अपने उदाहरण से श्रम की मर्यादा का प्रदर्शन नहीं करते।

समाज-सेवियों को उन लोगों के बीच रहना चाहिए जिनकी सेवा वे करना चाहते हैं। जहाँ तक संभव हो उन्हें सेव्य की तरह ही रहना चाहिए। दीन-हीन लोगों को यह

बदरीनाथ वर्मा

बापा और अमृत

ठक्कर बापा का जीवन त्याग, तपस्या और सेवा का जीवन था। मानवता की सेवा को ही उन्होंने ईश्वर की आराधना समझा था और मृत्युपर्यन्त वे उसी में निःस्वार्थ भाव से लगे रहे। भारत के हरिजन तथा आदिमजाति के लोग उन्हें कदापि नहीं भूल सकते क्योंकि अपने जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा उन्होंने उन्हीं की शिक्षा-दीक्षा तथा आर्थिक, सामाजिक और नैतिक उत्थान के प्रयत्नों में लगाया था। ठक्कर बापा को आधुनिक दधीचि कहा गया है। वे सच्चे अर्थ में दानी थे। दलितों और पीड़ितों की पुकार पर वे दौड़ जाते थे और अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी यदि वे उनकी कुछ सहायता कर सकते थे तो उसके लिए प्रस्तुत रहते थे। इन अतुलनीय सेवाओं के लिए उन्होंने कभी न नाम खोजा, न पद या प्रशंसा। सेवा में उन्हें जो सन्तोष मिलता था उसी को सदा उन्होंने अपने लिए पर्याप्त पुरस्कार माना। परन्तु संसार का कितना बड़ा भी कोई उपकारी क्यों न हो और उसके चिरस्थायित्व की कामना लोग कितना भी क्यों न करें, वह शरीर से अमर नहीं हो सकता है। ठक्कर बापा पूर्ण आयु भोगकर स्वर्गवासी हुए। पर उनका काम अधूरा रह गया। भारत जैसे गरीब देश में, जहाँ पीड़ितों और दलितों की संख्या अपार है, ठक्कर बापा के काम को चालू रखना केवल आवश्यक ही नहीं वरन अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में एक ऐसे पत्र का रहना आवश्यक है जो उस वीतराग सेवा व्रती महर्षि के आदर्शों की याद लोगों को दिलाता रहे और उनके पदचिन्हों पर चलने की प्रेरणा देता रहे। मैं आशा करता हूँ 'अमृत' इस आवश्यकता की पूर्ति करेगा और ठक्कर बापा के कार्य को आगे बढ़ाकर उनका सच्चा स्मारक बनेगा। उनके नाम पर प्रकाशित 'अमृत' की मैं हृदय से सफलता की कामना करता हूँ।

सेवा का आदर्श......

भान हो जाना चाहिए कि उनकी सेवा करनेवाला उनके बीच का आदमी है—उन्हीं की तरह है, उनसे ऊँचा-बड़ा नहीं। ऐसा करने से जो वातावरण तैयार होगा उसमें विचारों के फलप्रद आदान-प्रदान और उनके अपनाए जाने की सुविधा होगी।

जन-सेवी में संन्यासी जैसा आत्मत्याग और कर्मयोगी जैसा अध्यवसाय और लगन आवश्यक है। उसके हृदय में सबके लिए प्रेम हो, घृणा किसी के लिए नहीं। जिनकी सेवा का उसने व्रत लिया है उनके जीवन में उसे घुल-मिल जाना चाहिए।

ठक्कर बापा के नाम से प्रसिद्ध स्वर्गीय अमृतलाल ठक्कर समाज-सेवा के इसी आदर्श के प्रतीक थे।

जगलाल चौधरी

पुरुष और परिस्थिति

पुरुष और परिस्थिति का संबंध कितना घनिष्ट है यह इतिहास का हर विद्यार्थी जानता है। इसका अध्ययन भी बड़ा ही रोचक और आवश्यक है।

यहाँ मैं यह बतलाने की कोशिश नहीं करूँगा कि पुरुष परिस्थिति को पैदा करता है या परिस्थिति पुरुष को। इस प्रश्न का उत्तर इतना सीधा है भी नहीं। दोनों प्रकृति के परिणाम होते हैं और उनका विकास प्राकृतिक ढंग से ही होता है - एक स्वाभाविक नियम के अनुसार। यहाँ मैं जिस परिस्थिति और पुरुष की बात करता हूँ उसका संबंध है समाज से—मानव-समाज से—हमारे विकास से। यह कहना कि योगेश्वर कृष्ण ने एक परिस्थिति विशेष को पैदा किया या परिस्थिति विशेष ने ही योगेश्वर जैसे पुरुष का सृजन किया—उतना सीधा नहीं। पर हम इतना तो विश्वास के साथ कह सकते हैं कि दोनों— पुरुष और परिस्थिति एक दूसरे को प्रभावित करते हैं - उनके सृजन, विकास और संहार तीनों में। यह हम सभी जानते हैं कि पिछले दो अरब वर्षों के अन्दर बदलती हुई परिस्थितियाँ किस प्रकार नये नये प्राणियों को पैदा करती गईं या यों कहिए कि जीव का विकास होता गया और तब का मेढ़क आज का आदमी बन गया। साथ-साथ हम यह भी जानते हैं कि विभिन्न प्रकार के प्राणियों ने अपने चारों ओर के वातावरण को बदलने में कम हाथ नहीं बटाया। आज का मानव परिस्थिति को किस तरह अपनी इच्छा के अनुकूल बदल रहा है यह बात भी हम से छिपी नहीं। वह परिस्थिति को बदलता चला जा रहा है, परिस्थितियाँ भी उसे प्रभावित किये बिना नहीं रहतीं।

प्रायः सभी युग-प्रवर्तक आविष्कार पुरुष और परिस्थिति की इस घनिष्टता और अन्योन्याश्रयिता के ज्वलंत उदाहरण हैं। यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि कभी-कभी पुरुष को अनुकूल परिस्थिति अथवा परिस्थिति को योग्य पुरुष नहीं मिलने से इतिहास के बहुत से अध्याय कल्पना लोक में ही अंकित होकर रह जाते हैं। अगर मार्क्स-जैसा मनीषी और अन्वेषक तथा लेनिन-जैसा नायक न होता तो अनुकूल परिस्थिति होने पर भी रूसी क्रान्ति को वह सफलता नहीं मिलती जो मिली। साथ ही मार्क्स और लेनिन वे मार्क्स और लेनिन न होते अगर क्राँति की ज्वाला में तपने और तपकर अपनी कुशलता और मार्क्स के अन्वेषण की सत्यता का परिचय देने का अवसर लेनिन को न मिलता। इतिहास के विश्लेषणात्मक अध्ययन से ऐसे हजारों उदाहरणों का पता लगेगा। विश्व

विभूति बापू के संबंध में भी यही सत्य है कि परिस्थिति ने उन्हें बाध्य किया विश्व को नया और अमोघ अस्त्र देने को, लड़ाई का नया ढंग सिखलाने को। साथ ही विश्व की परिस्थिति को भी बापू का सहारा मिला हिंसा, द्वेष और विद्वेष की ज्वाला में जलती कराहती दुनिया को प्रेम और शान्ति की शीतल धारा।

किन्तु जब मैं कृष्ण, बुद्ध, ईसा मार्क्स, लेनिन, बापू या ऐसे अन्य महात्माओं की बात कहता हूँ तो आशय केवल उन्हीं से नहीं। मतलब है उस समय के समाज से जिस की भावनाओं का, जिसकी कामनाओं का, जिसकी आशाओं और निराशाओं का, शक्तियों और कमजोरियों का वह युग-पुरुष-विशेष एक मूर्तरूप, प्रतीक या प्रतिनिधि हुआ करता है। मैंने 'पुरुष' शब्द का व्यवहार इसी व्यापक अर्थ में किया है। आखिर पितामह की पीठ पर तीर चलाने वाले पार्थ के गुरु योगेश्वर की कमजोरी किसकी कमजोरी थी? गर्भवती सीता को अकारण वनवास देनेवाले मर्यादा पुरुषोत्तम का पाप किस का पाप था? इच्छा न रहने पर भी पाकिस्तान को कबूल कर लेने की सलाह जनता को देनेवाले बापू की दुर्बलता किसकी दुर्बलता थी? इसी प्रकार उन महान पुरुषों की शक्तियों का भी हम अन्वेषण करें।

पुरुष और परिस्थिति के इस व्यापक रूप का अध्ययन ही समाज और इतिहास का अध्ययन है और यह जितना ही रोचक है उतना ही गंभीर। जब तक हम यह अध्ययन सही-सही नहीं कर पाते तबतक भविष्य की ओर निरन्तर कदम उठाता हुआ व्यक्ति और समाज न केवल बराबर भूल ही करता जाएगा वरन समाज का बनता अध्याय विलीन भी होता जाएगा और नई-नई समस्याओं का सृजन हुआ करेगा। अतः अगर हमें भविष्य को अपने काबू में रखना है—भावी को अपने अनुकूल बनाना है—परिस्थितियों का मुकाबला सफलता पूर्वक करना है—तो हमारे लिए उपर्युक्त अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

बहुतों का खयाल है कि समाज सेवियों के लिए अध्ययन की उतनी आवश्यकता नहीं। वे केवल कार्यनिष्ठा में ही विश्वास रखते हैं। किन्तु मेरे विचार में उन की यह धारणा सही नहीं है। कार्यनिष्ठा का महत्व कम नहीं है, पर जबतक वे उस समाज की—जिसकी सेवा वे करते हैं—शक्तियों और कमजोरियों का, तत्कालीन परिस्थितियों का और संभाव्य घटनाओं का अन्दाज ठीक-ठीक नहीं लगा पाते तब तक वे लोगों को सभी समय उचित सलाह नहीं दे सकेंगे। हाँ, कार्यशीलता भी अध्ययन का एक अंग है सही।

महज स्थूल उदाहरण के लिए यह कि मेरे यहाँ रोज ही कुछ न कुछ गरीब लोग अपनी-अपनी दुख की कहानी सुनाने आते हैं। उनकी कहानियों का उद्‌गम रहता है उनकी गरीबी और धनिकों के साथ उनकी बिलकुल एकतरफा लड़ाई में। वे एक दुष्ट चक्र के फेर में पड़े होते हैं और समाज की

कुव्यवस्थाओं के शिकार होते हैं। सच पूछिए तो वे न्याय न तो न्यायालय में ही पा सकते हैं और न मैदान ही में। फिर भी बेचारे न्यायालय में तो घिसट कर आ ही जाते हैं न्याय की वेदी पर बलिदान के बकरे की तरह लाचार हो अपनी गर्दन झुका देने के लिए। कोई उन्हें क्या उचित सलाह दे? शासन या उससे सम्बन्धित किसी व्यक्ति की जो आम सलाह होती है उससे उनका कल्याण नहीं, जिस सलाह से उनका कल्याण हो सकता है वह शासक के मुंह में शोभता नहीं, प्रतिष्ठित न्याय को कबूल नहीं। फिर भी अगर शासन या तथाकथित न्याय की परवा न कर कोई कुछ सलाह दे भी तो क्या दे? शायद वह सलाह उस गरीब को ग्राह्य ही न हो, उसे सलाह पर चलने की क्षमता ही न हो। यही कारण है कि सदा परिस्थिति और पुरुष का अध्ययन देश, काल और पात्र की पृष्ठभूमि में करना आवश्यक हो जाता है।

आदमी का कार्य क्षेत्र छोटा हो या बड़ा, उसे सदा अपने ही क्षेत्र के अनुकूल सलाह लेनी और देनी पड़ती है। उपर्युक्त 'पुरुष और परिस्थिति' का अध्ययन इसी सलाह और विचार के आदान-प्रदान को एक व्यापक नींव पर स्थित करने के लिए आवश्यक है।

भारत के सामने तो रोज ही भयंकर-से-भयंकर प्रश्न मुँह बाये खड़े रहते हैं और उनका तत्कालिक और स्थायी हल खोजने के सिलसिले में सदा ही उक्त अध्ययन का सहारा लेना आवश्यक होगा। साथ ही समाज में आत्म-निर्भरता की यह भावना भी आनी चाहिए कि वही अपने भविष्य का निर्माता हुआ करता है, वही इतिहास के पन्नों का विषय है। जब तक पुरुष को वह शक्ति नहीं, परिस्थिति उस का शिकार करती है और वह असम उसके चंगुल में फँस कर अपना अस्तित्व ही खो बठता है। अतः केवल अध्ययन ही आवश्यक नहीं वरन समाज को अपना आत्म-दर्शन करना भी आवश्यक है। आज भारत का जो वर्ग सब से गिरा हुआ है उसमें इस आत्म-दर्शन की बड़ी कमी है। वह अध्ययन क्या करे! पुरुष का पुरुषत्व तब तक काम नहीं करता जब तक वह अपने आप को नहीं पहचानता। जिस समाज को अपनी शक्ति का ही भान नहीं वह परिस्थिति पर प्रभाव क्या डालेगा? उसे अपने साँचे में क्या ढालेगा? अतः आज पिछड़ा वर्ग अपना आत्म-दर्शन करे। शायद इस हनुमान् को अपनी शक्ति की याद दिलाने के लिए समाज सेवियों को पहले जाम्बवान् बनना पड़ेगा।

"... ...हिंसा के मुकाबले में लाचारी का भाव आना अहिंसा नहीं, कायरता है। अहिंसा को कायरता के साथ मिला नहीं देना चाहिए।"

—महात्मा गान्धी

जगदीशचन्द्र माथुर

सहभोज

मेरे पिता † कई मामलों में सुधारवादी ही नहीं थे, क्रान्तिकारी भी थे। प्रायः देखा जाता है कि आयु के साथ भावनाएँ कुंठित होने लगती हैं; नयापन खिलवाड़ लगता है, परिवर्तन अखरने लगता है। जो है, ठीक है, —अच्छा हो या बुरा। दुनिया बदली कब है— सैकड़ों सिर खपाकर मर गए। तो फिर छेड़-छाड़ से क्या लाभ? लेकिन मेरे पिता ज्यों-ज्यों साठ के निकट पहुँचते गए त्यों-त्यों नूतन का आकर्षण जादू की तरह उन पर चढ़ने लगा। आदर्शों के निमंत्रण ने उनके व्यक्तित्व में तारुण्य की चमक ला दी। अन्याय के विरुद्ध विद्रोह, सड़ी-गली सामाजिक रूढ़ियों को तुरंत नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए उतावलापन और नए और अज्ञात किन्तु आदर्शवादी विचारों की उच्छृँखल तरंगों पर निर्भीक हो अपनी नौका डालने की क्षमता—ये सब क्रांतिकारी के लक्षण नहीं तो क्या हैं?

एक घटना याद आती है। जमाना था शायद सन् ३२ के आन्दोलन से जरा पहले। सारा देश एक अजब दीवानेपन में झूम रहा था। मुल्क पर निछावर होनेवालों की आँखें क्षितिज पर सिर्फ बलिदान की लाली देख पाती थीं, इनाम और आराम के महल नहीं। कौन जानता था कब देश को आजादी मिलेगी, कब सकट टलेंगे, कब जंजीरें टूक-टूक होंगी? अभी तो बस जूझना है। एक पथ, एक प्रदर्शक, एक आवाज और हजारों चरण काँटों को चूमने के लिए ललक उठते!

उस समय राष्ट्रीय संग्राम और सामाजिक क्राँति एक ही प्रवृत्ति के दो पहलू थे। हिन्दू समाज में सुधार की लहर राष्ट्रीय उत्थान की भावना से ही अनुप्राणित थी, हालांकि १६२४-२५ की साम्प्रादायिकता ने दिल खट्टे कर दिए थे और वह अलबेलापन जिस में स्वामी श्रद्धानन्द ने इमाम की जगह से दिल्ली की जामामस्जिद में मुसलमानों की जमात में हिन्दू-मुस्लिम एकता का नारा उठाया—देश का वह बाँकापन देखते-ही-देखते गायब हो चुका था। फिर भी आपसी झगड़े सिर्फ ऊपरी बहक थे, भीतरी विष नहीं। हिन्दुओं ने सामाजिक अस्तव्यस्तता को संभाला; मुसलमानों ने अपनी तहजीब के मुलम्मे को चमकाया; लेकिन इन तैयारियों में एक दूसरे पर टूटनेवालों की पैतरेबाजी न थी, ये तो जनशक्ति के जागरण के चिह्न थे; अभिव्यक्ति चाहे जो हो, प्रेरणा तो एक ही थी।

---

† श्रीलक्ष्मीनारायण माथुर, प्रधानाध्यापक, जे० ए० एस० हाई स्कूल, खुर्जा (जिला बुलन्द शहर) यू० पी०। जन्म १८८७ ई०, मृत्यु १६४३ ई०।

शायद सन् ३० की बात है। गाँधीजी ने हरिजन उद्धार का जो मंत्र दिया तो हिन्दू समाज ने एक नई स्फूर्ति का अनुभव किया। मेरे पिता थे कट्टर गान्धीवादी; एकलव्य की तरह उन्होंने शिष्यता को निबाहा।

जिस विद्यालय में मेरे पिता प्रधानाध्यापक थे उसी के हाते में अस्पृश्यता-निवारण-संबंधी एक सम्मेलन हुआ। बड़ा उत्साह था। आर्यसमाज के प्रसिद्ध वक्ता और कांग्रेस के अथक कार्यकर्ताओं ने अपने जोशीले भाषणों से जनता को विमुग्ध कर दिया। मेरे स्मृति-पट पर उस सम्मेलन का जो चित्र अंकित है उसमें अपार जन समूह और महान् नेताओं की अलभ्य झाँकियाँ धुलमिल गई हैं। एक प्रसिद्ध नेता की गंगा-जमुनी दाढ़ी, दूसरे का रिमवाला चश्मा, तीसरे की उत्तरोत्तर गगनोन्मुखी वाणी! बारह-तेरह बरस की आयु में आँखें जो कुछ देखती हैं कल्पना की तूलिका उस पर अनजाने ही अनेक गहरे रंग लगा देती है और कहीं-कहीं बिल्कुल साफ छोड़ देती है। लेकिन इतना निश्चय है कि उस सम्मेलन ने मेरे बाल-हृदय को अनेक अस्पष्ट आदर्शों से ओत-प्रोत कर दिया। जन्मजात भावुकता को सामूहिक उल्लास का सहारा मिला और अहंकार विहीन सात्विकता से दिल भर गया।

सम्मेलन के तीसरे दिन निश्चय हुआ कि रात्रि में सहभोज होगा। अछूत और उच्च जाति के हिन्दू एक ही पंगत में बैठकर खाना खाएँगे। यह आज से बीस-इक्कीस बरस पहले की बात है, जब होटल, रेस्तराँ, सिनेमा इत्यादि ने रूढ़िगत संस्कारों के टीलों पर अपना 'बुल डोजर' चलाकर समाज को समतल नहीं बना दिया था। भाषण सुनने तो बहुतेरे आए; चन्दे भी कइयों ने दिए; नारे भी अनेकों ने लगाए। लेकिन हमारा नगर सेठों और दूकानदारों का क्षेत्र था। मौका आने पर दान कार्यों और संस्थाओं पर लाखों लुटा दें; पीछे रहकर जरूरी सहायता भी दे दें, लेकिन आगे बढ़ने को कहो तो अंतर्ध्यान हो जायँ। नतीजा यह हुआ कि शहर का कोई बड़ा आदमी सहभोज में आने के लिए तैयार नहीं हुआ। यों नौजवानों और वालंटियरों की कमी न थी। नेता लोग जो बाहर से आए थे भाषण दे-दे कर चले गए। अगर कोई बुजुर्ग सहभोज में शामिल न हुआ तो लोग उसे खिलवाड़ समझेंगे।

मेरे पिता भाषण वगैरह देने से झिझकते थे इसलिए सम्मेलन के मंच से अलग ही रहे। यों लौटने पर रोज शाम को दिन भर की कार्यवाही और समस्याओं पर विवेचना तो खूब होती ही थी।

सहभोज का वक्त करीब था तब उनके कानों में भनक पड़ी कि उस मौके पर शहर के अन्य सम्भ्रान्त सज्जन मुकर रहे हैं। नौजवानों की हिम्मत टूट रही है। फौरन छड़ी उठाई और सभास्थल पर पहुँच गए। बोले, कुछ परवाह नहीं। आज मैं तुम लोगों का नेतृत्व करूँगा।

बत्तियाँ जलते-जलते पंडाल भरने लगा। बराबर वाले शामियाने में इकरंगे बिछाकर भोजनार्थियों के बैठने का प्रबन्ध किया गया। कुछ दूर पर कढ़ाइयों में पूरी-कचौड़ी तैयार हो रही थीं। कार्यकर्त्ताओं में अभूतपूर्व जोश था। जितने खानेवाले थे उससे अधिक तमाशबीन। कुछ के चेहरों पर व्यंग्य था कुछ के श्रद्धा; कुछ केवल उत्सुक थे। हरिजन भी आए; साफ-सुथरे कपड़े पहने, चकित-से, डरे-से, लाज के भार से दबे-से। चुनौती या विद्रोह की गंध न थी। लेकिन शायद अन्तस्थल में अविश्वास था, पर उस समय मैं इतने गहरे पैठ नहीं पाया। असल में उन में से अधिक संख्या आर्यसमाज के संपर्क में आये हुए हरिजनों की ही थी जो पहले से ही प्रदर्शन के आदी थे और जिनके ऊपर 'महाशय' पदवी की मुहर लग चुकी थी।

पिताजी आगे बढ़े और बीचवाले इकरंगे पर जाकर बैठ गए। हमलोगों ने भी अपने-अपने लिए स्थान चुना। चारों तरफ दर्शकों की भीड़ लगने लगी। सहसा किसी ने कहा कि हरिजनों में कोई मेहतर तो है ही नहीं। बात ठीक निकली। सभी जात के हरिजन थे, संख्या कम थी, और मेहतर कोई न था। समय गुजर रहा था।

पिताजी ने कहा—जाहरिया को बुलाओ।

हमलोग कुछ चौंके। जोश के परिधान के नीचे जो रूढ़िगत संस्कारों का पुतला था वह कुछ भड़का। जाहरिया! स्कूल का भंगी!

जाहरिया भंगी था। वह और कुछ न था, केवल भंगी था। याद नहीं पड़ता कभी उस ने अपने को औरों की तरह मनुष्य समझा। याद नहीं पड़ता कभी उसके चेहरे पर व्यथा की रेख या लालसा का वेग दीखे हों। हमेशा हँसमुख, हमेशा तन्मय! कहूँ कि वीतराग था तो व्यंग जान पड़ेगा या अतिशयोक्ति। किन्तु इतना निश्चय है कि राग-द्वेष उसे छू न गया था। वह संत न था। शायद मूढ़ रहा हो! कौन जाने हम जिसे मूढ़ समझते रहे वह शायद मन में हम ही पर हँसता रहा हो!

पिताजी ने जब कहा कि जाहरिया को बुलाओ तो हमलोग चौंके अवश्य। मर्दुम-शुमारी में जिसे हम शायद आदमियों में गिनते भी नहीं उसे पिताजी सहभोज में शामिल होने को बुला रहे हैं। समझ न पड़ा कि हँसें या नाराज हों। लेकिन पिताजी के चेहरे पर देखी सचाई भरी दृढ़ता और हम लोगों को कुछ बोलने की हिम्मत न पड़ी।

जाहरिया आया। वही भंगिमा, वही सहज निष्कपट हँसी, वही मिची-मिची-सी आँखें, वही भाव-शून्य चेहरा! पता नहीं वह उस मंडप की हलचल को समझ भी पा रहा था या नहीं। बेखबर हँस रहा था। अन्य हरिजन कुछ सकुचे, कुछ शरमाए। लेकिन जाहरिया वही था जो और कहीं होता। अजब मजाक था। जाहरिया और उस मजमे का 'हीरो'! सारी आँखें उसपर थीं, कोई मखौल कर रहा था, कोई घुड़की तक

दे रहा था। लेकिन जाहरिया को झिझक थी, न कोई बेताबी !

थोड़ी देर बाद हमलोगों ने देखा—जाहरिया पिताजी के ठीक बराबर में बैठा था। पत्तलें परस चुकी थीं। स्कूल के प्रधानाध्यापक और स्कूल का भंगी—बराबर एक आसन पर, एक भूमि पर बैठे अन्नपूर्णा के प्रसाद की प्रतीक्षा कर रहे थे। मैंने देखा—पिताजी के चेहरे पर अमित शांति, अनन्त करुणा, अनिर्वचनीय संतोष खेल रहे थे और मुझे लगा—मानो युग-युग के बन्धन टूट गए हों, मानो मानवता की नींव उन्होंने पा ली हो, वह नींव जो समतल है, स्वच्छ है, शीतल है।

वेद मंत्रोच्चारण प्रारम्भ हुआ—ओं विश्वानिदेवसवितुर......। अद्भुत शांति छा गई—बाहर भी, भीतर भी। उस आलोक की छाया में हमलोगों ने सहभोज प्रारम्भ किया।

× ×　　× ×　　× ×

दूसरे दिन शहर में सनसनी थी। छोटा-सा शहर जहाँ नन्हीं घटनाएँ इतिहास बन जाती थी और जहाँ गिरा सनयन थीं और वाणी को कल्पना की आँखें तो मिली ही थीं। स्कूल के प्रधानाध्यापक ने भंगी के साथ बैठकर खाना खाया ! गजब हो गया !

"अजी एक ही पत्तल में खाया, एक ही पत्तल में !"

"और कोई नहीं मिला साथ में बिठाने को !"

"आखिर अछूत भी तो तरह तरह के होते हैं !"

"वह भी स्कूल का भंगी ! अपना ही भंगी !!"

"हेडमास्टर साहब की मत मारी गई है ! धरम करम अपना भी नाश किया, दूसरों का भी !"

"भला ऐसी बातों का लड़कों पर क्या असर होगा !"

जितने मुह उतनी बातें। हमारे पास भी सूचना देनेवालों की कमी न थी। कुछ नमक-मिर्च लगाकर ही लोग कहते। एक भूचाल-सा आ गया शहर में। हर जगह वही चर्चा।

स्कूल के मालिक और मैनेजर तक यह बात पहुँची। वे नौजवान थे, पिताजी के शिष्य रह चुके थे और निजी रहन-सहन में नया तरीका पसन्द करते थे। लेकिन मामला उनके व्यक्तिगत दृष्टिकोण के बाहर हो गया। स्कूल का संचालन एक ट्रस्ट-कमिटी के हाथ में था और उसमें शहर के दो-चार धनी-मानी सज्जन थे, मैनेजर साहब की ही बिरादरी के। बिरादरी से उनका निजी जीवन की स्वच्छन्दता के विषय में समझौता-सा था जिसके फलस्वरूप उनके मुसलमान 'बेरा', उनके अंगरेजी खाने, उनकी विदेशी धजा के प्रति बिरादरी उदासीन थी और वे भी बिरादरी के मामलों में दखल नहीं देते थे। लेकिन यह मामला टेढ़ा आ पड़ा था। उन्ही के स्कूल में प्रधानाध्यापक खुले-

आम ऐसा अनर्थ कर बैठें और बिरादरी चुपचाप बैठी रहे ! मैनेजर साहब ने मामले को दबा देना चाहा। पिताजी की वह बहुत इज्जत करते थे, और स्कूल के अन्दरूनी मामलों में सारी बागडोर उन्हीं के हाथ में दे रखी थी। लेकिन ट्रस्ट-कमिटी के सदस्यों का बहुत जोर पड़ा तो उन्हें कमिटी की एक विशेष मीटिंग बुलानी पड़ी। विषय था— प्रधानाध्यापक का स्कूल के भंगी के साथ सहभोज में भाग लेने पर विचार।

उन्हीं दिनों पिताजी बीमार पड़ गए। सख्त बीमार। मेरे स्मृतिपट पर उस बीमारी का चित्र भी एक भयावह छाया की भांति फैला हुआ है, घनीभूत और स्पष्ट। बीमारी के दिनों में उनकी डाक मैं खोलता था; समाचार पत्रों में से अवतरण सुनाना, गान्धीजी के लेखों और रवीन्द्रनाथ के गीतों को पढ़कर सुनाना, चिट्ठियाँ लिखना—कुछ ऐसे ही विविध कार्य कभी-कभी मुझे मिल जाते थे। एक दिन डाक में एक चिट्ठी पढ़ी। शाहजहाँपुर में एक पुराना स्कूल था जिसके मैनेजर हमलोगों के एक दूर के रिश्तेदार ही थे। उन्हीं की चिट्ठी थी। उन्होंने सुना कि पिताजी का ट्रस्ट-कमिटी से कुछ मतभेद हो गया है और शायद स्कूल उन्हें छोड़ना पड़े। ऐसी हालत में क्यों न शाहजहाँपुर के स्कूल में प्रधानाध्यापक के पद पर आ जायँ ? स्कूल अच्छा है, वेतन ज्यादा मिलेगा। मकान मुफ्त और अन्य सहूलियतें भी। और फिर मैनेजर अपने ही आदमी, पूरी आज़ादी दे देंगे। ऐसे अनुभवी और योग्य प्रधानाध्यापक की उन्हें जरूरत भी है।

चिट्ठी पढ़कर मन में कुछ गुदगुदी-सी हुई। चलो इस झंझट से तो छूटेंगे। और सब से ज्यादा आकर्षण था नए स्थान का, नए वातावरण का ! ठीक मौके पर यह निमंत्रण आया; मुंहतोड़ जवाब और मुँहमांगी मुराद !

पिताजी ने मेरे चेहरे पर उत्सुकता और प्रसन्नता के चिह्न ताड़ लिए। लेकिन कुछ बोले नहीं। हाथ से लिखा एक पोस्ट-कार्ड दिया और कहा कि इसे डाकखाने में डाल आओ, लेकिन, देखो, पढ़ना मत।

पढ़ना मत ?......तबतो जरूर ही कोई दिलचस्प बात होगी। मानी हुई बात है कि प्रायः वर्जन ही निमंत्रण हो जाता है; निमंत्रण ही नहीं, सम्मोहन। सो पोस्ट-कार्ड पढ़ ही तो डाला। शाहजहाँपुर वाली चिट्ठी का जवाब था। पिताजी ने लिखा था – "आप के सौहार्दपूर्ण आमंत्रण को अस्वीकार करते हुए मुझे बुरा लग रहा है, क्योंकि आप के आग्रह के पीछे सहानुभूति ही नहीं स्नेह भी है। लेकिन आप को शायद न मालूम हो कि यहाँ जिस परिस्थिति में मैं अपने को पाता हूँ वह मेरे लिए सिद्धान्त की चुनौती है। ऐसी चुनौती से मैं मुंह मोड़ने वाला नहीं। प्रदर्शन के लिए मैंने भंगी के साथ बैठकर खाना नहीं खाया है। तो फिर मुंह क्यों मोड़ूँ ? संघर्ष से विमुख होना

विश्वानन्द

कार्यकर्त्ताओं के बापा

मैसूर को यह सौभाग्य प्राप्त है कि वह बापा को अपनी ओर बार-बार खींच सका और उनसे प्रेरणा प्राप्त कर सका। हम उनके ऋणी हैं कि वह अपना आत्मिक प्रकाश और सेवा का सन्देश यहां छोड़ गये।

निजी कष्ट सुविधा को भूल, दीन दुखियों की सेवा के लिए वृद्धावस्था में देश के कोने-कोने में लगातार दौड़ते फिरने वाले अमृतलाल वि० ठक्कर कार्यकर्त्ताओं को एक पहेली लगते। उनकी क्षमता को देखकर वे दंग रह जाते।

प्रायः विचलित नहीं होनेवाले बापा जब दीन-दुखियों का कष्ट अपनी आँखों देखते, उनका धैर्य्य खो जाता। जब वे गरीबों के घरों में जाते, वहां की गन्दगी देखते, तो उनकी आँखें बरबस गीली हो जाती थीं, हमने प्रायः ऐसा देखा।

मानवता के सच्चे प्रेमी वयोवृद्ध बापा हम जैसे तुच्छ कार्यकर्त्ताओं के लिए प्रेरणा थे। बापू के प्रिय कार्यों के तो वे मानो आधार-स्तंभ ही थे।

सेवा-मार्ग के साथियों को बापा से बहुत कुछ सीखना है। उनका विनय, उनकी कार्य-निष्ठा, समय की पाबन्दी, यथार्थता इत्यादि गुण अपनाने ही लायक हैं।

बापा ने अपनी आंखों प्राचीन भित्तियों को गिरते देखा। इनके गिरने-गिराए जाने की जरूरत थी। यह सौभाग्य की बात है कि यह काम बापा जैसे कुशल नेता-कारीगर की देख रेख में सुरक्षित ढंग से हुआ।

जीवन और मृत्यु, दोनों ही में महान बापा का आदर्श हमारा पथ आलोकित करे कि हम सचाई के साथ अपने चारों ओर फैले हुए अन्याय और कष्टों को दूर करने में समर्थ हो सकें।

बापा दुनिया से चुपचाप चले गये। चुपचाप ही उन्होंने इसकी सेवा की। जब हमें उनकी सख्त जरूरत थी, हमने उन्हें खो दिया। बापा का कार्य और उनका आदर्श हमारे लिए प्रकाश-स्तंभ बनें। हम उनके झंडे को लेकर आगे बढ़ें—मानव की निःस्वार्थ सेवा के लिए चले चलें—उनके अधूरे काम को पूरा करें।

सहभोज······

सिद्धान्त के प्रति दगाबाजी होगी।......मुझे तो जूझना ही है। और यदि स्कूल से हटना ही पड़ा तो अन्यत्र नौकरी नहीं करूँगा। यह स्कूल मेरे बच्चे के समान है। शुरू से इसे पाला, पोसा। इसे छोड़ना पड़ा तो मेरा निश्चय है साबरमती आश्रम में जाकर महात्माजी के चरणों पर ही पड़ूँगा। और कहीं नौकरी का विचार नहीं है।"

मुझे याद नहीं पत्र पढ़कर मैं निराश हुआ या नहीं। लेकिन जीवन में जब कभी कमजोरी के क्षण आते हैं और असलियत के जाल में आदर्श स्वप्नवत् जान पड़ते हैं, तब यह उत्तर याद आता है और हिम्मत बढ़ती है। गुमराह अपनापन फिर से प्रतिष्ठित होता है।

लक्ष्मीनारायण साहु

माता की खोई सन्तान

सोचता हूँ तो कितनी ही बातें मन में उठने लगती हैं। दीन-हीन अस्पृश्य कही जानेवाली जातियों की ऐसी हालत क्या इस कारण नहीं कि उनको जमीन-जायदाद नहीं है? सरकार इसका प्रबंध कर सकती है। सारी जमीन राज्य की हो। बेजमीन लोगों को जमीन दी जाय। उनकी गुलामी दूर हो। अच्छा तो होता यह काम वह खुद करते जिनके पास जमीन है। गान्धीजी यही चाहते थे। लेकिन वे कान नहीं देते। मुट्ठीभर लोग सिर्फ हो-हा कर रहे हैं। इस से देश-व्यापी हाहाकार मिटने को नहीं। लाचार सरकार को सारे कानून बनाने पड़ेंगे। जाति-भेद को उठा देना पड़ेगा। मंदिर-प्रवेश का अधिकार सब को मिलेगा। बेगार और दासत्व प्रथा बंद होगी। तभी स्वराज का कोई अर्थ है। इस तरह के कानून बनाने या उसे चालू होने के मार्ग में जो रोड़े अटकायँगे चाहे वे कोई हों, उनके साथ वही सलूक हो जो कमाल पाशा ने अपने देश में समाज-विरोधियों के साथ किया था। थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन कोई अर्थ नहीं रखता।

× ×   × ×

शराब सर्वनाशी है। उसे पीकर मनुष्य चांडाल बन जाता है। जो शराबी हैं उनकी बुद्धि बिलकुल भ्रष्ट हो जाती है। शराब के नशे में मनुष्य कल्पनातीत पाप कर डालता है। कितने ही नर-रत्न इसकी आग में जलकर राख हो गए। यदुवंशियों का नाश इसने किया। 'शराब न पिओ, अपने को नष्ट न करो, अपने धर्म की रक्षा करो, मनुष्यत्व की रक्षा करो'—भगवान बुद्ध ने ऐसा कहा था। महात्मा गान्धी मद्य के विरोधी थे। इसके विरुद्ध उन्होंने घोर आन्दोलन चलाया। सभी देव-पुरुषों ने इसके परित्याग का सन्देश दिया है। लेकिन शराब आज भी धड़ल्ले से खपती है। अमीर-गरीब सभी इसका सेवन करते हैं। अस्पृश्य कही जानेवाली जातियों में इसका प्रचुर प्रचार है। इससे उनकी निर्धनता में योग होता है। जो व्यक्ति, व्यक्तियों का समूह या सरकार शराब बेचकर लोगों का सर्वनाश करती है उसे क्या कहा जाय?

× ×   × ×

शायद ही कोई विश्वास से वशीभूत होकर धर्म-परिवर्तन करता हो। लाचार होकर ही आदमी ऐसा करता है। भारत के आदिवासी या अस्पृश्य अपने समाज में मान-प्रतिष्ठा नहीं पाकर ही बहुत बड़ी संख्या में ईसाई या मुसलमान हो गए। अपने समाज में वे अपमानित होते थे। उनके मार्ग में रोड़े अँटकाए जाते थे। धर्म

परिवर्तन करते ही उन्हें नीच वृत्तियों से छुट्टी के साथ ही नए धर्म की प्रतिष्ठा और सामाजिक महत्ता मिल जाती थी। उनका मनुष्यत्व जाग उठता था। वे खुलकर सांस लेने लगते थे। वे हममें से चले गए, बात यहीं खतम नहीं हो जाती। वे अपने पुराने धर्म के शत्रु बन कर गए।

× × × ×

यह अछूत हैं कौन ? जब आर्य भारत में आए, उनका विरोध हुआ, अधीनता स्वीकार नहीं करनेवाले जंगलों पहाड़ों में खदेड़ दिये गए। यही आदिवासी हैं। जब बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ, अपने मत को छोड़ कर हिन्दू धर्म में पुनः नहीं मिल जानेवाले लोग अछूत करार दिये गए। शास्त्र के प्रमाण अस्पृश्यता का पृष्ठ पोषण नहीं करते। अनुचित गर्भाधान से उत्पन्न सन्तान ही अस्पृश्य हो सकती हैं, ऐसा बहुत से शास्त्रकारों का मत है। इस पाप प्रथा के पक्ष में जो भी संदेहजनक प्रमाण हों, गान्धीजी उनको अग्राह्य मान लेने के पक्ष में थे। किन्हीं शास्त्र-पुराण में अस्पृश्यता को उचित भी लिखा हो तो जमाना उसे अस्वीकार कर दे। अगर शीघ्र ही ऐसा नहीं हुआ तो डा० आम्बेडकर को हम क्या जवाब देंगे जो कानून से समान राजनैतिक और सामाजिक अधिकार पाकर भी संतुष्ट नहीं हैं क्यों कि अस्पृश्यता की भावना नही जा रही।

× × × ×

सुदूर त्रावणकोर में सन् १९३७ ई० में ही पद्मनाभ स्वामी के मंदिर का द्वार हरिजनों के लिए खुल गया। सन् १९५१ ई० में उड़ीसा की सरकार कानून बनाती है कि मंदिरों के ट्रस्टिओं के मताधिक्य से ही हरिजन मंदिर-प्रवेश का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं! जगन्नाथ के लिए भेद-भाव नहीं है, वह सबके लिए और सब उनके लिए समान हैं। लेकिन हम हैं जो कानून को बनाकर भेद-भाव को जारी रखना चाहते हैं। पद्मनाभ स्वामी के मंदिर का पट जब हरिजनों के लिए खुला हरिजनों का हृदय-कमल खिल गया। वह प्रसन्नता से नाच उठे। सतृष्ण दृष्टि से वे देवता को देखते रह गए। इस मार्मिक दृश्य को देख राजगोपालाचारी की आँखों में आँसू भर आए। उन्हें लगा जैसे माता की खोई सन्तान फिर उसे मिल गई। क्या सारा भारत त्रावणकोर की तरह एकात्म नहीं बनेगा ?
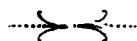
"अगर मनुष्य एक बार इस बात को महसूस कर ले कि अनुचित जान पड़नेवाले कानूनों का पालन करना नामर्दी है, तो फिर किसी का जुल्म उसे मजबूर नहीं कर सकता। यही स्वराज्य की कुञ्जी है।

—महात्मा गान्धी

कृपाशङ्कर माथुर

जन-जातियों की समस्यायें

भारतवर्षमें जन-जातियोंकी सँख्या, १९४१ ई० की जनगणनाके अनुसार, लगभग २ करोड़ २५ लाख है। तबसे वर्तमान जनगणना (१९५१ ई०) तक इन 'जन' अथवा 'आदिम' जातियोंकी सँख्यामें अनुमानतः १३ प्रतिशतकी वृद्धि हुई है। किन्तु वनों, पर्वतों और सभ्यतासे सुदूर प्रदेशोंमें जीवनयापन करनेवाली इन 'जंगली जातियोंकी' सँख्याका ठीक-ठीक अंदाज लगाना कठिन है। प्रथमतः गत बीस वर्षों में हमने देखा कि धीरे-धीरे आसपासके लोगों की संस्कृति जन-समाजको निगलती जारही है; संस्कृति-सम्पर्क और धर्म-प्रचारके कारण आदिगण जाति-व्यवस्थाकी निचली श्रेणियों में मिल रहे हैं। यद्यपि गत जनगणनाके मुकाबले अब इन जनोंकी सँख्या-शक्ति अधिक है, हम निश्चित रूपसे कह नहीं सकते कि आदिम जातियोंकी सँख्या वास्तवमें ही हर स्थान पर या हर जातिमें बढ़ी है। देशके विभिन्न भागोंकी भौगोलिक एवं आर्थिक-सामाजिक अवस्था उनकी वृद्धिके लिए अनुकुल नहीं है। अतएव जहाँ कुछ जातियों अथवा उपजातियोंकी सँख्या बढ़ी है, वहाँ कई एककी आबादी घट भी गई है, अथवा उसकी प्रवृत्ति घटनेकी ओर दृष्टिगोचर हो रही है।

संततिवृद्धि और सम्पर्क-अवस्थाके अनुसार यह जन जातियाँ तीन साधारण श्रेणियोंमें विभक्त की जाती हैं (१) वे जातियाँ जिन्होंने वाह्य वातावरणके साथ अपना समन्वय कर लिया है और जिनकी आंतरिक प्रवृत्ति संख्या वृद्धिपर है; (२) वे जातियाँ अथवा उपजातियाँ जिन्हें शासनकी ओरसे सुविधायें प्राप्त हैं; उपजाऊ प्रदेशों और मैदानोंमें रहनेवाली अधिकांश जातियाँ ऐसी शासन-व्यवस्थाके अन्तर्गत रहती हैं जिसमें उनकी रक्षा और उनकी लोक-संस्कृति को सुरक्षित रखनेका समुचित प्रबन्ध है; इनमें से एक बड़े भाग ने अन्य धर्मोंको स्वीकारकर लिया है और इस प्रकार देशकी ग्राम्य जातियोंमें मिल गये हैं अथवा मिलते जारहे हैं। अनुपाततः ऐसी जातियों की सँख्या तेजीसे बढ़ रही है। (३) तृतीय श्रेणीमें वह जातियाँ हैं जिनपर संस्कृति-सम्पर्कका प्रभाव अति घातक रूपमें पड़ा है—नीलगिरी पहाड़ियोंमें बसनेवाली टोडा जाति, खोंड, उड़ीसाके असुर, आसामके कोणायक और कूकी, दुद्धी और पलामूके कोरवा इनके प्रतिनिधि हैं; इनकी संतानोत्पादन शक्ति लगभग रुक गई है, सँख्या घट रही है, और लगता है इनके अन्तिम दिन आगये हैं।

प्रत्येक दश वर्षपर होनेवाली भारतीय जनगणनाओंके अनुसार देशकी जनसँख्यामें सभ्यता और संस्कृतिके विभिन्न स्तरोंपर जीवनयापन करनेवाली आदिम जातियोंमें तुर्क-ईरानी वंशकी मुस्लिम जातियाँ –पठान, बलोच, अफगान, मोपला आदि सम्मिलित हैं; टोडा, कोटा, खोंड़ प्रभृति अति प्राचीन आदिवासी हैं, गोंड, नागा और भीलोंकी विभिन्न उपजातियाँ हैं; जो अपने निकटवर्त्ती प्रदेशोंमें रहनेवाले हिन्दुओंके नाम-कर्म, देवी-देवता और रीति-नीति क्रमशः अपनाते जा रहे हैं। और उनके जनगणोंका स्वरुप हिन्दुत्वके सम्पर्कमें आकर बदल रहा है; कुछ जातियां ऐसी भी हैं जो पूर्णतया या अधिकांश में ईसाई धर्मके प्रभावमें आकर धर्म-परिवर्तन कर चुकी हैं, यथा आसामके खासी और मनीपुरी; बिहारके भूमिज, रजवार और उराँव; दुर्द्धके खरवार; बम्बईके ठाकुर; पंचमहलके पटेला आदि जो 'जन' जीवनको त्याग पूर्णरूपसे हिन्दुओंमें मिल गये हैं और जिनकी गणना निम्न वर्णोंमें की जाती है।

गत बीस-पच्चीस वर्षोंमें भारतकी आदिम जातियोंके सामाजिक तथा आर्थिक जीवनमें महान परिवर्तन हुये हैं। गमनागमनके साधनों और देशके आर्थिक विकासके प्रयत्नों ने इन 'पृथ्वी पुत्रों' को सभ्यताकी दुनियाके निकट ला दिया है। उन्नतिशील संस्कृतियोंके प्रभावमें आकर इन जातियोंके जन-जीवनका ह्रास होरहा है; वाह्य-संस्पर्शने जनसंघटनको छिन्न-भिन्न कर दिया है, बदली हुई आर्थिक परिस्थितियोंके कारण निराशाका एक वातावरण उत्पन्न होगया है, और अधिकांश आदिजनोंमें जीवनके प्रति एक उदासीनता-सी छा गई है। संस्कृति-सम्पर्कके वेगवान प्रवाहके सम्मुख वे ही जातियाँ अपना अस्तित्व रख सकी हैं, जो या तो सँख्यामें अधिक हैं और संगठित गणोंके रूपमें जीवित हैं, यथा उराँव, हो, संथाल आदि, अथवा हैदराबादके चेंचू, बस्तरके मड़िया, उड़ीसाके जुआंग और सरगुजाके कोरवोंकी तरह दुरूह और दुस्तर प्रदेशोंके निवासी जिन्हें भौगोलिक वातावरणने वाह्य संस्पर्श से सुरक्षित रखा है। शेष सभी जातियोंका नैतिक पतन हो चला है, और इसका प्रभाव उनके जन-जीवनके लिए घातक सिद्ध हुआ है। अभाव, उदासीनता और उपेक्षाने जीवनको निराशामय बना दिया है, और यह सर्वनाशकी भीषण छायामें अपने दिन गुजार रहे हैं।

कृषि अधिकतर इन जातियों का मुख्य धंधा है। पहाड़ियों के ढालुओं पर, या पठारों को तोड़-फोड़ कर निकलने वाले नदी-नालों द्वारा प्रसारित उपजाऊ मिट्टी में खेती की जाती है। कुछ समय पूर्व तक वनों के पेड़ों को जलाकर उनकी राख में बीज बो देते थे। इस प्रकार की खेती को झूम, पोदू या ढहिचा कहते हैं; प्रत्येक वर्ष कृषिके लिये नई भूमि ली जाती थी; खेत में हल चलाने और बीज बोने के पूर्व ग्राम या जन का पुरोहित कृषि देवता की पूजा कर बलि-होम देकर अच्छी उपज के लिए दैवी सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। बलि-पशु का रक्त खेत में छिड़कने या बीजों को रक्त में

सींच कर बोने से पैदावार अच्छी होगी, ऐसा इनका विश्वास था। परन्तु आज सामाजिक विघटनके कालमें इस प्रकारके विश्वास और रीति-नीति जो इन जनोंको वातावरणके साथ सामञ्जस्य स्थापित करने और आर्थिक प्रयत्नों में सहायता देते थे, नष्टप्राय हो रहे हैं, और जनसंख्याकी भारी बृद्धिने इन सरल जनोंके आर्थिक संगठनको छिन्न-भिन्न कर दिया है। समतल भूमिमें सभ्य जातियोंके निकट बसनेवाले जनगणोंने हलके द्वारा स्थिर खेती करना सीख लिया है, उदाहरणतया मुन्डा, गारो, खासी, अंगामी, नागा आदि। भारतके वनोंमें बाँस बहुतायतसे होता है, और अधिकाँश आदिम जातियाँ बाँससे सुन्दर वस्तुयें तैयार करनेकी कलामें निपुण हैं। परन्तु संगठन और सुविधाओंके अभावमें यह कला आर्थिक रूपसे उपयोगी सिद्ध नहीं होसकी है। जन-रीतियों और सामाजिक नियमोंके अनुसार स्त्रियों और बच्चोंके श्रमका जो उपयोग होता है, वह बदली हुई आर्थिक दशाओंके दृष्टिकोणसे लाभदायक नहीं है। सभ्यता-सम्पर्क-जन्य नवीन आवश्यकताओं, खिलौने, तड़क-भड़कके वस्त्र और फैशनके अन्य सामानकी पूर्तिके प्रयत्नोंमें समय और शक्तिका जो अपव्यय इन पिछड़े हुए समाजोंमें देखनेमें आता है, वह सांस्कृतिक विघटनका एक कालिमामय चित्र है। बिहारके आदिवासी ग्रामोंमें कुछ पैसों की मिठाई या खिलौने मोल लेने या खेतीकी कुछ उपज बेचकर नकद पैसा पैदा करनेके लिए स्त्री-पुरुष मीलों दूर हाटमें चलकर आते है, और इस प्रकार श्रम और शक्तिका दुरुपयोग करते हैं। जन-जीवनके पुनर्संघटनके लिए आज सहकारिताकी परमावश्यकता है, और यदि इन जातियोंकी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियोंका ठीक ढंगसे विकास किया जाय तो उनकी आर्थिक समस्याओंको सुलझाने एवं दरिद्रताके अभिशापको दूर करनेमें काफी सहायता मिलेगी।

आर्थिक सघंर्षके इस युगमें यह जन कठिनाइयों एवं असुविधाओंसे पीड़ित हैं। अनुपजाऊ भूमि, सिंचाई, खाद और खेतीके नियमोंके विषयमें अज्ञान, और तज्जन्य कृषिकी अविश्वसनीय अवस्था और उद्योग-धन्धोंके अभावमें दोनों समय भोजन और शरीर ढकनेको वस्त्र मिलना भी इन आदिवासियोंके लिए सौभाग्य है। बाहरसे आये हुए महाजन, ठेकेदार, कलवार, साहूकार और सरकारी कर्मचारियोंने इन सरल शान्तिप्रिय जनोंको जिसप्रकार लूटकर पंगु बनाया है, वह सामाजिक इतिहासकी एक दुखपूर्ण कहानी है। ऋण भारसे दबेहुए यह आदिवासी उऋण होनेके प्रयत्नमें पीढ़ियों तक महाजनकी गुलामी करते हैं, परन्तु भूमि, धन और तन सब कुछ देकर भी छुटकारा पाना दुस्तर है।

दरिद्रता और बाह्य-सम्पर्क-जनित कठिनाइयाँ, आबकारी और जंगलोंके राजकीय नियम, आदिम ढंगकी अस्थिर खेतीपर सरकारी रोक, बिगड़ता हुआ स्वास्थ्य और रोग, नेतृत्वका अभाव, शासनकी उदासीनता, और परिवर्तित वातावरणमें अनमिल विचित्र सामाजिक रीतियोंने जन-समाजोंमें समस्याओं का एक जाल बुन रक्खा है। दारिद्रयने जन-जीवनका सर्वनाश कर दिया है; भोजन, वस्त्र और इनको जुटानेके साधनोंके अभावमें हजारों आदिवासी अपना घर ग्राम छोड़कर मजदूरीकी खोजमें बाहर चले जानेको बाध्य

होते हैं ; दरिद्रता और अभावके कारण ही इनमें अत्यधिक मद्यपान, स्त्री-विक्रय और शिशु-हत्या जैसी जघन्य सामाजिक रीतियाँ प्रचलित हैं। देशी ढंगसे शराब बनानेपर रोक, परन्तु आबकारी विभाग द्वारा नियुक्त ठेकेदार और मद्यकी दूकानें--जहाँ दूर ग्रामोंसे आये हुए बाल, स्त्री, वृद्ध सभी मनमानी पीते हैं, और अपने धन, स्वास्थ्य और आचारकी हत्या करते हैं—ही आदिवासियों की वर्तमान अनवनत दशाके लिए प्रथमतः उत्तरदायी हैं। निर्धनताके कारणही स्त्रियाँ अपना शरीरभी बेचनेको बाध्य हो जाती हैं; इसका परिणाम व्यभिचार और रोग—मुख्यतया संक्रामक और 'वी० डी०' की वृद्धि है। मध्य-प्रदेशके गोंड, उड़ीसाके खोंड, बिहारके हो, मुन्डा और संथाल, महाराष्ट्र और राजस्थानके भील, उत्तरप्रदेशके थारु, भुइयाँ तथा पहाड़ी (खस), इन सभी जातियोंकी एक बड़ी संख्या इन घृणित रोगोंकी शिकार है। उन्नत और मूलतः भिन्न संस्कृतियोंके प्रभावमें आकर जन-जीवनमें जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनके कारण इनके सन्मुख जीवन-मरणकी एक समस्या और संघर्ष पैदा हो गए हैं; विचार-शक्ति कुंठित हो गई है, रोग और दरिद्रताने जीवनकी कमर तोड़ दी है, सामाजिक-शक्तिका ह्रास हो रहा है और जन समाज पतनकी ओर अग्रसर हो रहे हैं।

इन पिछड़ी हुई जातियोंके पुनर्वास के लिए आवश्यकता है सहृदयता के साथ उनकी सांस्कृतिक दशाका अध्ययन और उनके अनुसार उनके उद्धारके लिए प्रयत्न। उसका पहिला कदम हो उनके भौगोलिक वातवरणके साथ बदली हुई परिस्थितियोंका सामञ्जस्य, और इस प्रकार उनकी बिगड़ी हुई आर्थिक दशाका सुधार जिससे भोजन-वस्त्रकी प्राथमिक आवश्यकताओंसे जनवासियोंको मुक्ति मिल सके। लोक-संस्कृतिके प्रवाहके अनुकूल शिक्षाके माध्यम द्वारा सामाजिक सुधार, सफाई, स्वास्थ्य और चिकित्साके आधुनिक नियमोंका आदिसमाजोंमें प्रचार तथा भौतिक एवं नैतिक उन्नति द्वारा जनोंमें जागृति उत्पन्न करनेकी ओर हमारा ध्यान जाना आवश्यक है। संक्रामणके इस कालमें जब जातियों और संस्कृतियोंका स्वरुप बदल रहा है. इन पिछड़े हुए आदिजनों पुनर्संगठन और पुनर्वास देश और राष्ट्रकी उन्नतिके लिए परमावश्यक है। २½ करोड़ आदिवासी, ५ करोड़ 'अछूत', और लगभग २ करोड़ तथाकथित 'अपराधी' जातियाँ युगोंसे अंधकार और अवनतिके गर्तमें पड़े हुए प्रकाशकी एक किरणकी राह देख रही हैं; अभाव और मृत्यु-भय-ग्रस्त यह सरल समाज उद्धारके लिए अमृतकी एक बूंदके आश्रित हैं। हमारे नव-जनित भारतीय राष्ट्रने इनकी रक्षा और सहायताका व्रत लिया है, और जनतंत्र विधानमें संयुक्त विशेष धाराओं द्वारा आदिवासियों और पिछड़ी जातियोंकी उन्नति और सुधारके लिए मार्ग निर्धारित किया है; इनके जीवन स्तरको ऊंचा उठाने और उनमें शैक्षणिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति करनेके लिए आदि-जातियोंको दस वर्षका विशेष संरक्षण प्रदान किया है। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें इस ओर ठोस कदम उठानेके लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं। आवश्यकता है कि इन जनोंका सर्वमुखी सुधारकर उन्हें स्वावलम्बी और प्रगतिशील बनाया जाय, ताकि राष्ट्रके निर्माणमें वे अपना उचित योग प्रदान कर सकें।

रामगोपाल त्यागी

ठक्कर बापा एक महान् समाज-सेवक

नवम्बर १९३८ से मैं बापाके सम्पर्कमें आया और तबसे उनकी मृत्युपर्यन्त उनकी छत्र-छायामें कार्य करनेका अटूट अवसर मिला। मैं अपने पूर्व कर्मोंका प्रतापही मानता हूं कि छल, कपट और राजनीतिक गुटके इस युगमें एक ऐसे महान कर्मयोगीके चरणोंमें मुझे कार्य करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। जानकर या अनजाने अपनी कमजोरीके कारण मैंने उन्हें कई बार अप्रसन्न किया तथा उनका कोप-भाजन भी हुआ—क्षणिक ही, परन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि मेरी श्रद्धा उनके प्रति उत्तरोत्तर बढ़तीही रही।

शुद्ध समाज सेवकोंमें बापाका स्थान बहुत ऊंचा है। बापू भी बापाके समान केवल सेवाका जीवन बितानेकी अभिलाषा रखते थे। आप एक ऐसे व्यक्ति थे जो शुद्ध सेवाकी दृष्टिसे प्रत्येक कामको देखते थे। बहुतसे आदमी समाजसेवा इसलिए करते हैं कि चुनावके समय उन्हें सीट मिले या बहुत से मंत्रीपदकी लालसा करते हैं। परन्तु बापा इसका ठीक उलटा करते थे, अर्थात् यदि उन्हें कोई एसेम्बलीके लिए तैयार भी करना चाहता तो इस बातका विश्वास करना पड़ता था कि उनके सदस्य बननेसे समाज सेवाको वेग मिलेगा। विधान-परिषद तथा उससे संबंधित कमिटियोंमें जानेको तब ही वे सहमत हुए जब बड़े नेताओंने यह कहकर जोर डाला कि आपको सदस्य बनाकर हरिजन और आदि-वासी प्रश्नोंका निकाल करना है तथा इस संबध में आपके अपार ज्ञानका उपयोगकर आपके प्रियजनोंका हित करना है।

जिस समय संविधान बन गया, तुरंत ही बापाने त्यागपत्र दे दिया। पर्याप्त जोर देने पर भी वह अडिग रहे। त्यागपत्र अप्रैल या मई १९५० में स्वीकृत हुआ, परन्तु बापाने तो २६ जनवरीसे ही अपनेको मुक्त मान लिया था और उसके बाद कभी संसदमें भाग नहीं लिया। जो लोग सेवाकार्यका उल्लेख कर एसेम्बलियोंमें सीट अथवा मंत्रीपदकी मांग करते हैं उनको इस सच्चे समाज सेवकसे शिक्षा लेनी चाहिए। अपनी तुच्छ सेवाओंका बखान कर जो व्यक्ति इनाम चाहते हैं उनको निष्काम समाज सेवक नहीं कहा जा सकता, बल्कि स्वार्थी ही कहा जा सकता है।

कभी-कभी ऐसे हरिजन अथवा आदि-वासी नेताओंके पत्र बापाके पास आते थे, जो अपनी सेवाओंका उल्लेख कर एसेम्बलीमें जानेकी मांग करते थे। उस समय बापा अना-यासही अपने सहज विचार प्रकट कर देते थे। उनको ऐसे अवसर पर बड़ा दुःख होता था तथा मनुष्योंकी स्वार्थपरता पर क्रोध आ जाता था।

लगभग ४५ वर्षकी आयुसे वह दलितों, पीड़ितों, मजदूरों इत्यादिकी सेवा करते आये। इसके पहले सरकारी अथवा अर्ध सरकारी नौकरी करते समय भी मितव्ययी बनकर बचतको मजदूरों और पीड़ितोंकी सेवामें ही लगाते थे। जब सेवाके लिये उतावले मनको शान्ति न मिली तो 'भारत सेवक समाज' के सदस्य बन गये जिसकी स्थापना श्री गोपाल कृष्णगोखलेने की थी। 'समाज'में प्रवेश पाने से पूर्व २५ जनवरी १९१४ को बापाने अपने भाइयों को इस प्रकार लिखा थाः—

"इस पत्रको लिखते समय मुझे दुःख होता है और मैं समझता हूं कि इसे पढ़कर आपको भी अत्यधिक दुःख होगा। मैं चाहता था कि कोई अन्य व्यक्ति यह समाचार आप को देता। परन्तु फिर भी यह अप्रिय कर्तव्य मेरे ऊपरही आपड़ा है। मैंने बम्बई म्युनिसिपैलिटीकी नौकरीसे त्यागपत्र दे दिया है और २ फरवरीसे मुझे मुक्ति मिल जाएगी तथा तुरन्तही मैं 'भारत सेवक समाज' में प्रवेश कर लूंगा। मैंने इसमें किसीकी राय नही ली है तथा पूर्णतया अपनी अन्तःप्रेरणाके अनुसार कार्य किया है। यदि मेरे अन्तःकरणने भूलकी है तो मैंने भी भूलकी है। कुछ भी हो अब मैं उस आवाजकी अधिक देर तक अवहेलना नहीं कर सकता।

"अपनी नौकरीके समय मैंने अपने नीचे काम करनेवाले सहयोगियोंके साथ गहरा स्नेह जोड़ लिया है, यही नहीं, अपनी देख-रेखकी निर्जीव सड़कोंसे भी मैंने प्रेम करना सीख लिया है। अपने नौकरों तथा सड़कोंसे अलग होना परिवारवालोंके विछोहसे भी अधिक दुःख देता है और जैसाकि मेरे एक सहयोगी मित्रने मुझसे कहा, मैं अपने सैकड़ों सहायकों तथा हजारों कुलियोंके प्रति पाप कर रहा हूं जिन्होंने हृदयसे मुझे स्नेह किया तथा मेरे प्रति शुभ कामना रखी। कुछ कहते हैं कि मैं नौकरी छोड़कर उतनी सेवा नहीं कर सकूंगा जितना नौकरी करते हुये और उस ओहदेके स्थान तथा रुतबेके कारण करता हूं।

"परन्तु मुझे पूरा विश्वास होगया है कि भारतको पूरा समय देनेवाले निष्ठावान सेवक चाहिये, थोड़ा समय या बचा हुआ समय देनेवाले नहीं। और जबतक ये नहीं मिल जाते वास्तविक प्रगति नहीं हो सकती। सच्चे कार्यकर्त्ताओंके लिये बहुत धन है। श्री गोखले हजारों, लाखों रुपये इकट्ठा कर सकते हैं, परन्तु वह निष्ठावान सेवक नहीं खोज सकते। अतएव यदि मैं इस कार्यके लिये आत्म-समर्पण करनेमें भूलकर रहा हूं तो एक नेक कार्यके लिये तथा उत्तम उद्देश्यसे कर रहा हूं।

"यदि मुझे किसीका कुछ रुपया देना है तो कृपया समयपर सूचित करदें क्योंकि मैं सबसे अपना हिसाब साफ कर रहा हूं। इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जिन संस्थाओंकी धनसे सेवा करनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त था, अब मैं उनकी सहायता न कर सकूंगा।

"मेरा संघर्ष अब समाप्त होगया है। जीवनमें प्रत्येक विछोह शोकयुक्त होता है परन्तु मैं आपको एक नेक कार्यके लिये छोड़

रहा हूं, तथा आपके आशीर्वादके साथ जाना चाहता हूं।"

बापाने अपने उक्त निश्चयको अक्षरशः कार्यान्वित कर दिखाया। उन्होंने अपने एक-एक क्षणका सदुपयोग किया। उन्होंने सिर्फ संस्थाओंका ही हिसाब ठीक नहीं रखा बल्कि अपने समय और निजी धनका भी व्योरेवार हिसाब रखा जो उनकी नियमित डायरी और निजी हिसाब-बहीसे मिल सकता है। रातको बिना डायरी और हिसाब लिखे वे नहीं सोते थे। प्रत्येक दिनका अन्तिम कार्य यही होता और गत ४० वर्षोंसे ऐसा वे करते रहे।

'भारत सेवक समाज' में प्रवेशके समय बापाकी आयु (४५ वर्ष) को देखकर जो सहयोगी सन्देह करते थे उस सन्देहको 'भारत सेवक समाज' के सस्थापक श्री गोखलेने स्वयं इन शब्दोंमें दूर किया थाः—

"श्री ठक्कर बम्बई म्युनिसिपल कारपोरेशनके उत्तमोत्तम अफसरोंमें से हैं और वह अपने वर्तमान स्थान (३६० रु० मासिक) से कहीं अधिक उन्नति करेंगे यह निश्चित है। श्रीदेवधरके साथ गत दो वर्षोंसे वह हमारा सेवा-कार्य बम्बईमें करते आ रहे हैं और इस काम को वह अपने कामके अतिरिक्त करते रहे हैं। इससे आपको सन्तोष होना चाहिये कि उनमें औसत मनुष्यसे बहुत अधिक शक्ति है। देवधर उनके बारेमें उच्चतम भाव रखते हैं। वह डाक्टर देवके घनिष्ट मित्र हैं तथा उन दोनोंने समाजमें एक साथ प्रवेश करनेका निश्चय किया है। यदि वह आरामका जीवन चाहते तो अपनी सहज आयका बलिदान न करते और हमारे यहाँ मामूली भत्तेपर काम करने न आते। मैं आप से कहूंगा कि श्री ठक्कर जैसे व्यक्तिही हमारे समाजकी मान प्रतिष्ठा बढ़ावेंगे। (यह-भविष्यवाणी कितनी सत्य सिद्ध हुई!) वह योग्य, सामर्थ्यवान तथा उत्साही ही नहीं हैं बल्कि उत्सुक, महान् उद्देश्य रखनेवाले और स्वार्थरहित भी हैं।"

सहायक या कार्यकर्त्ता ट्रेनिंगमें बापा सिद्धहस्त थे। उस समय उनकी तुलना एक अनुभवी अध्यापकसे की जा सकती थी। यदि कोई गलत शब्द लिखा या बोला गया तो बापा उस शब्दको बार-बार लिखाते या उच्चारण कराते। छोटी-मोटी त्रुटियोंको भी बापा बिना चेत कराये नहीं जाने देते। उनका ध्येय रहता कि भविष्यके लिये सुधार हो -अपनी योग्यता दिखानेका नहीं। योग्य से योग्य व्यक्तिकी गलती निकालना उनके बायें हाथ का काम था। साथमें विशेषता यह भी थी कि रद्दीसे रद्दी आदमीको ट्रेनिंग देकर वह योग्य कार्यकर्त्ता बना देते। उस समय उनका उत्साह और सहनशक्ति देखते ही बनती। हाँ, सीखनेवालेमें भ्रामक मान-मर्यादा इत्यादिके भाव नहीं होने चाहिये। चपरासीसे लेकर उच्चतम कामके लिये प्यास होनी चाहिये। वह एकांगी अथवा अधूरी शिक्षाके विरूद्ध थे। इस सहृदय तथा लगनशील सेवकने राष्ट्रको अनेकों आदिवासी, हरिजन तथा महिला सेवक दिये हैं। कभी

कभी अध्यापकसे भी कड़ा दंड दे डालते, फिर भी कार्यकर्त्ता चिपके रहते क्योंकि बापा उनसे सहज स्नेह करते थे।

प्रवासमें बापा अपने सहायकोंका बड़ा ध्यान रखते और एकदम बराबरीका दर्जा देते थे। इसका आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता था। बिना सहायकके खाना तक नहीं खाते थे। किसीके यहां अतिथि होते तो सहायककी सुविधाका प्रबन्ध अपनी देख-रेखमें कराते। काम तो सख्तीके साथ लेते, जो सख्ती कभी-कभी निर्दयताकी सीमातक पहुंच जाती, परन्तु बराबरीका व्यवहार सब कुछ भुला देता। एक बार मैं पूनामें कुछ अस्वस्थ था। बापाने कहा, "तुम्हें बैठनेमें कुछ दिक्कत मालूम होती है इसलिये लेटे-लेटेही पढ़कर सुनाओ बैठे। आप कुर्सीपर बैठ कर सुनने लगे। नेत्र दुर्बलताके कारण स्वयं पढ़नेमें असमर्थ थे। यह देखकर उनके सहयोगी मित्र कहने लगे, "त्यागी, तुम लेटे हो और वृद्ध बापा बैठे हैं। क्या तुमने यही सीखा है?" मेरे कुछ कहनेसे पूर्वही बापा कहने लगे, 'समता नो जमानो छे!' यही कारण है कि उनके सहायकोंके हृदयपर उनका अधिकार रहता।

उनका शरीर तो अशक्त अवश्य होगया था परन्तु मन नहीं। अन्त तक उनको हरिजन, आदिवासी, कस्तूरबा ट्रस्ट इत्यादि कामोंमें उतना ही रस रहा जितना पहले था। अन्तिम दिनोंमें अपने अनुज डा० केशवलाल ठक्कर (सदस्य, भारतीय संसद) की देख-रेखमें भावनगरमें रहते थे। ५-६ घंटे दफ्तरका काम करते और शेष समयमें धार्मिक पुस्तकें या भजन सुनते और गाते भी। 'मन लागो मेरो यार फकीरीमें' यह भजन उन्हें बहुत प्रिय था।

सेवाके लिये वे उतनेही बेचैन रहते जितने युवावस्थामें थे। रोगशय्यापर पड़े पड़ेही हरिजन और आदिवासी जातियोंके उत्थानका विचार करते रहते। पिछले साल बिहारमें मुसहर सेवामंडलकी स्थापना कर वे बड़े प्रसन्न हुए।

वृद्धावस्थामें प्रत्येक आदमीकी कुछ इच्छायें होती हैं। बापाकी ये इच्छायें थीं —"मेरी मृत्युसे पहले मालाबारके पनियनमें कुछ काम आरम्भ हो जाता; उड़ीसाके जुआन मेरे प्रिय लोग हैं, उनकी सेवाका प्रबन्ध होना शेष है; आसामके मीरी मिकिर दयाके पात्र हैं; जौनसर बाबर (देहरादून जिला) के कोल्टे सहायताके अभिलाषी हैं; इत्यादि, इत्यादि।" सेवा करनेके अतिरिक्त कदाचित ही उनकी कोई दूसरी इच्छा रही हो।

ईश्वरसे प्रार्थना है कि हम बापाके चरण चिन्हों पर चलने में समर्थ हों और उनके उद्देश्यकी पूर्त्तिमें योग दें। हम जो कि छोटे हैं उनके कामोंसे सीखें और उन्हींके समान नेक उपायोंसे उनका अधूरा काम पूरा करनेमें प्रयत्नशील रहें और उनके जीवनसे प्रेरणा तथा मार्गदर्शन लेते रहें। ईश्वर बापाकी आत्माको शान्ति दे।

राधाकृष्ण

धोबी

सोमवारी अमावस्या-व्रत की एक कथा है कि एक परिवार में एक भिक्षुक भीख माँगने के लिये आया। उस घर में सात भाई रहते थे और उन सातों भाइयों की एक कुँआरी बहन थी। जब द्वार पर भिक्षुक आया तो घर की सभी स्त्रियाँ भीख लेकर निकलीं। उनमें उन सातों भाइयों की स्त्रियाँ थीं और एक उनकी कुँआरी बहन थी। भिक्षुक ने भीख लेकर उन सातों सुहागिनों से कहा—'सौभाग्यवती रहो!'

मगर जब उस कुमारी कन्या ने भीख दी तो उससे कहा—'बेटी, तू धर्म करना!'

उस समय तो वह लड़की इस प्रकार के अलग किस्म के आशीर्वाद का अर्थ समझ न सकी। पीछे जब उसकी मा ने इस बात की छान-बीन की तो उसे मालूम हुआ कि इस लड़की के भाग्य में विधवा होना लिखा है। मालूम हुआ कि जब विवाह की भाँवरें पड़ने लगेंगी तो सातवें भाँवर के साथ ही यह लड़की विधवा हो जायगी।

अब इसका उपाय क्या हो?

तब बतलाया गया कि समुद्र के पार सौ योजन की दूरी पर एक सोमा नामक धोबिन रहती है; यदि वह सुहाग दे तो इस लड़की का विधवापन टल सकता है।

तब वह लड़की अपने एक भाई के साथ उस धोबिन के यहाँ समुद्र के पार चली गई। वहां जाकर वह धोबिन के अनजानते में उसके घर का काम करने लगी। सवेरा होने से पहले ही घर में झाड़ू दे-देती, बर्तन माँज कर साफ कर देती। और जब सोमा उठती तो उसे अचम्भा होता कि यह काम किसने किया है। घर में जिससे पूछती तो उसका जवाब यही मिलता कि काम किसने किया है यह मालूम नहीं। आखिर एक दिन उसने चुपके-चुपके देखा तो असली बात का भंडा फूटा।

सोमा धोबिन उस लड़की से पूछने लगी कि बेटी, तुम कौन हो; यहाँ किसलिये आई हो?

जब उस लड़की ने अपने भविष्य की बात कही तो सोमा ने कहा बेटी, तू जा; अपने घर में रहना। मैं ठीक समय पर तुम्हें सुहाग देने आ जाऊँगी।

कहा जाता है कि वह सोमा धोबिन सोमवारी व्रत करती थी इसी कारण उसमें सुहाग दे सकने की शक्ति थी। मगर आज तो हिन्दू मात्र के यहां प्रत्येक विवाह में धोबिन सुहाग देती है इसके बिना विवाह की प्रथा ही पूरी नहीं होती। इस प्रथा का पालन यों किया जाता है कि धोबिन अपनी मांग के पास की लट को पानी से धोकर वर या वधू को देती है। तब एक औरत उससे पूछती है कि सुहागन, तू क्या देती है?

धोबिन कहती है कि मैं सुहाग दे रही हूँ।

और इस तरह प्रत्येक विवाह में धोबिन के द्वारा सुहाग देने की प्रथा प्रचलित है।

धोबियों की जाति बहुत पुरानी मानी जाती है। भगवान रामचन्द्रजी के बारे में कहा गया है कि एक धोबी की शिकायत के कारण ही उन्होंने जानकीजी को वनवास

दिया था। इस जाति का मुख्य पेशा कपड़ा धोना है। कहा जाता है कि सम्राट चन्द्र-गुप्त ने अपने राज्य में यह नियम बनाया था कि धोबी लोग हमेशा ऐसा कपड़ा पहन कर चलें कि जिसमें मुगदर का चिन्ह हो। वैसे कपड़ों को छोड़ वे दूसरे प्रकार का कपड़ा नहीं पहन सकते थे। इसकी वजह यह बतलाई जाती है कि धोबी लोग ग्राहकों का कपड़ा भी पहन लिया करते थे।

पच्छिम बंगाल के धोबी-समाज में चार शाखायें प्रचलित हैं:—सातिशा, अरिशा, हाजरा समाज, और नितीशिना। हुगली जिला के धोबियों के अन्दर चार अलग प्रकार की शाखायें हैं। उन शाखाओं के नाम निम्न-लिखित हैं:—बड़ा समाज, छोटा समाज, धोबा समाज और राढ़ी समाज। ये आपस में न खान-पान करते हैं और न शादी-ब्याह। नोआखाली के धोबियों की शाखायें वहां के परगना के नाम पर हैं:—भुलुआ, जुगदिया और सन्दीप। मानभूम जिले के धोबी चार शाखाओं में विभक्त हैं। एक तो उनमें बंगाली कहे जाते हैं। वे बंगला बोलते हैं और अपने को बंगाल की ओर से आया हुआ बतलाते हैं। दूसरे गोरेया कहे जाते हैं। तीसरे मगहिया हैं और चौथे खोट्टा। ये शाखायें भी अलग ही अलग रहती हैं। बिहार के अन्दर भी धोबियों की कई शाखायें हैं। कनौजिया, अवधिया, मगहिया, बेलवार, घोड़सार और गदहिया उनमें मुख्य हैं। कुछ मुसलमान धोबी भी हैं। वे तुरुकिया कहे जाते हैं। उड़ीसा के धोबी अपने गोत्र के चिन्ह का गोदना गुदवाते हैं और एक ही प्रकार का गुदना गुदाये हुए लड़का और लड़की में विवाह नहीं होता। उड़ीसा के धोबी लोगों में बहु-विवाह की प्रथा बहुत प्रचलित है। हाल हाल तक तो ऐसा था कि जो धोबी जितनी स्त्रियों को खिला सकता था कम से कम उतनी शादी तो अवश्य ही कर लेता था। उड़ीसा की विधवा धोबिन जब दुबारे अपनी शादी करने लगती है तो वह एक सुपारी को लेकर सरौते से उसे दो टुकड़ा काट देती है। सुपारी के कट जाने से समझा जाता है कि पहले विवाह वाले घर से उसका सारा संबंध कट गया। उड़ीसा के धोबियों में विधवा की शादी तो होती है; मगर स्त्री को छोड़ा नहीं जाता। ऐसा होने से समाज दण्ड देता है।

बंगाल और उड़ीसा के धोबियों में वैष्णव ही अधिक दिखलाई देते हैं। यों शाक्त भी मिल जाते हैं; मगर कम। विश्वकर्मा की पूजा सभी किया करते हैं। बिहार के धोबी मुख्यतः शिव, विष्णु, शक्ति और कार्तिकेय की पूजा करते हैं। धोबियों में जो वैरागी हो जाते हैं उनसे ये गुरुमुख होते हैं। वे वैरागी अपने शिष्यों को सामाजिक मामले में उचित सलाह दिया करते हैं। श्रावण शुक्ल पंचमी को बिहार के धोबियों के यहाँ गाड़ी और भुइयाँ की पूजा होती है। मुंगेर जिला में गाड़ी और भुइयाँ की पूजा के बदले ब्रह्म गोसाईं की पूजा प्रचलित है। इसके अलावा भुनकी गोसाईं और राम ठाकुर की पूजा भी चलती है। कहीं-कहीं अन्तिम असाढ़ को धोबी पचाइन की पूजा की जाती है।

संसार की नई चेतना ने इस जाति का भी स्पर्श किया है। यह जाति भी अन्य जातियों के समकक्ष होकर राष्ट्र की उन्नति में भाग लेना चाहती है। इस दिशा में उसे अच्छी सफलता मिल भी रही है।

वियोगीहरि
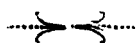
अस्पृश्यताकी समस्या क्या अब है ही नहीं ?

उड़ीसा के हरिजन प्रवास पर मैं निकला, तो कलकत्ते के हरिजनकार्य को न देखूं यह कैसे हो सकता था। सन् १६३५ और '३७ ई० में कलकत्ते की जिन नरक-तुल्य मेहतर और डोम बस्तियों को मैंने देखा था, उनका वीभत्स चित्र मेरी आँखों के सामने सदा रहा है। पूज्य बापा ने इन बस्तियों के बारे में कारपोरेशन के साथ और बंगाल सरकार के साथ भी काफी लिखा-पढ़ी की थी। पर उनके प्रयत्नों का भी कोई फल नहीं हुआ है। गांधीजी के प्रति कलकत्ते के बड़े बड़े लोगों की जो भक्ति-भावना थी और है, वह भी इस सम्बन्ध में कुछ न करा सकी। इन बारह तेरह वर्षों के बीच मैं कितनी बार कलकत्ते गया और हर बार उन नरकों को देखने का इरादा किया, पर देख न सका। अबकी बार तो खास इसी काम से गया था; इसलिए बंगाल हरिजन सेवक संघ के मंत्री प्रो० प्रियरंजन सेन के साथ छः बस्तियां देख डालीं। मुझे बताया गया कि बहुत करके उन बस्तियों की आज भी वही हालत है, जिनको मैंने तेरह-चौदह साल पहले देखा था। कहा गया कि उनमें कोई सुधार नहीं हुआ। वैसे ही पुराने कनस्तरों के टुकड़े और टाट के चिथड़े छोटी-छोटी झोपड़ियों पर पड़े हुए हैं, वैसी ही गन्दी गटरें कीड़ों से बिलबिलाती हुई सामने और बगल में बह रही हैं वैसे ही सड़ी बदबू से भरे डलाव और डिपो वहीं के वहीं बने हुए हैं। मैंने भी सोचा कि जब सब कुछ यथापूर्वक ही है और तबकी सरकार और तबका कारपोरेशन और तबके नागरिक तो क्या, आज की स्वराज्य सरकार, आज का कारपोरेशन और आज के स्वतन्त्र नागरिक भी उन कम्बख्त बस्तियों को सुधारने या उखाड़ फेंकने के बारे में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सके, तब उन्हें देखने के लिए मेरा जाना और नरकों में सड़ते हुए मेहतरों को झूठी आशा दिलाना बेकार ही नहीं, बल्कि एक जुर्म के जैसा है।

जो तीन बस्तियां, रात्रि पाठशालाएं देखने के साथ-साथ पांच-पांच, दस-दस मिनट में यों ही चलते-फिरते देखीं, वहाँ वही सब देखा जिसे देखने का आंखों को अभ्यास हो गया है। फिर भी उनकी कुछ अच्छी बस्तियों में गिनती की जाती है। ये बस्तियां थीं शम्भुनाथ पंडित स्ट्रीट, विनय बसु रोड और पदमपुकुर रोड में। एक बस्ती में लगभग २५० मानवप्राणी रहते हैं। उनके लिए एक-एक बैठक के सिर्फ तीन पाखाने हैं और पानी की सिर्फ एक टोंटी। एक झोपड़ी में जो मुश्किल से ८ फुट लम्बी और छः फुट चौड़ी थी पांच प्राणी रहते हैं। उसी में उनका उठना-बैठना, उसी में खाना पकाना और उसी में सोना-लेटना भी। किसी झोपड़ी का भाड़ा ५ रुपये माहवार देते हैं किसीका ८ रुपये माहवार। ऐसी बस्तियों में भी कलकत्ते का गांधी-सेवक-संघ रात्रि पाठशालाएँ चला रहा है। कार्यकर्त्ताओं का उत्साह और सेवा-भाव देखकर एक-दो क्षण के लिए बस्तियों की बात मैं भूल सा गया। मगर रह-रह

कर वही भयंकर दृश्य आंखों के आगे आने लगा। मुझसे कहा गया कि ये बस्तियां तो जैसी हैं, वैसी ही शायद रहेंगी; और यह हालत केवल इन्हीं की बस्तियों की नहीं हैं, वरन् हजारों-लाखों दूसरे गरीब लोग भी ऐसी ही बुरी हालत में रह रहे हैं, और यह भी कि यह कुछेक वर्गों की गिरी हुई आर्थिक स्थिति का सीधा परिणाम है। इस हालत में क्या तो करे कारपोरेशन और क्या करें समाजसेवक ? बंगाल में अस्पृश्यता की वैसी विकट समस्या नहीं है, जैसी अन्य प्रांतों में है। और बंगाल सरकार का भी करीब-करीब कुछ ऐसा ही मत है। यही कारण है कि उसने विस्थापित हरिजनों के पुनर्वास के प्रश्न को अलग से मान्यता नहीं दी। इसमें शायद वह स्थायी अलगाव का खतरा देखती होगी। सिद्धान्ततः यह दृष्टिकोण सही हो सकता है, पर व्यावहारिक दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यह तो कोई भी नहीं चाहता कि देश के किसी भी हिस्से में अस्पृश्यता किसी भी रूप में बनी रहे। हमारा संविधान भी उसे दस वर्ष के अन्दर ही समाप्त कर देना चाहता है। पर वस्तुतः क्या वस्तुस्थिति ऐसी ही है ? क्या किसी के मानने या न मानने का ही यह प्रश्न है ? क्या संविधान की अमुक शब्दावली पर संतुष्ट होकर हम सचमुच मान लें कि हमें अब कुछ खास प्रयत्न नहीं करना है ? दूसरे राज्यों के मुकाबले बंगाल में या किसी दूसरे राज्य में अस्पृश्यता का रूप भिन्न हो सकता है, पर हरिजनों की स्थिति आर्थिक या सामाजिक किसी भी पहलू से हो, अपेक्षाकृत काफी पिछड़ी हुई है इसमें सन्देह नहीं। वह मात्रा में कुछ कम हो सकती है, पर यह कहना या सुनना सही नहीं है कि वहाँ अस्पृश्यता की अब वैसी समस्या नहीं रही। बड़े बड़े शहरों की बात छोड़ दीजिये, किन्तु ग्रामों में से अस्पृश्यता अभी कहाँ गयी है ? मेरा विश्वास है कि खुद हरिजनों का और जिन्होंने अपने जीवन के बड़े हिस्से को अस्पृश्यता निवारण के काम में ही खर्च किया है, उन सेवकों का मत इस मान्यता से निश्चय ही भिन्न है।

जगत में मूलतः दुःख था, है और रहेगा; दुःख की समस्या थी, है और रहेगी। किन्तु उसे पहचाना था सही दृष्टि से भगवान बुद्ध ने। जिस रूप में दुःख का प्रश्न, उसका निरोध और निरोध का मार्ग बुद्ध के सामने आया था, उसका पता उसी रूप में दूसरों को नहीं था। हममें से इसी प्रकार आज जो अपने धंधे में फंसे पड़े हैं उन्हें दूसरों की समस्याओं का पता न चलना स्वाभाविक हो सकता है। गांधीजी को, ठीक बुद्ध की तरह, अस्पृश्यता का शल्य चुभा और उसे निकाल फेंकने का मार्ग भी उन्होंने शोध निकाला। उनकी दृष्टि में वह विशुद्ध धर्म-संशोधन का प्रश्न था। ठक्कर बापा ने भी उसी मार्ग को पकड़ा और देश के अनेक लोक-सेवकों ने भी अपने जीवन रस से सूखते हुए धर्मवृक्ष को फिर से हरा किया।

जो सचमुच समझते हैं कि किसी-न-किसी रूप में हरिजनों की समस्या आज भी ग्रामों में और कुछ कुछ शहरों में भी है, ऐसे लोक-सेवक शास्त्रीय या कानूनी वाद-विवाद में न उतर कर धर्म संशोधन के इस महान कार्य में अपने आपको लगा दें, खपा दें। अस्पृश्यता का अन्त उनकी जीवन साधना से ही होगा।

किशोर घ० मशरूवाला

नारी की प्रतिष्ठा

वर्तमान भारत में हमारी स्त्रियों के प्राण और शील पूरी तरह सलामत नहीं हैं। अक्सर अपने परिवार के बीच रहते हुए भी वे खुद को सुरक्षित नहीं पातीं। प्रवास, मेलों और बड़ी सभाओं, जलसों आदि में अगर वे जाती हैं, तो कुछ खतरा उठाकर ही जाती हैं। यदि किसी रिश्तेदार, मित्र या बुजुर्ग के भरोसे वे भेजी जाती हैं, या जाती हैं, तो बाज दफा उसी की तरफ से उन पर जोखम आ जाती है। स्वर्गीय श्री आनंदी बाई कर्वे ने अपनी छोटी-सी दिलचस्प आत्म-कथा में इस बारे में स्वानुभव के कुछ किस्से पेश किये हैं, जो बतलाते हैं कि नजदीक के रिश्तेदार और बड़े-बूढ़े भी कितने अविश्वास-पात्र होते हैं। कई स्त्रियाँ अपने अनुभव की ऐसी कहानियाँ बतायेंगी। किसी बड़े युद्ध या खूंरेजी के दरमियान और बाद में तो मनुष्य के विचार इतने असंयत बनते मालूम होते हैं कि पाँच-सात साल की बच्चियाँ भी उनके विकार और निर्दयता की शिकार बन जाती हैं। युद्ध के ऐसे परिणामों को देखकर ही तो गीता में कहा होगा कि युद्ध स्त्रियों की पवित्रता का नाश कर देता है।

इस विषय को आज छेड़ने का निमित्त यह है कि अभी हाल में मेरे पास स्त्रियों और अज्ञान लड़कियों के साथ किये गये बुरे व्यवहार के एक के बाद एक दुःखप्र कुछ किस्से आये हैं।

एक में बीसेक साल के एक नौजवान शिक्षक ने ९-१० साल की लड़की पर अत्याचार किया था। दूसरा किस्सा भी एक शिक्षक का ही है। वह बड़ी उम्र का, विवाहित और बच्चे वाला जवान था। एक मित्र की १३-१४ साल की बेटी उसके भरोसे और प्रतिपालन में उसके घर कुछ साल से रहती थी। अपनी पत्नी की कुछ दिनों की गैरमौजूदगी में उसने उस बेचारी को कई दिनों तक खराब किया। एक तीसरे किस्से में तो एक सयानी लड़की को अपने ५०-५५ वर्ष के बाप से ही बचने के लिए अपने पड़ोसी की पत्नी की शरण खोजनी पड़ी। एक और किस्से में बीसेक साल की एक युवती को एक छोटे गांव में कस्तूरबा केन्द्र खोलकर नया-नया बैठाया गया था। गाँव के एक ५० ५५ साल के पुराने कांग्रेस कार्यकर्ता और जनपद-सभा के पदाधिकारी ने उस केन्द्र की देखभाल करने और कार्यकर्ता बहन की मदद करने की जिम्मेदारी उठाई थी। इस आदमी की योग्यता के विषय में जिले के नेता की तरफ से सिफारिश की गई थी। केन्द्र के लिए कुछ दवाइयां वगैरह खरीदने के लिए इस शख्स के साथ वह

लड़की नागपुर गई। रात में नागपुर के एक धर्मशाला में ठहरना पड़ा। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर इस बाप की जगह रहे हुए शख्स ने लड़की को भ्रष्ट किया। इस घटना की बात सुनकर तरुण स्त्री-कार्यकर्ताओं और स्वयं संचालिका और मंत्री को कितना सदमा पहुंचा और भय लगा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। सामना करने की हिम्मत तो हमने अपनी लड़कियों में पैदा ही नहीं की है। अपने पर किये गये जुल्म की बात किसी के आगे खोलने में भी वे डरें, ऐसा हमारा सामाजिक वायुमंडल है। मुंह बाँधकर मारे जानेवाले पशु की-सी उनकी स्थिति है। ऐसी दशा में दुनिया का अनुभव न रखनेवाली तरुण लड़कियां किसके भरोसे बिलकुल अपरिचित देहात में जाकर बैठें? संचालिका की बैठाने की हिम्मत भी कैसे हो?

शायद कहा जायगा कि ऐसे किस्से विरले ही समझे जाने चाहियें। इतने बड़े किसी भी देश की करोड़ों की जनसंख्या में ऐसी घटनायें कभी-कभी घट सकती हैं। इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि हमारा सारा समाज ही इतना पतित है। यह उत्तर ठीक भी है। परन्तु नीचे दिये हुए किस्से हमारे समाज के संस्कारों को प्रदर्शित करने वाले हैं।

पहला किस्सा पूर्व पंजाब का है। किसी उद्धत पंजाबी जवान ने एक शरणार्थी युवती को छेड़ने की कोशिश की। इससे शरणार्थियों में गुस्से का एक तूफान उठा और उन्होंने उस जवान को पकड़कर बुरी तरह पीटा। इतना काफी न समझकर वे उसके घर पहुंचे। देखते-देखते ५०० आदमियों का टोला बन गया। उन्होंने उसके रिश्तेदारों को भी बहुत मारा। उसकी बीबी को रास्ते पर खींच लाये, और उसके सब कपड़े फाड़कर नंगी करके उसे रास्ते पर घुमाया। इसके साथ उसे किस तरह की गालियाँ दी गईं और कैसे भद्दे इशारे किये गये, यह कहने की जरूरत नहीं। लेकिन किसी पुरुष या स्त्री ने इसे रोकने की चेष्टा नहीं की!

शायद इस किस्से के बारे में कोई कहेगा कि ये लोग संभवतः असंस्कारी अशिक्षित शरणार्थी थे। वे जिस अपमान, कष्ट, नुकसान आदि से गुजरे हैं, उसके फलस्वरूप उनका नैतिक स्तर अधिक गिर गया है, और उस पंजाबी जवान के पहले अपराध से वे बेताब और बेकाबू हो गये थे। परंतु नीचे के किस्से में ऐसी कोई बचाव की भी गुंजाइश नहीं।

यह भद्दी घटना कुछ सप्ताह पूर्व नागपुर की जीवन-विकास प्रदर्शिनी में हुई। उसमें लोगों के मनोरंजन के लिए एक संगीत के जलसे का प्रोग्राम जाहिर किया गया था। उसमें एक प्रसिद्ध गायिका संगीत सुनानेवाली थी। शहर के कई लोग — अधिकतर स्कूल और कॉलेज के युवक-युवती तथा अच्छे घर की स्त्रियां उसे सुनने के लिए इकट्ठी हुई थीं। कुछ कारण से वह गायिका हाजिर न हो सकी, और देर तक राह देखने के बाद

आयोजकों को प्रोग्राम रद करने की खबर श्रोताओं को देनी पड़ी। इससे श्रोता बड़े आवेश में आ गये और स्कूल तथा कॉलेज के और वैसे ही दूसरे गुंडे जोर से शोरगुल करते हुए तोड़-फोड़ करने लगे। इन्होंने काँच तोड़े, बल्ब फोड़े और अंधेरा कर दिया। फिर वे स्त्रियों पर टूट पड़े। कई को पकड़ा, कपड़ा खींचे, और हैवान भी न करे ऐसा वर्ताव उनके साथ किया। पुलिस ने बड़ी मुश्किल से शांति स्थापित की। अब तक जो बातें प्रकट हुई हैं, उनपर से यह निरी असभ्यता ही कही जायगी।

इस प्रकार की बुराइयाँ हमारे रोजाना जीवन की एक साधारण घटना होती जा रही हैं। हमारे स्कूल और कालेज चरित्र गिराने और कुसंस्कारों का पोषण करने के अखाड़े बनते जा रहे हैं। सभाओं में शोरगुल करके कार्रवाई रोक देने, अपने अध्यापकों पर प्राणघातक हमला करने, प्रतियोगियों का खून करने, विद्यार्थिनियों को छेड़ने, और उनके वश न होने पर उन्हें सताने और छुराबाजी करने तक की सीमा को वे पहुँच गये हैं। विद्यालयों से वे ज्ञान बहुत कम लेते हैं, और वहाँ के वायुमंडल में सभ्यता तो उससे भी कम रह गई है। विद्यार्थिनियाँ जहाँ जाती हैं, वहाँ अपने पीछे लड़कों को भटकते हुए देखती हैं। कुछ ही लड़कियाँ इतनी हिम्मतवाली होती हैं कि ऐसे लड़कों को सबक सिखा दें। बहुत-सी घबड़ाकर किसी तरह उन्हें टालने के मार्ग खोजती हैं। लड़कों का यह बर्ताव हैवानों से भी बदतर है, क्योंकि हैवान भी एक मर्यादा से बाहर नहीं जाते। यह तो निरी शैतानियत ही है।

बरसों से हमारे देश में संस्कृति की बहुत ज़्यादा चर्चा चलती रही है। जगह-जगह सांस्कृतिक परिषदों और कार्यक्रमों के आयोजन होते हैं। अपनी प्राचीन संस्कृति और उसके पुनरुद्धार की बातें हम बड़े गर्व से करते हैं। नगर सस्कृति, ग्राम संस्कृति, आर्य संस्कृति, आदिवासी संस्कृति, हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख वगैरह संस्कृतियाँ, गुजराती, महाराष्ट्री आदि प्रादेशिक संस्कृतियाँ, वगैरह अगणित संस्कृतियों की बाढ़ आयी है। मैं नम्रता से पूछता हूँ कि यह कौन-सी संस्कृति हमारे देश में फैल रही है, जो स्त्रियों की सलामती और इज्जत को दिन-ब-दिन खतरे में डाल रही है? हमारे देश के पुरुषों में यह राक्षसी वृत्ति कहाँ से आ गई है? ३-४ हजार वर्ष हुए जब व्यासजी ने द्रौपदी के वस्त्रहरण की कथा गाई थी और द्रौपदी की आर्त पुकार के श्लोक बनाये थे "कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन।" तब से लेकर आज तक हमारी स्त्रियाँ—

"लज्जा मोरी राखो श्याम हरी।
कीनी कठिन दुःशासन मोसे गहि केशों पकरी।"

की प्रार्थना करुण स्वर से गाती रही हैं। लेकिन न तो वह घटना अभी तक पुराना किस्सा बनी है और न वह प्रार्थना प्रसंगहीन। दुष्ट कौरवों, असहाय द्रौपदियों, बलहीन पांडवों, तथा स्तब्ध-से मूढ़ साक्षित्व करने

वाले भीष्म, द्रोण आदि वृद्धों के मौन की परम्परा आज भी वैसी ही कायम है, जैसी महाभारत की रचना के समय थी। व्यक्तिशः भीष्म और द्रोण की तरह ऐसे महापुरुषों की हमारे देश में कमी नहीं, जिनका चरित्र बहुत ऊंचा और आचार पवित्र हो। लेकिन इनकी ऐसी व्यक्तिगत पवित्रता दुष्ट के हाथ में पड़ी हुई द्रौपदियों की रक्षा करने और समाज के दूषणों का मुकाबला करने का बल नहीं रखती। यदि उच्च चरित्र, भलाई आदि सद्गुण दुष्टता के विरोध में अपनी शक्ति इकट्ठी करके उसका मुकाबला करने के लिए तैयार न हों, तो वे सद्गुण अल्पमूल्य हैं। यदि उनका कुल परिणाम बुराई को ढाँक देने, या दबी जबान से उसके खिलाफ नापसंदगी दरसाने जितना ही होता हो, तो वह भलापन निकम्मा है। क्योंकि इसका नतीजा इतना ही आता है कि बुराई खानगी में बैठकर गप्पें मारने का विषय बन जाती है।

स्त्रियों को भी ज़्यादा हिम्मत वाली बनना जरूरी है। बेशक, सैकड़ों साधुचरित स्त्रियाँ हमारे देश में हैं! लेकिन अकसर मानो अपने पवित्र जीवन के कारण ही वे हलके चरित्र की स्त्रियों की अपेक्षा बुराई का विरोध करने में ज्यादा असमर्थ होती हैं। हलके चरित्र की स्त्रियों को पुरुष का डर नहीं लगता और यदि वे चाहें तो अपना और अपने अधीन रही अबलाओं का सफलता से बचाव कर सकती हैं। पुरुष की वासना को शिकार बनी हुई निर्दोष स्त्रियों के प्रति भी साध्वी स्त्रियों की अपेक्षा वे ज्यादा समभावपूर्वक बर्ताव करती हैं। साध्वी स्त्रियां पुरुष का सामना करने से डरती हैं और बुरे आदमी द्वारा भ्रष्ट की हुई स्त्री के प्रति भी सहानुभूति नहीं रखतीं। शिकार को भी शिकारी की तरह निन्द्य समझती हैं। यदि ऐसी कोई बाला ऐसे रिश्ते में हो, जिसका वे त्याग न कर सकें, तो वे उस घटना को छिपा देने का प्रयत्न करती हैं, दुष्ट की दुष्टता को जाहिर करने की हिम्मत नहीं बताती। ऐसे साध्वीपन की कीमत भी बहुत कम है। यह साध्वीपन अहिंसा का फल नहीं और न सत्य तथा शील के प्रति आदर का ही फल है। यह कायरता और पुरुषार्थहीनता का सूचक है। इसमें सक्रिय भलाई की प्रेरणा का भी अभाव है। ऐसे साध्वीपन से न तो स्त्री जाति के शील की रक्षा हो सकती है, न नारी की प्रतिष्ठा बढ़ सकती है।
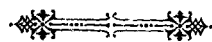
भूपतराय मो० दवे

मिट्टी से रोग-निवारण

एक रोगी का रोग किसी भी तरह दूर नहीं होता था। उसको गत पांच वर्षों से भूख नहीं लगती थी। जो भी भोजन वह करता, उसे खट्टी डकारें आतीं। पेट भारी लगता। सारे दिन बेचैनी रहती और शरीर में एक प्रकार की दुर्बलता अनुभव होती। हाथ-पावों में दर्द रहता। किसी किस्मकी खूराक में उसे स्वाद नहीं आता था। पेशाब पीला और दुर्गन्धयुक्त। इन सब कारणों से उसे बार-बार दस्त लगते। दस्त पतले और दुर्गन्धपूर्ण होते। दस्त आनेके बाद पेट में दर्द होता। घड़ी भर चरपाई पर आरामसे पड़ा रहना पड़ता। सच बात तो यह है कि उसकी अंतड़ियाँ कमजोर पड़ गई थीं। जठर की अग्नि मन्द हो गई थी।

मैंने चिकित्सा शुरू की। सबेरे ताजी छाछ का एक प्याला वह पीता। दो घंटों बाद संतरों का रस। दोपहर को पेट पर गीली मिट्टी का लेप। शुरू में दस मिनट, फिर जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे प्रति दिन पांच मिनट का समय बढ़ाया गया और अन्त में एक घंटे तक रखा जाने लगा। समय गुजरने के साथ लेप सूखता जाता और मिट्टी बिल्कुल सूख जाती। पेट पर से मिट्टी का लेप हटा देने के आध घन्टे बाद ताजी छाछ का एक प्याला दिया जाता। शाम को चार बजे एक प्याला सन्तरे का रस। छाछ और रस को खूब चूस-चूस कर और आराम से पीने का अभ्यास कराया गया। पेट पर मिट्टी का लेप करने की क्रिया प्रति तीन घन्टे बाद होती। मिट्टी के इस प्रयोग से रोगी की अंतड़ियों को ठण्डक और आराम पहुंचता। उन्हें नया रक्त मिलता। फल स्वरूप दस्तों की संख्या घटने लगी और एकाध महीने तक उपरोक्त प्रकार का तरल पदार्थ सेवन करने और मिट्टी का लेप करने से रोगी की शारीरिक स्थिति में ठीक-ठीक सुधार हुआ।

\+ \+ \+ \+

मिट्टी का मूल्य आंका नहीं जा सकता। मिट्टी अनेक प्रकार से मनुष्य के लिए उपयोगी है। मिट्टी से खाद्य पदार्थ पैदा होते हैं। मिट्टी हमारे शरीर से रोगों को दूर करने के लिए भी अनेक प्रकार से उपयोगी होती है। हमारा शरीर पंच तत्त्वों से बना हुआ है। और उसमें मिट्टी भी एक है। अत: हमें मिट्टी-रूपी औषधि की कीमत आंकना सीखना चाहिए।

नाक में नकसीर हो, मुंह में छाले हो जाते हों, बार बार कब्ज हो जाता हो, रक्तचाप (हाई ब्लड-प्रेशर) हो, बुखार आता हो, शरीर के किसी भाग पर

सूजन हो, दस्त लगते हों अथवा संग्रहणी का रोग हो, आँखे जलती हों अथवा सिर गरम रहता हो, इस प्रकार के अनेक रोगों में गीली मिट्टी का पेट पर लेप करने से खूब आराम मिलता है। कितनी ही बार रोग जड़-मूल से नष्ट हो जाता है। मेरा यह वर्षों का अनुभव है।

स्त्रियों के मासिक धर्म संबंधी रोग, विशेषकर थोड़े समय में मासिक धर्म होना, अतिरिक्त रजोदर्शन, अत्यधिक रजोदर्शन, प्रतिदिन रक्तस्राव होना, गर्भाशय में सूजन, प्रदर आदि इस प्रकार की शिकायतों में पेट पर गीली मिट्टी का लेप करने से शर्तिया लाभ होता है।

स्त्रियों को मासिक रजोदर्शन होना स्वाभाविक है, किन्तु कितनी ही स्त्रियों को यह रजोदर्शन दस-बारह दिन तक होता रहता है। इससे शरीर में फीकापन और निर्बलता आ जाती है। पेट पर गीली मिट्टी का लेप दस से बीस मिनिट तक रखने से रजोदर्शन थोड़े दिनों में बन्द हो जाएगा। खूराक में गर्म पदार्थ जैसे बैंगन, अचार, मिठाई, खट्टे पदार्थ इत्यादि का सेवन नहीं करना चाहिए।

मिट्टी के प्रयोग से पूरा फायदा उठाने के लिए आहार-विहार में भी हेर-फेर करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो मिट्टी के प्रयोग से पूरा लाभ नहीं मिलेगा।

+ + +

लेप बनाने के लिए मिट्टी को साफ कर लो, कचरा-कंकर निकाल डालो। उसके बाद एक मिट्टी अथवा पीतल के बर्तन में उसे डालो। फिर स्वच्छ पानी। मिट्टी अच्छी तरह भीग जाय तब तक पानी डालते रहना चाहिए। एक-दो घण्टे मिट्टी को भीगने दो। उसके बाद उसका उपयोग करो। रोटी के लिए गोंधकर जैसे आटा तैयार करते हैं, वैसे ही गीली मिट्टी का पिण्ड बनाना चाहिए। फिर पतले कपड़े के टुकड़े पर गीली मिट्टी को फैला दिया जाय और कपड़ा दुहरा कर के पेडू अथवा पेट पर अथवा जहां आवश्यक हो, वहाँ रख दिया जाए। लेप के बाद ठण्डी हवा न लगने देने के लिए गरम कपड़े से ढक देना चाहिए।

लाल, पीली, काली, सफेद अथवा जिस प्रकार की भी मिट्टी सुलभ हो उसका उपयोग किया जा सकता है। किन्तु सबसे अच्छी काली मिट्टी होती है। खेत की काली स्वच्छ मिट्टी अनेक रोगों में लाभदायक होती है। ऐसी काली मिट्टी न मिल सके तो और किसी प्रकार की मिट्टी काम में ली जा सकती है।

मिट्टी का लेप शुरू में पाँच से दस मिनट तक रखा जा सकता है। अनुकूल प्रतीत हो तो थोड़ा-थोड़ा समय बढ़ाया जाय। एक से दो घंटे तक मिट्टी का लेप रखा जा सकता है। यदि रोगी को अनुकूल पड़े तो चार से छः घन्टे तक रखा जा सकता है। जिसकी शारीरिक स्थिति बहुत कमजोर हो उसे थोड़े समय तक ही रखना चाहिए। भोजन करने के बाद एक घन्टे पीछे मिट्टी का लेप किया जाय।

(शेष पृष्ठ ३८ पर)

वेरियर एलविन

कुत्तिया - कोन्द

यदि आपको कुत्तिया-कोंदों के प्रदेश में जाना हो तब आपके लिए सुभीते की यह बात होगी कि आप रायपुर अथवा विजया-नगरम् से रेल-यात्रा करें और अम्बोदला पहुँचें। यहाँ पर गाडी करीब आधी रात को पहुँचती है। फिर यहाँ से जंगलों की ओर जाना होता है और सोलह मीलों के बाद डोमों की एक वस्ती मिलती है और उसके बाद चौदह मीलों के उवड़-खावड़ रास्तों को तय कर कुत्तिया गांवों के दर्शन होते हैं।

कोंदों का एक बहुत बड़ा कबीला है। इनकी भाषा द्राविड़ शाखा की है और उड़ीसा के गोंदियों की भाषा से काफी मिलती-जुलती है। लेकिन हमारा संबंध इस लेख में कोंदों की उस जाति से है जो कुत्तिया कोंद कहलाती है। ये कुत्तिया-कोंद गंजाम जिले के उत्तर-पश्चिम के सुनसान घने जगलों और पहाड़ों में बसे हुए हैं। ये बहुत ही गरीब पर साथ ही बहुत चौकन्ने रहते हैं। देखने में भी काफी सुन्दर हैं। और सबसे बड़ी खूबी की यह बात है कि एक बार यदि आपको उनसे परिचय हो गया, तब तो आपके लिए वे अपनी जान तक भी दे सकते हैं।

वे जो चौकन्ने रहते हैं उसके बहुत सच्चे कारण हैं। पतरों-जमींदारों तथा अछूत-डोम कर्जदारों का भूत उन पर सदा सवार रहता है। जंगल-विभाग के कर्मचारियों से उन्हें सदैव निपटारा करना पड़ता है। और (शहरों के) काले बाजार के भेड़िये या शैतान की शक्ल में व्यापारी जो आये दिन वहां पहुँचे रहते हैं, वे इन गरीब, सीधे-सपाट लोगों की सरलता और सीधापन का बहुत ही अनुचित फायदा उठाते रहते हैं। प्रकृति का भी कोप उन पर सदा बना रहता है। वे ऐसे क्षेत्र में रहते हैं जहां खूँखार जानवरों की टोलियां बेफिक्र घूमा करती हैं और फलतः आये दिन इनके जीवन और जायदाद पर आघात करती रहती हैं।

जब मैं पहले-पहल इनके गांवों में गया था तब मेरा डाक लेकर एक कोंद रेलवे स्टेशन जा रहा था। बीच ही में एक बाघ ने इसे मार दिया। दूसरी सुबह जब हमलोग वहां घटना स्थल पर पहुँचे तो देखा कि जमीन खून से सराबोर है और मेरी चिठ्ठियां इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। इधर जंगली हाथी भी बहुतायत में पाये जाते हैं और इनका भय सदा बना रहता है। खाद्यान्नों को ये बहुत हानि पहुँचाते रहते हैं। कभी कभी जब खतरनाक रास्ते से गुजरना पड़ा है तब तो ऐसा भी हुआ है कि हमलोग काफी आदमियों को जमाकर और एक काफिला बनाकर उस राह से गुजरे हैं।

इन कुत्तियों के साथ मित्रता करनी कोई आसान काम नहीं है। मेरे खिलौनों से वे डर जाते थे और उन्हे सदा शंका बनी रहती थी कि उन कल-पुर्जों में कहीं कोई जादू-मंत्र तो नहीं है। जब मैं ग्रामोफोन बजाया करता था तो ऐसा होता था कि वे ओझाओं की तरह मस्त झूमने लगते थे। हां, मेरे 'कैमरे' से वे जरा भी चकित न होते थे, शायद वे नहीं जानते थे कि वह चीज है क्या ?

ये कोंद वाकई घुमक्कड़ हैं। वे सदा अपने गांवों को बदलते रहते हैं। अपने गांवों को तो ऐसी-ऐसी अगम्य जगहों पर बसाते रहते हैं कि जहां न तो कोई समतल भूमि है और न कोई आसानी से कैंप इत्यादि ही डाल सकता है। वे कुल्हाड़ी से जंगलों को साफ करते और वहां अन्नादि उपजाते हैं। वे क्रमिक कृषि के विषय में सावधान रहते हैं और इस तरह खेती करते हैं ताकि जंगल हमेशा के लिए बर्बाद न हो जाँय। प्रत्येक गांव के पास परम्परागत करीब एक दर्जन ऐसे नियुक्त स्थान रहते हैं कि क्रमिक रूप से एक जगह के जंगल की समाप्ति के बाद दूसरे नियुक्त स्थान में कृषि की जाय। इनके घर बहुत ही छोटे होते हैं। दरवाजे तो और भी छोटे होते हैं। एक बार मुझे इन्हीं के घर में रहना पड़ा। दरवाजे इतने छोटे थे कि भीतर जाने या बाहर निकलने के लिए तो हमें अपने हाथों और ठेहुनों पर रेंग कर आना-जाना पड़ा।

इनके गांव बड़े रंगीले होते हैं। घरों की दो लंबी लंबी कतारें होती हैं और हरेक घर अपने पड़ोस के घरों से जुटा रहता है। ठीक मध्य में आसमान को चूमता हुआ एक नुकीला स्तंभ बना रहता है जिसके ऊपरी सिरे पर भैंस के दो सींग रहते हैं। यहीं बलि आदि दी जाती है। 'पृथ्वी माता' का भी एक पाषाणी स्तंभ रहता है, जिसके पीछे सहारे के रूप में तीन और पत्थर के खंभे रहते हैं। कभी-कभी तो बलि का स्तंभ नक्काशी किया हुआ रहता है, जिसमें भैंस का सिर-पंजर, हिरण की पूँछ, सांभर की हड्डियां तथा भैंस के खुर लगे रहते हैं। गांव पूर्णतया साफ-सुथरे और चिकने रहते हैं।

आज भी इन कोंदों की मनोवृत्ति मानव बलि की ओर बड़ी प्रबल है। उपज के लिए मेरियों में जो पृथ्वी माता को मानव-बलि चढ़ायी जाती थी, आज से करीब सौ वर्ष पहले सरकार ने उस पाशविक रीति की समाप्ति कर दी थी। इस सीधी-सादी जाति ने कभी ऐसी पाशविक रीति को अपनाई हो अथवा ऐसी प्रथा को पुनः अपने समाज में वह जागृत करना चाहती है, सोचना कठिन है। पर बात ऐसी ही है। करीब-करीब हरेक गाँव के पुजारी के घर में बलि की पुरानी सामग्रियाँ जैसे छूरे, जंजीर अथवा खून की हाँडी अभी भी पायी जाती है। ये पुजारी ऐसा भी कहते हैं कि जब कभी आकाश में पूरा चाँद खिला रहता है तो मानव-रक्त के लिए आज भी इन प्यासे हथियारों को रोते हुए सुना गया है! अभी

भी सदियों के पुराने मानव के सिर-पंजर, हड्डियाँ आदि संजो कर रखी हुई हैं, जिसका व्यवहार कभी-कभी उत्सवों और त्योहारों पर हुआ करता है। एक शिकारी के पास ऐसी ही पुरानी हड्डी थी। उसने कहा कि आखेट की सफलता उसे उसी हड्डी के टुकड़े के कारण हुआ करती है।

मेरियों द्वारा की गयी नर-बलियों पर जब सरकार ने प्रतिबंध लगा दिया तब इन कोंदों ने भैंसों की बलि देनी शुरू की। जब ये बलियाँ दी जाती हैं तब उस दैवी-स्तंभ के निकट मानव का सिर-पंजर अथवा उसीका बना एक ढांचा मात्र रख दिया जाता है। आज ऐसे कुछ आदमी हैं जो इस भैंस-बलि को भी रोक-देना चाहते हैं। यद्यपि उनका ध्येय बड़ा ही सुंदर है; लेकिन वे बहुत बुद्धिमान नहीं हैं। यदि कोंद इनलोगों की चाल से भड़क गए तब भैंस-बलि को छोड़ने के बाद संभवतः वे नर-बलि की भी पुरातन-प्रथा शुरू न कर दें। और यदि सच पूछिए, आज भी वर्ष भर में एकाध नर-बलियां तो हो ही जाती हैं।

इन्हें यह सिखाना चाहिए कि खाद के लिए गोबर आदि उचित पदार्थ हैं और न कि मानव-रक्त। भगवान प्रेम के भूखे हैं, लालच के नहीं। अनुसूचित-जन-जातियों की पुरानी रूढ़ियों और परम्पराओं के खोते में मारने के पहले लोगों को गांधीजी की निम्नलिखित बात पर विचार करना चाहिए :—

'एक बड़े समाज में ऐसी एक प्रथा हो जो दूसरे समाज के सदस्यों द्वारा अनुचित और अन्याय संगत मालूम हो, पर फिर भी संभव है कि वह प्रथा बिल्कुल हानिप्रद नहीं है।'

इन कोंदों को तंबाकू अत्यन्त प्रिय है। पीने के लिए बहुत सुंदर नली बनाते हैं। तंबाकू की उत्पत्ति के विषय में एक बहुत ही सुंदर किंवदन्ती है। एक लड़की थी जो बहुत ही बदसूरत थी। उस से कोई शादी ब्याह करना नही चाहता था। तब वह अपने जीवन से ऊब गयी और अंत में अपने भगवान के पास जाकर उसने अपनी मृत्यु की भीख माँगी। भगवान ने उसकी प्रार्थना सुन ली और वह मर गयी। लेकिन बात यहीं खत्म होनेवाली नहीं थी उसके मृत-शरीर से एक पौधा का जन्म हुआ, जो बाद में जाकर तंबाकू कहा जाने लगा। जिस लड़की को तब दुनिया में किसी ने न चाहा, उसी को परिवर्त्तित रूप में अब सभी चाहते हैं!

गदाबों और मुरियों की तरह इन कोंदो के गाँव में भी ग्रामीण-विश्रामशालायें रहती हैं। पर ये उतनी विकसित नहीं हैं। बालक और बालिकाओं के अलग-अलग अपने-अपने घर हैं। ये अपने-अपने कर्मचारी स्वयं नियुक्त करते हैं जिन्हें नाना प्रकार के सामाजिक कर्त्तव्य और अपनी अपनी जिम्मेदारियां हैं। इन विश्रामशालाओं के क्लबों का अपना-अपना महत्व है। इनमें समाज के छोटे छोटे बच्चे तथा सदस्यों का विकास समुचित ढंग से हुआ करता है।

इन कुत्तिया-कोंदों में ऐसी ऐसी विशेषताएँ हैं जिन्हें देखकर कोई भी इन्हें, आम आदिवासियों से भिन्न पायेगा। मध्य-प्रदेश के 'गोंड़-किसान' अथवा थाना के 'वर्लियों' और इन कोंदों में कोई भी समानता नहीं है। इन कुत्तिया-कोंदों की समस्या भी एक बड़ी समस्या है। सच पूछिये तो गोंड वर्लियों आदि की कोई विशेष समस्या नही है। उन्हें केवल दूसरों की लूट तथा गरीबी से बचाना है। लेकिन इन कुत्तियों के साथ क्या और कैसे किया जाय ? हाँ, कुछ राजनीतिज्ञ इनकी कुल्हाड़ी कृषि को स्थगित करने के लिये कह सकते हैं। लेकिन उस अवस्था में इनकी जीविका कैसे और कहाँ चलेगी ? कहाँ इन्हें जमीन मिलेगी ? और अगर इनको जंगलों से हटाकर समतल पर रहने और जीविकोपार्जन के लिए कहा जाय तो अखिर उन जंगलों की देख-भाल कौन करेगा ? समतल पर के बुद्धिमान और कृत्रिम स्वभावयुक्त निवासियों से इनकी रक्षा कौन करेगा ? आदिमजातियों की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं—चिकित्सा-प्रबंध, क्योंकि इनमें बहुतेरे बुरी तरह से बीमार हैं, फिर स्वार्थियों से इनकी रक्षा, और अन्तिम कि जंगलों में इनके कुछ अधिकार और बढ़ा दिए जाएँ।

मिट्टी से......

मिट्टी का लेप सबेरे, दोपहर, सायंकल और रात्रि को भी किया जा सकता है। रोगियों को अपनी अनुकूलता और प्रकृति को समझकर करना चाहिए। ठण्ड लगे, कंपकपी हो, तो नहीं करना चाहिए या गरम चादर ओढ़कर करना चाहिए। उससे ठण्डी हवा असर नहीं करेगी। मिट्टी का लेप करने के बाद पेट में दर्द हो तो गरम पानी की थैली से सेंक करो।

पुराना कब्ज रहता हो तो पहले पेट पर दस मिनट गरम पानी की थैली से सेंक करो और उसके बाद लेप।

मिट्टी के विषय में इतना जान लेने के बाद हम समझ-बूझ कर मिट्टी का प्रयोग करें और रोगमुक्त बनें। मिट्टी में अनेक गुण हैं। उसकी सहायता से शरीर में से विष चूस लिया जाता है। शरीर में से विषैले तत्त्वों को बाहर निकालने के लिए मिट्टी का उपयोग करके हमको रोगमुक्त होना चाहिए और अन्य लोगों का सहायक बनकर उन्हें रोग से बचाना चाहिए।

मिट्टी मर्त्यलोक की परमौषधि है।

विद्यानन्द
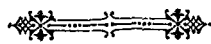
मानभूम के हरिजन

मानभूम के चार लाख से अधिक भी हरिजनों की आबादी में बाउरी, रजवार, मोची, हारी, धोबी, घासी, डोम आदि जाति के लोग हैं। इनमें बाउरियों की संख्या सबसे अधिक है। इन सभी जातियों में शिक्षा का सर्वथा अभाव है। अशिक्षा और अधिक मादक द्रव्य सेवन के कारण गरीबी और गरीबी के कारण चरित्र भ्रष्टता आदि दुर्गुणों के ये शिकार हो रहे हैं। ये अधिकतर घास-फूस की छोटी-छोटी झोपड़ियों में रहते हैं। घर के आस-पास सड़े-गले कूड़ा-करकट के ढेर लगे रहते हैं। दिन में भात और रात में मुरही, मकई या दूसरे किसी अन्न की सूखी-रूखी रोटी खाते हैं। पुष्टकर भोजन का तो कहना ही क्या। नशा का व्यवहार स्त्री-पुरुष सभी करते हैं। विवाह के समारोह में आमदनी से अधिक ही खर्च कर डालते हैं। इन में प्रचलित बहु-विवाह और तलाक की प्रथा की प्रबलता के विरुद्ध आवाज उठने लगी है और संगटन के द्वारा कुरीतियों को रोकने का प्रयत्न शुरू हो गया है। इनकी मातृभाषा हिन्दी है। अंग्रेजी जमाने में अहिन्दी भाषी अफसरों के खड्यंत्र से बंगला को प्रधानता मिल जाने से इनकी भाषा विकृत हो गई। आज भी मानभूम के सुदूर देहातों में इनकी महिलाएँ कुरमाली एवं मगधी मिश्रित विकृत हिन्दी बोलती हैं। अब फिर यह अपनी मातृभाषा को अपनाने लग गए हैं। पीने के पानी का इन्हें घोर कष्ट है। देहातों में कुएँ का सर्वथा अभाव है। इनको गंदा कीचड़मय पानी पीना पड़ता है। फलस्वरूप यह बीमार हो जाते हैं। जिला बोर्ड न कुआँ का प्रबन्ध करती है, न कुँआ के अभाव में बीमार पड़ने पर इनकी चिकित्सा ही का। लेकिन जमाना बदल रहा है। इन पिछड़े मानवों की सुधि ली जा रही है। सरकार की ओर से इनकी देख रेख का प्रबंध हो रहा है। रोग पुराना है और गहराई तक गया हुआ। समय लगेगा, लेकिन इनके भी सुख के दिन आयंगे। मानभूम के हरिजन खुद भी अपनी उन्नति के लिये अब सचेष्ट हों, ईश्वर से यही प्रार्थना है।

"...कई कांग्रेसजनों ने अस्पृश्यता-निवारण को केवल राजनैतिक दृष्टि से ही जरूरी समझा है और यह नहीं माना कि हिन्दुओं को उसकी आवश्यकता अपने धर्म की रक्षा के लिए है। कांग्रेसी हिन्दू यदि इस काम को शुद्ध भावना से अपने हाथ में ले लें तो सनातनी कहलाने वाले लोगों पर आजतक जो असर हुआ है उससे कहीं अधिक असर पड़ सकेगा।

—महात्मा गांधी

गंगा प्रसाद गुप्त

हरिजनों के वैधानिक अधिकार

बापू और बापा की प्रेरणा से तथाकथित अस्पृश्य जातियों के प्रति देशव्यापी सद्भावना का उदय हुआ। इसकी प्रतिक्रिया जनता की बनाई हुई केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों पर हुई। 'बिहार हरिजन एक्ट' की निम्नलिखित धाराएँ संक्षिप्त रूप में उदाहरणार्थ उद्धृत की जाती हैं :—

प्रत्येक संगीतालय, सरकस, चलचित्र-गृह, व्यायामशाला, जलपान-गृह या कहवा गृह में हरिजन बेरोक-टोक आ-जा सकेंगे।

किसी नदी, सरोवर, झरना, स्नान-घाट, कूप, जलाशय, जल-कुण्ड, पानी का टब, पनशाला, स्वास्थ्य संबंधी सुविधा, मसान, किराए पर चलने वाली या आम सवारी का उपयोग करने से हरिजन रोके नहीं जा सकेंगे।

किसी भी सार्वजनिक संस्था, मेला, सभा, जन-समूह, मठ, मंदिर, समाधि स्थान, धर्मशाला, सम्मलेन, जुलूस या बैठक में जाने आने या भाग लेने से हरिजन रोके या वंचित नहीं किए जा सकेंगे।

ऐसी दूकान में जाने से हरिजन नहीं रोके जायँगे जिस में साधारणतः हिन्दुओं की सभी अन्य जातियों एवं वर्गों के लोगों का प्रवेश है।

अपनी इच्छा के विरुद्ध बेगारी अथवा कम मजदूरी पर काम करने को हरिजन बाध्य नहीं किये जायँगे। हरिजन वर या वधू को किसी भी सार्वजनिक स्थान, सड़क या मार्ग से डोली-पालकी से उतरने को बाध्य नहीं किया जायगा अथवा इस प्रकार की डोली-पालकी के किसी ऐसे स्थान, सड़क या मार्ग से होकर ले जाने से नहीं रोका जायगा।

हरिजनों को अपने विधि-सम्मत अधिकारों के प्रयोग में न कोई उन्हें आघात पहुँचाएगा, न व्यथित करेगा और न अन्य रूप से हस्तक्षेप करेगा।

न्यायालयों में हरिजनों के प्रति कोई भेद भाव नहीं होगा। 'क्रिमिनल प्रोसिड्योर कोड' में निहित किसी धारा के रहते हुए भी इस विधान के अन्तर्गत दंडनीय कोई भी अपराध अनुसंधेय होगा।

हरिजन-कानूनों में वर्णित अधिकारों के प्रयोग से रोकने अथवा रोकने में प्रोत्साहित करनेवाले, प्रमाणित होने पर, अपराधी को छः महीने तक का साधारण कारावास अथवा ५००) तक का अर्थ दंड अथवा दोनों प्रकार के दण्ड दिये जायँगे।
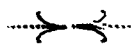
रासबिहारी लाल

दस वर्ष....

भारत के नए विधान में हरिजनों को समानाधिकार मिले हैं। दस वर्ष तक संरक्षण की सुविधाएँ रहेंगी जिसके बाद उन्हें पूर्ण रूप से अपनी योग्यता और बल पर खड़ा होकर अपने अधिकारों का उपभोग करना है। इस तरह दस वर्षों की छोटी अवधि में ही उन्हें अपने को समर्थ बना लेना है। यह कैसे हो ?

आदमी मुश्किल खुद आसान कर सकता है। हर आदमी अगर अपनी कमजोरियों को समझने की सचाई से कोशिश करे तो न केवल वैयक्तिक उत्थान ही होगा बल्कि सामूहिक कल्याण भी। वह योग्य ग्रामीण और सफल नागरिक बन सकेगा। हरिजन इसके अपवाद नहीं हैं।

संविधान में समानाधिकार मिल गया, अब कुछ करना नहीं है, यह सोचना घातक सिद्ध होगा। समानाधिकार भोगने की योग्यता हासिल करनी है। और यह सिर्फ दस वर्ष में। समय जाते देर नहीं लगती। गया हुआ वक्त वापिस नहीं आता। समय का सदुपयोग ही सफलता की कुञ्जी है। प्राप्त संरक्षण और सुविधाओं से लाभ उठाकर, रूढ़ियों और अहितकर परम्पराओं की दीवार तोड़ कर हरिजन अगर पूरा प्रयास नहीं करेंगे तो इन दस वर्षों के बाद भी वह समानाधिकारों का पूर्ण उपयोग कर सकेंगे, कहा नहीं जा सकता।

समय उनका साथ दे रहा है। उनके मार्ग में अब बहुत रोड़े नहीं रह गए हैं। सवर्णों में हृदय परिवर्त्तन के चिह्न नजर आ रहे हैं। हरिजन स्वयं जागरूक हैं। उनके नेता जागरूक हैं। जागरूकता प्रगति का द्योतक है। सरकार सचेष्ट है। उसने हरिजन कल्याण-विभाग खोल रक्खा है जिस के द्वारा बहुत ही उपयोगी काम हो रहे हैं। सरकार हरिजनों के सामाजिक जीवन में मंगलमय परिवर्त्तन लाने की चेष्टा कर रही है। हरिजन स्कूलों, मंदिरों, होटलों आदि में बेरोक-टोक आ-जा सकते हैं। अगर कोई रोक थाम करेगा, उसे कानून के शिकंजे में फँसना पड़ेगा।

हरिजन अपना हक पहिचानें। अपनी गरीबी और अज्ञानता के कारण वह संरक्षण और सुविधाओं से पूरा लाभ नहीं उठा पा रहे, यह छिपी बात नहीं है। उन्हें ऐसा बनना है कि वह प्राप्त संरक्षण और सुविधाओं से लाभ उठाएँ और उनके नहीं रहने पर अपने बल पर खड़ा रह सकें। इसके लिए उन्हें सर्वप्रथम शिक्षित बनना है। इस संबंध में सरकारी सुविधाएँ प्रचुर मात्रा

(शेष पृष्ठ ४३ पर)

पिछड़ी जातियाँ

संविधान के ४६ वें अनुच्छेद के अनुसार सरकार निर्बल वर्ग की शैक्षिक एवं आर्थिक उन्नति करेगी तथा सामाजिक अन्यायों से रक्षा करेगी। निम्नलिखित वर्ग, जो सामाजिक एवं शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हैं (परिगणित जातियों एवं जन-जातियों को छोड़कर जो राष्ट्रपति के 'परिगणित जातियाँ एवं जन-जातियाँ आज्ञा १६५०' के अन्तर्गत नामाँकित हैं) निर्बल समझे जायेंगे।

जातियों अथवा दलों के नाम :—

१ बारी, २ बनपर, ३ बेलदार, ४ भठियारा (मुसलिम), ५ भेड़ीहर, (गड़ेरी सम्मिलित), ६ बिंद, ७ चिक (मुसलिम), ८ डफाली (मुसलिम), ६ धानुक, १० धोबी (जो मुसलमानी धर्म मानते हैं), ११ धुनियाँ (मुसलिम), १२ गोड़ी (छबि सम्मिलित) १३ हजाम, १४ कहार, १५ कसब (कसाई मुसलिम), १६ केवट, १७ खटिक, १८ माली (मालकार), १६ मल्लाह (सुरहिया सम्मिलित), २० मदारी (मुसलिम), २१ मेहतर, लालबेगी, हलखोर, भंगी (मुसलिम धर्म माननेवाले), २२ मिरियासिन (मुसलिम), २३ नट (मुसलिम), २४ नोनिया, २५ पंवरिया (मुसलिम), २६ शखारा, २७ ताँती (ततवा), २८ तुरहा, २६ अबदल (पूर्णिया), ३० अगरिया (लातेहार एवं गुमला), ३१ अघोरी (पटना तथा तिरहुत डिवीजन), ३२ बागदी (मानभूम), ३३ बनजारा (संथाल परगना), ३४ भार (छोटानागपुर), ३५ भास्कर (पलामू), ३६ भुनहर (छोटानागपुर), ३७ भूइयाँ (तिरहुत, भागलपुर तथा छोटानागपुर डिवीजन पलामू जिनमें जिला सम्मिलित नहीं है), ३८ चैन (उत्तर तथा दक्षिण बिहार), ३६ चपोता (मुख्यतः संथाल परगना में), ४० धामिन (उत्तर बिहार), ४१ धाँवर (छोटानागपुर), ४२ धेकारू (दुमका), ४३ धीमार (दरभंगा), ४४ गंधर्व (उत्तरी बिहार एवं भागलपुर), ४५ गंगई (गणेश-किशनगंज), ४६ गंगौता (गंगोत) (भागलपुर डिवीजन), ४७ गुबगंगुलिया (छोटानागपुर), ४८ जदुपतिया (संथाल परगना), ४६ कादर (भागलपुर एवं संथाल परगना), ५० कैबार्त्ता (मानभूम एवं किशनगंज), ५१ कलंदर (नवादा तथा सिवान), ५२ काओरा (सिंहभूम), ५३ काबर (छोटानागपुर), ५४ खतवे (उत्तरी बिहार), ५५ खेतौरी (छोटानागपुर और संथाल परगना), ५६ कोरकू (मभूआ), ५७ कमरभग पहड़िया (जिला संथाल परगना), ५८ कुर्मी (महतो) छोटानागपुर डिवीजन, ५६ मभवर (छोटानागपुर), ६० मलार (मल्हौर) छोटानागपुर, ६१ मंगर (मगर) चंपारन, ६२ मरकंडे (संथाल परगना), ६३ मौलिक (संथाल परगना तथा मानभूम), ६४ मेदारा (दरभंगा), ६५ मुरियारी (संथाल परगना और गया), ६६ नामशूद्र (चांडाल) किशनगंज, ६७ नैया (भागलपुर डिवीजन), ६८ प्रधान (छोटानागपुर), ६६ पहिरा (मानभूम एवं राँची), ७० पांडो (राँची), ७१ पनगनिया राँची), ७२ सौंतार (सौंता) राँची और सिंहभूम), ७३ तमड़िया (छोटानागपुर), ७४ थारू (मोतीहारी) तथा ७५ तायर (भागलपुर डिवीजन)

संख्या १ से २८ तक समस्त राज्य के

लिए लागू है। अन्य वर्गों के क्षेत्र उनके नाम के सामने लिख दिये गये हैं। जिन जातियों एवं समूहों के सामने मुसलिम अंकित नहीं है, उनमें हिन्दू और मुसलिम दोनों सम्मिलित हैं।

निम्नलिखित जातियों अथवा समूहों के विद्यार्थियों की जो छात्रवृत्तियाँ रोक दी गयी थीं उनसे उन विद्यार्थियों को काफी कठिनाई हो गयी होगी। पर अब राज्य की सरकार जब तक दूसरी कोई आज्ञा न निकले। उन्हें फिर चालू कर देना चाहती है।

१ अहीर (ग्वाला अथवा यादव), २ अमात, ३ बढ़ही, ४ बड़ई, ५ बनिया (सुरहि, हलवाई, रौनियार, पैसारी, मोदी, कसेरा, केसेरबानी, ठठेरा, कलवार सम्मिलित), ६ भाँट (मुसलिम), ७ चूड़िहार (मुसलिम), ८ देभर, ९ घटवर, १० इदरिसी या दर्जी (मुसलिम), ११ जोगी (जुगी सम्मिलित), १२ कानू, १३ कर्मार (लोहार तथा करमकार सम्मिलित), १४ कोयरी, १५ कुम्हार, १६ लाहेरी, १७ मिशीकिर (मुसलिम), १८ मोमिन (मुसलिम), १९ मलबंद (मुसलिम), २० परध, २१ राजवंशी (रंसिया एवं पोलिया सम्मिलित), २२ रंगरेज (मुसलिम), २३ रौतिया, २४ रयंन या कुंजड़ा (मुसलिम), २५ सोनार, २६ सुकियर, २७ तमोली, २८ तेली।

जिन जातियों एवं समूहों के सामने मुसलिम अंकित नहीं हैं, उनमें हिंदू और मुसलिम दोनों सम्मिलित हैं। जैसे तेली में हिंदू तथा मुसलमान दोनों सम्मिलित हैं।

दस वर्ष......

में उपलब्ध हैं जिनसे उन्हें लाभ उठाना चाहिए। विना पढ़े लिखे प्रगति संभव नहीं। बच्चे स्कूलों में, वयस्क रात्रि पाठशालाओं में पढ़ें। स्त्रियाँ भी यथासाध्य पढ़ें। पढ़े-लिखे माता-पिता के बच्चे अच्छे होते हैं। वह साफ-सुथरा रहें कि स्वस्थ बनें। संयम का पालन करें कि घरेलू बकवास झगड़े बन्द हों। नशाबन्दी उनका नारा हो। नशाखोरी से स्वास्थ्य नष्ट होता है – मिहनत की कमाई मिट्टी में मिलती है। नशा पीकर आदमी झगड़ा मोल लेता है, अपना समय बर्बाद करता है। इसका पूर्ण परित्याग होना चाहिए। कर्ज लेना बन्द हो। कर्ज लगाने वाला सूद तो लेता ही है, कर्जदार को गुलाम बना लेता है। इनके चंगुल से मुक्त होना है।

नवयुग का निर्माण हो रहा है। समाज के सभी अंग उत्सुकता से आगे बढ़ रहे हैं। हरिजन पीछे नहीं रह जायँ यह देखना है। वे समाज के अत्यन्त आवश्यक अंग हैं। वे पिछड़े हुए थे इसी से देश पीछे रहा है। अब उन्हें बढ़कर सार्वजनिक जीवन में भाग लेना है कि देश अपनी खोई शक्ति को पाकर अजेय बने।

जिस दिन हरिजन अपने पैरों पर पूर्ण रूप से खड़े होंगे विश्व-वन्द्य बापू की तपस्या के फल-स्वरूप प्राप्त हमारी स्वतंत्रता के खंभे पूरी तरह मजबूत नजर आयँगे।
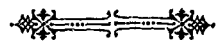
राज्यपाल भवन में

'अमृत' का उद्घाटन समारोह

"यदि पहाड़ मुहम्मद के पास नहीं जा सकता है तो मुहम्मद को ही पहाड़ के पास जाना पड़ेगा, और यही कारण है कि 'अमृत' के संचालकगण मेरे पास यहां रांची तक आये, क्योंकि मैं अपनी अस्वस्थता के कारण 'अमृत' के उद्घाटनके लिए स्वयं पटना नही जा सका।"

उपर्युक्त उद्गार हैं बिहार के राज्यपाल महामहिम श्री माधव श्रीहरि अणे के जो उन्होंने गत १८ जुलाई को रांची राज्यपालावास में जन-जीवन-संबंधी मासिक-पत्र 'अमृत' के उद्घाटन की उद्घोषणा करते हुए प्रकट किये।

राज्यपाल ने आगे चलकर 'अमृत' के संबंध में कहा :—

"पिछड़ी एवं उपेक्षित जनता के संरक्षक भारत के महान समाज-सेवी, दीनबंधु श्री अमृतलाल विट्ठलदास ठक्कर की पुण्य-स्मृति में आपका पत्र प्रकाशित हो रहा है। आर्य-संस्कृति में जो सर्वश्रेष्ठ सुख एवं अमरत्व का प्रतीक है उसी अमृत के नाम पर इसका नामकरण हुआ। और यही नाम है उस महापुरुष का भी जिसका जीवन ही समाज-सेवा के लिए था तथा जिसकी गणना बीसवीं सदी के प्रथमार्ध के मानवता के एक सबसे महान समाज-सेवियों में हैं।

"आपका मार्ग कंटकाकीर्ण है, पर साथ ही पवित्र भी है। दीन, असहाय एवं उपेक्षितों की सेवा में आपकी निरंतर प्रगति की मैं कामना करता हूं।

"'अमृत' के प्रकाशन का उद्घाटन करते आज मुझे अत्यंत हर्ष हो रहा है। इस पत्र के उद्देश्य की व्याख्या छपे हुए परिपत्रों में की गयी है। यह पत्र मुख्यतः समाज सेवा पर ध्यान देगा। हमें इस प्रकार के पत्रों की आवश्यकता है।
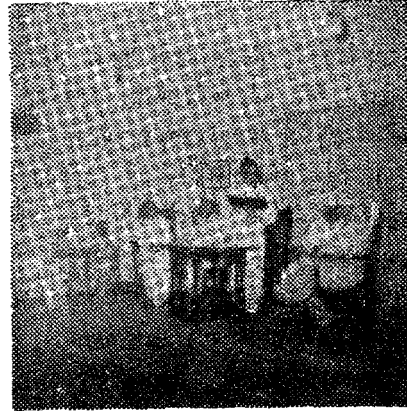
महामहिम श्री अणे 'अमृत' का उद्घाटन कर रहे हैं।

"मैं आज यहां 'अमृत' के प्रकाशन की उद्घोषणा करता हूं!

"यह वस्तुतः शुभ संयोग है कि ठक्कर बापा की मानव-सेवा के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का यह समारोह ऐसी तिथि पर हो रहा है

जो हिन्दू पंचांग में गुरू-पूर्णिमाके नामसे प्रसिद्ध है; गुरू अर्थात् उपदेष्टा या राष्ट्र-शिक्षक की तिथि। आज सारे भारत में व्यास-पूजा की जा रही होगी।

"ठक्कर बापा उपेक्षितों के उपदेष्टा थे— निस्सन्देह वे दीन-दलितों के सेवा धर्म के प्रवर्त्तक एवं प्रचारक थे। उन्होंने पतितोद्धार का मानो एक संप्रदाय ही चलाया। आधुनिक भारत के वे महान् गुरू थे।

"अतः ठक्कर बापा की स्मृति में तथा दीन-असहायों की सेवा की उनकी प्रवृत्तियों के प्रचार के लिए प्रकाशित 'अमृत' का यह जन्म-समारोह मनाकर हम वस्तुतः धार्मिक एवं सांस्कृतिक कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं।

" 'ठक्कर बापा की जय' के नारे से हम अपना भाषण समाप्त करते हैं—

"ठक्कर बापा की जय।"

महामहिम के भाषण के पश्चात् सर्व-प्रथम वयोवृद्ध स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'घट घट बसने वाले उस ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि इस देश से जाति-पांति का भेद-भाव मिट जाए और भारत अपनी महान संस्कृति का विकास करता हुआ अपने पूर्व गौरव को प्राप्त करे। ठक्कर बापा के नाम पर यह जो 'अमृत' पत्र निकल रहा है वह सात्विक संदेश का प्रचार करे।'

आदिवासी बालिकाओं के 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' पाठ के बाद 'अमृत' के संपादक तथा बिहार हरिजन सेवक संघ के मंत्री श्री नगेन्द्र नारायण सिंह ने 'अमृत' के प्रकाशन के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा—'श्री ठक्कर बापा के निधन का शोक मनाने के लिए पटने के मछुआ टोली डोम खाने में आयोजित एक सभा का सभापतित्व करते हुए राज्यपाल महोदय ने अपनी इच्छा प्रकट की थी कि पूज्य बापा के विचारों और कार्यों का प्रचार करने के लिए एक पत्र निकलता तो अच्छा होता। 'अमृत' का जन्म इसी उद्देश्य तथा महामहिम की उसी इच्छा के कारण हुआ है।'
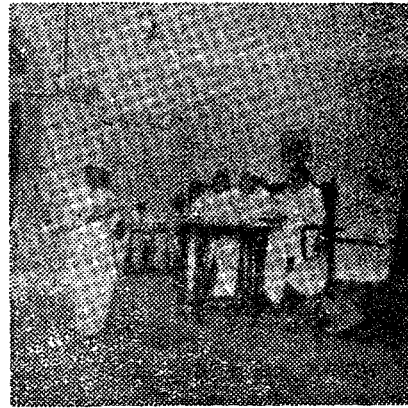
श्री नगेन्द्र नारायण सिंह, सम्पादक 'अमृत', शुभ-सन्देश पढ़ रहे हैं।

बाद में नगेन्द्र बाबू ने बाहर से आये हुए संदेश पढ़ सुनाये। ('अमृत' के प्रथम अंक में वे संदेश प्रकाशित हो चुके हैं।)

अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ के प्रधान मंत्री तथा हिन्दी के स्वनामधन्य लेखक श्री वियोगी हरि ने ठक्कर बापा के जीवन तथा सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुए कहा—'बापा का ध्यान तथा हृदय सदा

हरिजनों और आदिवासियों पर लगा हुआ था। वे प्रायः सन्त तुकाराम तथा नरसी भगत के भजन गाया करते थे। बापा के ईश्वर गोपाल थे, और मालूम है बापा के लिए यह गोपाल कौन थे ? आदिवासी और हरिजनों के गन्दे, चिथड़ों में लिपटे और मल-मूत्र में सने नन्हें-सुकुमार बच्चे। यही उनके गोपाल थे। इन्हीं की सेवा वे करना चाहते थे और करते थे। बिनोबा ने ठीक ही कहा है वे कर्मयोगी नहीं, भक्त थे–भक्त !'
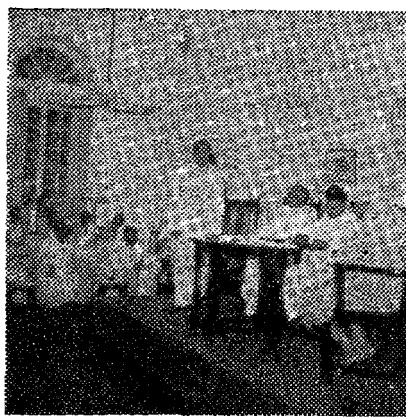
श्री वियोगी हरि भाषण दे रहे हैं।

माननीय श्री जगलाल चौधरी, स्वास्थ्य मंत्री, बिहार, ने कहा 'हरिजनों को इतनी शक्ति मिले कि वे अत्याचारों को रोक सकें, नहीं तो उनकी कोई भी सेवा व्यर्थ है। ठक्कर बापा हरिजनों के सबसे बड़े मित्र थे। 'अमृत' का प्रकाशन केवल उनकी स्मृति को चिर-स्थायी बनाने के लिए ही नहीं, वरन् हरिजनों की सेवा के लिए भी हो रहा है। मैं इसका अभिनन्दन करता हूँ।'

बिहार के राजस्व-मंत्री माननीय श्री कृष्णवल्लभ सहाय ने कहा –'बापा सच्चे अर्थों में सन्त थे। आदिवासियों और हरिजनों की सेवा में वे पागल हो उठते थे। 'अमृत' जैसे पत्रों का मूल्य पिछले वर्गों में सेवा करने का ही है। मैं इसकी सफलता की कामना करता हूँ !'

जन-गण-मन, के गान के पश्चात् सभा विसर्जित हुई।

अतिथियों के जलपान का आयोजन राज्यपाल की ओर से हुआ था। जलपान में अन्न पदार्थ एक भी नहीं था। 'अमृत' के संपादक ने श्री अणे से अतिथियों का परिचय कराया। महामहिम ने प्रत्येक टेबुल पर जाकर लोगों से हाथ मिलाये।

इस अवसर पर जो उपस्थित थे उनमें भाषण-कर्त्ताओं के अतिरिक्त प्रमुख यह थेः— आचार्य श्रीबदरीनाथ वर्मा, श्रीसुखलाल सिंह, श्री नारायणजी, श्री एम० एस राव, श्री मुनीश्वर प्रसाद सिंह, श्रीयमुना प्रसाद, श्रीकन्त कुमार लाल, श्री डा० के० रहमान, श्री अखौरी गोपी किशोर, श्री विन्ध्याचल प्रसाद सिंह, श्री रामरत्न, श्रीराधाकृष्ण, श्री सुरेन्द्र बहादुर, श्री रामचरित्र सिंह, श्री आदित्य मित्र संताली, श्री एन० एन० वर्मा, श्री नागेश्वर पाण्डे, श्री अखौरी नारायण शेखर, श्री वैद्यनाथ सहाय, श्री गंगा प्रसाद बुधिया, श्रीरामजीवन सिंह, श्री विजय कृष्ण दत्त, पन्ना बाबू, श्री हरदयाल सिंह, श्री पी० एन० मजुमदार, श्री चन्द्रबारकर, श्री ब्रज विहारी लाल, श्री राजेन्द्र प्रसाद, श्री धर्मवीर शास्त्री, श्री गिरीन्द्र नारायण, कुमारी रोशनी, कुमारी महेन्द्र, कुमारी अमर नई, कुमारी जयामणि, कुमारी मीरा, कुमारी विन्ध्येश्वरी इत्यादि-इत्यादि।

अशर्फीलाल दास

बेगार की रोक-थाम

बेगार की प्रथा नई नहीं है। देश-विदेश के इतिहास गवाह हैं कि बेगार के नाम पर लोगों पर अत्यन्त नृशंस और पाशविक अत्याचार किये गए। संसार के अधिकतर विशाल और सुन्दर नगर, नहर और मठ-मंदिर-समाधि बेगार के परिश्रम से बनाये गए। सबसे अधिक अत्याचार खेत-मजदूरों पर हुए। अनादि काल से यह हो रहा है। आज भी बन्द नहीं है। बेगार खटाने के न जाने कितने बहाने हैं। कोई वंशगत बेगार है; उसका पुरखा दाम देकर खरीदा गया था! पुश्त-दर-पुश्त चुप बेगार खट रहा है। कोई बेगार के लिए वाध्य है कि उसके पुरखों ने या उसने लाचार कभी कर्ज लिया था जो अभी नहीं सधा! यह कर्ज कभी नहीं सधने दिया जाता। किसी को बसने के लिए या जोतने के लिए थोड़ी जमीन दी गई और उस की मालगुजारी में उसे खटना है। इस तरह, देश-देश में, प्रान्त प्रान्त में, इलाका-इलाका में, एक ही लक्ष्य से, विभिन्न रूपों में आदमी-आदमी पर अत्याचार करता रहा है।

और-और देशों में यह प्रथा बहुत अंशों में मिट चुकी है। जहाँ अब भी है उसकी रोक-थाम के प्रयत्न हो रहे हैं। अपने देश में कई वर्ष पहले काँग्रेस की ओर से एक जाँच कमिटी नियुक्त हुई थी। उसकी रिपोर्ट में दर्ज है कि गुजरात के सूरत जिला में आबादी का पाँचवाँ हिस्सा किसी न-किसी रूप में बेगार खट रहा था। बिहार के हजारीबाग जिले के एक गाँव में भी यही अनुपात था। मालाबार में दशा इससे अच्छी नहीं थी। कम मजदूरी पाने के कारण लोग घोंघा, केंकड़ा और चूहों को खाकर दिन काट रहे थे। उत्तर-प्रदेश के कुछ हिस्सों में तो बेचारे अपने मालिकों के मवेशियों के मल से चुन कर अन्न के दाने खाने के लिए विवश पाये गए।

देश अब स्वतंत्र है। लेकिन, स्वतंत्रता के साथ बेगार की प्रथा चली गई ऐसा नहीं हुआ। कम या अधिक, यह पाप अभी भी हो रहा है। देशवासी इस कलंक के धब्बे को अपने हाथों धोने की कोशिश करेंगे इस की आशा नहीं है। जो ऐसा करते, बेगार ले नहीं रहे। जो बेगार के व्यापार से अपनी देह पाल रहे हैं, उनमें वह समझ नहीं कि इस पाप से अपने को अलग कर लें। बापू ने इस प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई। और भी न जाने कितने लोगों ने कहा, लिखा। गति कुछ शिथिल पड़ गई हो, लेकिन यह प्रथा अभी गई नहीं—जा नहीं रही।

बेगार की प्रथा को बन्द कर देने के लिए सन् १६३० में ही जिनेवा के अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने मसौदा स्वीकार किया। हर सदस्य देश के लिए यह जरूरी कर दिया गया कि जहाँ तक हो सके कम-से-कम समय के अन्दर वह अपने यहाँ हर तरह की बेगार को बन्द कर दे। सन् १६३१ में भारत सरकार के सुझाव पर, कई प्रान्तीय सरकारों ने बेगार बन्द किये जाने के लिए आदेश निकाले और बहुतेरी देशी रियासतों ने भी बेगार के सम्बन्ध में कानून बना दिए। नवम्बर १६४४ में प्रान्तीय श्रम-मंत्रियों का सम्मेलन हुआ, जिसने सिफारिश की कि बेगार के विषय में आम जाँच कराई जाए। अगस्त १६४८ में एक अफसर इस खास काम पर लगाया गया कि वह केन्द्र तथा प्रान्तों के बेगार संबंधी कानूनों का अध्ययन करे और बताये कि उनमें कौन-कौन अंश अपत्तिजनक हैं जिन्हें निकाल देने या बदल देने की जरूरत है। इस अफसर के सुझावों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने जो सिफारिशें कीं उनके अनुसार उड़ीसा, मद्रास, पंजाब और उत्तर-प्रदेश की सरकारों ने कुछ न-कुछ करना स्वीकार कर लिया है।

इधर भारतीय संविधान में बेगार के चंगुल में फँसे लोगों को कानून द्वारा रक्षा की गारंटी दी गई है। अनुच्छेद २३ (१) द्वारा जबुरिया मजदूरी वर्जित है–सिवा उन स्थितियों के जो अनुच्छेद २३ (२) में आती हैं और जिनके अधीन सार्वजनिक हित के लिए जबुरिया सेवा ले सकने का अधिकार राज्य को दिया गया है—तथा अवज्ञा अपराध मानी गई है। इसके विरोधी दूसरे सारे कानून अनुच्छेद १३ (१) के अनुसार गैर-कानूनी हैं, और इस प्रकार के किसी भी कानून की कैसी भी व्यवस्था के बावजूद, अनुच्छेद २३ के विरुद्ध जबुरिया मजदूरी कराना भारतीय दंड विधान की ३७४ वीं दफा के अनुसार दंडनीय अपराध माना गया है।

यह सब होते हुए भी देहातों में अभी भी धाँधली चल रही है। बेगार की इस धाँधली को रोकना बिलकुल आसान भी नहीं है। उस पर परम्परा की मुहर लगी हुई है। दूसरों को दुखा-सता कर, उनकी बेगार को ही बहुतों ने अपनी जीविका बना लिया है। लेकिन इस जघन्य प्रथा को अब जल्द जाना चाहिए। इसके विरुद्ध जो कार्रवाई होनेवाली हो उसे अब होना ही चाहिए। जबुरिया बेगार तुरंत बंद हो और अपराधियों को कड़ा दंड मिले कि बेगार लेने वालों की हिम्मत पस्त हो। जो बेगार खटते हैं वह अब और खटना अस्वीकार कर दें।

प्रकाशक—श्रीनगेन्द्र नारायण सिंह, मंत्री, बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना

मुद्रक—वैशाली प्रेस, पटना-४

'अमृत' के नियम

१. 'अमृत' प्रतिमास प्रकाशित होगा।

२. इस का वार्षिक मूल्य ५) और एक प्रति का आठ आना है।

३. पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या लिखने की कृपा करें।

४. 'अमृत' में जन-जीवन, विशेषतः हरिजनों, आदिवासियों तथा अन्य उपेक्षित वर्गों के कल्याण-संबंधी स्वस्थ एवं सुरुचिपूर्ण रचनाओं का विशेष स्थान होगा। यह रचानात्मक कार्यकर्त्ताओं की व्यावहारिक कठिनाइयों तथा उनके निराकरण सम्बन्धी सुझावोंका स्वागत करेगा।

५. 'अमृत' में अश्लील तथा भद्दे विज्ञापन नहीं लिए जायेंगे।

भारत के प्रत्येक कोने में एजेन्टों की आवश्यकता है। एजेंसीके नियमके लिए मैनेजर, 'अमृत' बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना-४ को लिखें।

तार :—'सेवकसंघ' पटना। फोन :—पटना १४६।

बापा की पुण्य-स्मृति में—

अमृत

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

बी० एम० दास रोड :: पटना-४

नशीली चीजों की मनाही

इस सुधारके लिये आज सबसे अच्छा मौका है। आज देशमें पंचायतका राज है। हिन्दुस्तानके दोनों हिस्सोंके साथ-साथ देशी राज भी इस सुधारके लिये तैयार हैं। दोनों हिस्सोंमें भुखमरी फैली हुई है। न खाने को अनाज मिलता, न पहननेको कपड़ा। जब लोग भुखमरी और नंगेपनके किनारे खड़े हों, तब शराब, अफीम वगैराके बारेमें सोचा भी नहीं जा सकता। शराब और अफीम पीने-वाले लोग पैसा तो बरबाद करते ही हैं, साथ ही अपने आप पर काबू भी खो देते हैं। नशेके असरमें आदमी न करने लायक काम भी कर बैठता है। इसलिए हर तरह से विचारते हुए नशीली चीजों का खाना और पीना बन्द होना ही चाहिये।

हम सिर्फ [illegible] करके ही इस बुराई को [illegible] सकते। नशा करनेवाले [illegible] चीजें लाकर खायें-पियेंगे, [illegible] काला बाजार [illegible] करनेके लिए [illegible] तैयार नहीं होंगे।

इसलिए [illegible] बातें एक साथ की जानी चाहिए :

(१) जरूरी कायदा बनाया जाय,

(२) लोगोंको नशेकी बुराई समझाई जाय।

(३) शराबकी दूकानोंपर ही सरकारको पीनेकी निर्दोष चीजोंकी दूकानें कायम करनी चाहिए, और वहां किताबों, अखबारों और खेलोंके रूपमें मनबहलावके निर्दोष साधन रखने चाहिए।

(४) शराब, अफीम वगैरा बेचनेसे जो आमदनी हो, वह सब लोगोंको नशीली चीजें न वापरनेकी बात [illegible] खर्चकी जानी चाहिये।

(५) नशीली चीजोंकी बिक्रीसे होनेवाली आमदनी को राष्ट्रके बच्चोंकी शिक्षामें या जनता को फायदा पहुँचानेवाले दूसरे कामों में खर्च करना बड़ा पाप है। सरकारको ऐसी आमदनी राष्ट्र-निर्माणके कामोंमें खर्च करने का लालच छोड़ना ही चाहिये। अनुभव यह बताता है कि नशीली चीजोंका खान-पान छोड़नेवालेको जो फायदा होता है, उसे सारी प्रजाका फायदा समझना चाहिये। अगर हम इस बुराई को जड़से खतम कर दें तो हमें राष्ट्रकी आमदनी बढ़ानेके दूसरे बहुतसे रास्ते और साधन आसानीसे मिल जायँगे।

—महात्मा गांधी

अमृत

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

वर्ष – एक

नवम्बर, १९५१

अंक – चार

सम्पादक

नगेन्द्रनारायणसिंह

गिरीन्द्रनारायण, मोहिनीमोहन

★

वार्षिक मूल्य – पांच रुपया

एक प्रति – आठ आना

बापा की जयन्ती पर बापू के विचार

बापाकी इकोत्तरवीं जयंती मनाने में मुझे शामिल होना चाहिये. लेकिन मैं इस लायक नहीं रहा हूं. मैं तो चाहता हूं कि बापा सौ वर्ष पूरे करें. बापाका जन्म ही पीडितों की सेवा के लिये हुआ. गरीबों, अस्पृश्यों, आदिवासियों का [illegible] स्वामी है. उनकी कदर करने में भी हम इन शक्तियों की कुछ न कुछ सेवा करते हैं. बापाकी सेवाने हिंदुस्तान [illegible] बढ़ाया है।

[illegible] मो. क. गांधी

२७ ११ ४९

बापा

वर्ष एक

अंक चार

पटना, नवम्बर १९५१

सेवक की प्रार्थना

हे नम्रता के सम्राट!
दीन भंगी की हीन कुटिया के निवासी!
गंगा, यमुना और ब्रह्मपुत्र के जलों से सिंचित
इस सुन्दर देश में
तुझे सब जगह खोजने में हमें मदद दे।
हमें ग्रहणशीलता और खुला दिल दे;
तेरी अपनी नम्रता दे;
हिन्दुस्तान की जनता से
एकरूप होने की शक्ति और उत्कंठा दे।
हे भगवान्!
तू तभी मदद के लिए आता है,
जब मनुष्य शून्य बनकर तेरी शरण लेता है।
हमें वरदान दे
कि सेवक और मित्र के नाते
जिस जनता की हम सेवा करना चाहते हैं,
उस से कभी अलग न पड़ जायें।
हमें त्याग, भक्ति और नम्रता की मूर्ति बना,
ताकि इस देश को हम ज्यादा समझें,
और ज्यादा चाहें।

—महात्मा गांधी

सम्पादकीय

घातक प्रचार

विभिन्न वर्णों में विभाजित इस दुःखी देश में डा० अम्बेडकर ही नहीं और भी कुछ लोग हैं जो 'निम्नवर्णों' की क्रांति के नाम पर वर्णों को ललकार रहे हैं—जहरीला घातक प्रचार कर रहे हैं। इस राष्ट्रविरोधी प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति और प्रचार का हम प्रतिवाद और घोर विरोध करते हैं।

विरोध इसलिए नहीं कि हम शोषणों, वर्गों और वर्णों के किसी तरह के पक्षपाती हैं। हम तो मानते हैं कि देश से सभी तरह के शोषणों को जल्द-से-जल्द जाना चाहिए। वर्गों को, वर्णों को भी। युग की मांग है वर्गहीन, वर्णहीन, सामाजिक और आर्थिक समानता की स्थापना। यह वर्गों और वर्णों के संगम पर नहीं तो उनके समतल पर हो। प्राचीन प्रतिद्वंदिताओं को प्रोत्साहन दे कर एक की समाधि पर दूसरे की प्रतिष्ठा के प्रयत्न को हम राष्ट्रविरोधी प्रतिक्रियावादी प्रयास के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते।

धर्म के नाम पर देश के विभाजन का नतीजा हम देख चुके। समस्याएँ सुलझीं तो क्या, और उलझ गईं। राष्ट्रीय एकता के विभाजन का यह नया प्रयत्न अब हमारे सामने है। नाश के जो नारे लगाए जा रहे हैं उनको कतई सुनने से अगर हम इन्कार नहीं कर देते तो देश की रही-सही शक्ति के समूल नाश के दिन दूर नहीं।

गरीबी, बेकारी, बीमारी, निरक्षरता, अन्न-वस्त्र-संकट इत्यादि न जाने कितनी समस्याएँ हमारे सामने हैं। सुरक्षा, राष्ट्रीय एकता तथा देश के नव-निर्माण का तमाम काम पड़ा है। राष्ट्र की बिखरी शक्तियों को एकत्रित कर हम देश को स्वस्थ-सबल, सक्रिय और समृद्ध बनाएँ या नामशेष ग्रन्थों और प्राचीन अविचारों-अत्याचारों का ढोल पीट कर, गड़े मुर्दे उखाड़ कर, वर्गों और वर्णों को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा करें, वर्ग-वर्ण-विभेद का निरर्थक गृह-कलह आरंभ करें—हमें यही सोचना है।

उच्च लक्ष्य को निम्न साधनों से प्राप्त करने का यह प्रयत्न लक्ष्य के लिए ही नहीं राष्ट्र के लिए भी घातक है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लक्ष्य की पवित्रता ही नहीं, साधन की पवित्रता भी आवश्यक है। कलह से शांति-सुख की स्थापना नहीं होती। साधन की स्वच्छता होने ही से लक्ष्य की प्राप्ति का फल मीठा होता है।

छगनलाल जोशी

स्वयंसेवक बापा

ऋषिकेश में 'अमृत' के सम्पादक श्री नगेन्द्र भाई के साथ दो दिन के प्रवास में ठक्कर बापा के आज से २० वर्ष पहले के संस्मरण ताजा हो आये हैं। ठक्कर बापा महान समाज सेवक थे। उनकी सेवाओं की चर्चा करने से बड़ी-बड़ी पुस्तकें भर जायँ। सन् १९३० की उनकी एक तस्वीर आँखों के सामने आ रही है। देश में महात्मा गान्धी के नेतृत्व में स्वतंत्रता आन्दोलन चल रहा था। भारत-सेवक-समाज के सदस्य होने के कारण यद्यपि ठक्कर बापा उस राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेने से विवश थे लेकिन शासकों की सख्तियों को देखकर वह अपना धैर्य्य खोकर कुछ करने के लिए विकल थे। अपनी संस्था के नियमों के अन्दर रहकर शराबबन्दी का काम वह कर सकते थे, इसलिए जब मैं गुजरात के खेडा जिला का डिक्टेटर मुकर्रर हुआ और नदियाद शहर के बाहर एक छोटी-सी धर्मशाला में १००-१५० स्वयंसेवकों के साथ रह कर काम करने लगा तब वह एक दिन चुपचाप आकर हमारे साथ हो गए।

सुबह शाम की प्रार्थना में बापा बहुत दिलचस्पी लेते थे। विदेशी कपड़ों की पिकेटिंग में कितने स्वयंसेवक गिरफ्तार हुए कितने घायल, इसकी भी खोज खबर रखते। स्वयंसेवक नियम पूर्वक सूत कातते थे। बापा सूत कातना नहीं जानते थे। इस का उन्हें बहुत दुःख था। स्वयंसेवकों की दिन-चर्य्या की और हर बात में वह समान रूप से भाग लेते थे। उनकी उम्र अधिक थी लेकिन उनकी लगन और चुस्ती नौजवानों को भी लज्जा देनेवाली थी। मकान की सफाई में वह पूरा-पूरा भाग लेते थे। दोनों वक्त स्वयंसेवकों के जूतों को अपनी जगह पर ठीक से सम्हाल कर रख देना वह कभी नहीं भूलते थे। रोटी खाने के वक्त आसन लगाना और बाद में जगह की सफाई में वह सबसे आगे रहते। यह सब काम वह मातृ-वात्सल्य भाव से करते थे।

प्रातः की कसरत के बाद स्वयंसेवकों की पंक्ति में खड़ा होकर दूध लेने में वह झिझकते नहीं थे, गौरव का अनुभव करते थे। संध्या की प्रार्थना में 'दिल में दिवा करो भाई दिवा करो' आश्रम भजनावली का यह गीत वह चाव से गाते। यह उनका प्रिय भजन था। ताली बजा-बजा कर गाते, गवाते और तन्मय हो जाते थे। दोपहर को केवल भात-दाल खाते, संध्या में खिचड़ी और कढ़ी। उनके लिए कोई विशेष प्रबंध किया जाता तो रंज हो जाते थे, डांट उठते। इस तरह नदियाद कैम्प में बापा ने बापू का स्थान ले लिया था।

एक दिन शाम को खबर आई कि महमदाबाद में शराब की दुकान की पिकेटिंग करने वाली स्वयंसेविकाएँ गिरफ्तार हो गई हैं, और पुलिस वाले उनसे ठट्ठा-मसखरी कर रहे हैं। पुरुष स्वयंसेवक तो शराब के पीठे के पास पहुंचने के पहले ही पकड़ लिए जा रहे थे। यह सब सुनकर बापा को बहुत चोट लगी। बहुत तड़के उठकर वह महमदाबाद जाने को तैयार हो गए कि हालत देख आऊँ। महमदाबाद पहुँचकर बापा शराब के पीठे से २०० कदम पर एक पेड़ के नीचे बैठे-बैठे सब कुछ देखते जाते और उसकी रिपोर्ट अपनी संस्था (भारत-सेवक-समाज) को भेजने के लिए लिखते जाते। बस, जुल्मी तथा कठोर पुलिस को गुस्सा आ गया। उसने पन्द्रह स्वयंसेवकों के साथ उनको गिरफ्तार कर लिया और एक छोटी-सी कोठरी में तीन दिन तक बन्द रखा। एक तहलका मच गया। भारत-सेवक-समाज के पदाधिकारी आ गए कि उनका सदस्य किस कारण गिरफ्तार कर लिया गया। श्री जी० के० देवधर भी जो भारत-सेवक-समाज के सभापति थे, आए। तब बापा अहमदाबाद भेज दिये गए। ठक्कर बापा की गिरफ्तारी से जो हल्ला हुआ उससे पुलिस का जुल्म कम हो गया। बहुत से स्वयंसेवक आने लगे और स्त्रियाँ आन्दोलन में पूरा-पूरा भाग लेने लगीं। खेडा जिले का सत्याग्रह बहुत आगे बढ़ गया।

ठक्कर बापा को सैनिक के रूप में बहुत कम आदमी जानते हैं। मेरी आँखों के सामने उनका वह रूप नाच रहा है। आज से २२ वर्ष पहले की यह बातें जब याद आती हैं तो आँखों में बरबस आँसू आ जाते हैं।

व्यक्ति, समाज और सदाचार···

तरह फिटकिरी धीरे-धीरे आश्चर्यपूर्ण आचरण से जल में मिल जाती है, उसी प्रकार हमारा जीवन भी जप, कीर्त्तन और ईश्वर प्रेम में धीरे-धीरे आश्चर्यपूर्ण आचरण द्वारा समाधिस्थ होता जायगा और हम काम करते हुए, भोजन करते हुए तथा अन्य संसार के प्रापंचिक कार्यों को करते हुए भी जप, कीर्त्तन और ईश्वर प्रेम में निश्चल रहेंगे और अपने सदाचरण से विचलित नहीं हो पाएंगे। परन्तु ईश्वर-भावना का परित्याग कर यदि केवल मात्र लौकिक-सामाजिक-व्यवहारों का पालन हम करेंगे तो वह सीमित और अस्थाई ही रह जायगा और हम उसमें शाश्वत-जीवन संचरित कर ही नहीं पाएंगे। कभी-कभी तो हम उकता कर अपनी सदाचरण की निष्ठा को तिलांजलि भी दे देंगे। यह कोई असम्भव नहीं — उदाहरण मिलते रहते हैं। परन्तु यदि भगवद्प्रेम, नाम-स्मरण तथा अन्य-शास्त्रोक्त नित्य-विधियों को अपने जीवन क्षेत्र के अनुसार सम्पादित किया जाय तो हम सच्चे सदाचार की आधार-शिला की प्रतिष्ठा कर पाएंगे, जिस पर जन-कल्याण का विशाल-प्रासाद बनाया जा सकेगा, प्रत्येक व्यक्ति जिसकी सुदृढ़ ईंट होगा, एकता तथा समभाव जिसको संतुलित कर पाएंगे तथा सत्य, प्रेम, आनन्द, चिरकल्याण और देवत्व हमारे विशाल प्रासाद की शोभा होंगे। क्या तब भी विश्वशान्ति एक समस्या ही बनी रहेगी?

किशोरलाल मशरूवाला

'मैं हरिजन हूँ'

"क्या तुम हरिजन हो ?"

क्या बताऊँ ? अगर मैं कहूँ कि "हाँ, मैं हरिजन हूँ", तो लोग समझेंगे कि मैं अछूत हूँ। लेकिन जब हमारा देश आजाद हो गया, तब हिन्दुस्तान की सारी कौम ने जाहिर कर दिया कि हमारे देश में आइन्दा कोई अछूत माना जा नहीं सकता। अब मुझे कोई शख्स ऐसी जगह जाने, बैठने, छूने, नहाने वगैरह से रोक नहीं सकता, जहाँ देश के आम लोगों को जाने, बैठने, छूने, नहाने आदि का अधिकार है। कोई मुझे यह नहीं कह सकता कि 'तुम बाजू हट जाओ, मुझे छू जाओगे। वहाँ मत जाओ, वह हरिजनों, अछूतों के लिए बंद है।' अगर कोई मुझे रोकता है तो यह एक गुनाह हो जाता है, इसलिए अब मैं अछूत तो नहीं रहा।

तब क्या मैं यह कहूँ कि "एक जमाने में मैं हरिजन था, लेकिन अब नहीं हूँ !" ऐसा भी कैसे कहूँ ? एक बात तो यह है कि अगरचे कानून ने मुझे कौम में बराबरी का हक दिया है, फिर भी अभी मुझे यह विश्वास नहीं कि देश का कोई पंडित, जमींदार, रईस या बनिया मेरे साथ अछूतपन का बर्ताव नहीं करेगा। यह सही है कि कानून से गुनाह हो जायगा। लेकिन मैं एक गरीब, अनपढ़, निराधार आदमी हूँ। मैं बड़ों के सामने कचहरी में जाने की ताकत कहाँ से लाऊँ ? अगर समझदार लोग खुद मुझे प्रेम से न अपनायें, तो कानून मुझे कितना सहारा दे सकता है ? जिस हद तक समझदार जनता मुझे न्याय देगी, मुझे छाती से लगायेगी और मुझे अपनी बराबरी का बनायेगी, उतना ही मेरा अछूतपन मिटेगा। तब मैं कैसे कहूँ कि अब मैं हरिजन नहीं हूँ ?

फिर यह भी सवाल उठता है कि अगर मैं हरिजन नहीं हूँ, तो मैं कौन हूँ ? क्या मैं महाजन हूँ, या दुर्जन हूँ ?

मैं किस मुँह से खुद को महाजन बताऊँ ? मेरे पास जमीन नहीं, पैसा नहीं, व्यापार नहीं। मैं पढ़ा-लिखा आदमी भी नहीं। मेरे कपड़े फटे मैले हैं। बड़े लोग मुझे अपने बहुत नजदीक नहीं जाने देते। अपनी दरी या कुर्सी पर नहीं बिठाते। मैं बूढ़ा हो जाऊँ तो भी मुझे 'आप', 'काका', 'दादा', 'बाबा', नहीं कहते। बीसों के बीच मेरा अपमान किया जाता है। "पहले लात, पीछे बात" यह उनका मेरे साथ बर्ताव करने का कानून है। क्या कहूँ ? कभी-कभी जूतों से भी पीटा गया हूँ। फिर मैं पैसे-पैसे के लिए मोहताज हूँ। कर्ज में फँसा हुआ हूँ। बीड़ी, शराब वगैरह के नशों में डूबा हुआ हूँ। मुझे न कोई विद्या सिखाई गई है, न

इल्म-हुनर सिखाया गया है। मैं कोई इज्जतदार, साफ-सुथरा पेशा कर नहीं सकता, क्योंकि मुझे वह मालूम ही नहीं। बचपन से मैं गालियाँ सुनते आया हूँ, इसलिए वही मेरी बोली हो गई है। बचपन से मार और गुस्सा सहते आया हूँ, इसलिए मैं भी अपने बीबी-बच्चों को जरा-जरा में मारता हूँ, उन पर गुस्सा करता हूँ। मुझे बड़ों की पत्तल साफ करके, जूठन खा के, मुर्दार मांस खाकर, गंदगी साफ करके, मैले-फटे कपड़े माँग के और पहन के गुजारा करने की आदत डाली गई है। नहाना-धोना, साफ-सुथरा रहना पंडितों और रईसों का धर्म है, हमारे लिए वह नहीं है, ऐसा ही मुझे सिखाया गया है। इसलिए वही मेरी आदत हो गई है, उसपर मुझे कोई नफरत नहीं होती। आप सफाई की बातें कहते हैं, तो मुझे वह आदत डालना अब मुश्किल भी मालूम होता है। तब मैं कैसे कहूँ कि मैं महाजन हूँ ?

तो क्या मैं दुर्जन हूँ ? दुर्जन तो मैं हरगिज नहीं हूँ ! महाजन होने की तो कभी-कभी चाह उठ जाती है। हमारे अम्बेडकर और जगजीवन राम हममें से ही महाजन हुए हैं। मैं भी क्यों न होऊँ ? दिल तो आखिर दिल ही है ! सब मनुष्यों में एक-सी उमंगें पैदा करता है। कभी राष्ट्रपति बनने की भी इच्छा होती है। लेकिन दुर्जन बनने की तो कभी ख्वाहिश नहीं रखता। मैं भगवान् को मानता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि वह मुझे कभी दुर्जन न बनने दे। मैं रोज भगवान् का नाम लेता हूँ, सूर्य-नारायण का दर्शन करता हूँ, उसको हाथ जोड़ता हूँ और माँगता हूँ कि जिस राह से जाने से भगवान् की कृपा होती है, वही राह मुझे दिखावे, जो संतों का, भगवान् के भक्तों का मार्ग है, उसपर ही मुझे रखे। गलत रास्ते से जाने से मुझे रोके, क्योंकि वह दुर्जनों का रास्ता है, और उसपर जाने वालों पर परमात्मा नाराज होता है। मैं भगवान् का भक्त होने में अभी तक सफल नहीं हुआ हूँ, परन्तु मेरी श्रद्धा तो हरिभक्ति में ही है। तो मैं खुद को दुर्जन कैसे कहूँ ?

फिर हमारे महात्माजी–गांधीजी–बापूजी ने ही हमारे लिए 'हरिजन' नाम पसंद किया है। उन्होंने कहा है कि चाहे लोग भले ही हमसे बुरा बर्ताव करें, हमें दूर रखें, लेकिन भगवान् हमें छोड़ेगा नहीं। उसे हम छोड़ना चाहें, तो भी वह हमें नहीं छोड़ता। वह गरीब-निवाज है, दीन-दुखियों का मित्र है, पतित पावन है। वह हमें अपने निकट बुलाता है, इसलिए महात्मा गांधी ने हमें 'हरिजन' नाम दिया। उन्होंने कहा कि दुनिया से अछूतपन मिटाकर और ऊंच-नीच का गुमान छोड़कर हर मनुष्य को हरिजन बनना चाहिये। भारतवर्ष की सारी जनता को 'हरिजन' नाम धारण करना चाहिये।

सब सोच-विचार कर मैं यही जवाब देता हूँ कि :

"जी हाँ, मैं हरिजन हूँ।"

शार्ङ्गधर सिंह

समाज-सेवा की रूप-रेखा

हमारी संस्कृति में समाज सेवा का सदा से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। हमारा प्राचीन साहित्य, समाज सेवा की प्रेरणा से ओतप्रोत है। यह सही है कि आधुनिक युग में पश्चिम ने ही इस दिशा में पहला कदम उठाया—नयी दुनिया के नक्शे में समाज सेवा के महत्वपूर्ण स्थान का निर्णय करने में नये दृष्टि-कोण से विचार किया पर इस संबंध में अपनी भारतीय परम्परा की देन हम नहीं भूल सकते। अपनी प्राचीन विचार धारा से हमें इस पथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा लेनी चाहिए, साथ ही इस क्षेत्र के नवीन प्रयोगों से हमें अपनी गति-विधि के निरूपण में लाभ उठाना चाहिए। नूतन-पुरातन के इस समन्वय की ओर, मेरी दृष्टि में प्रत्येक भारतीय समाज-सेवक को निश्चय ही ध्यान देना चाहिए। बीती बातों की दुहाई देने का मैं कायल नहीं, लेकिन अपने इतिहास की मर्यादा से अनुप्राणित होना अंधविश्वास की लाठी टेक कर चलना नहीं, वर्तमान को खुली चुनौती देने का प्रथम लक्षण है।

हमारी संस्कृति हमें बतलाती है कि समाज सेवा प्रत्येक नागरिक का गम्भीर दायित्व है, कुछ गिने-चुने वैतनिक या अवैतनिक पदाधिकारी और कर्मचारी इसका सम्पूर्ण भार नहीं उठा सकते। आए दिन देखा जाता है कि उपेक्षितों तथा पीड़ितों की सहायता के लिए सरकार अथवा स्थानीय शासन संस्थाओं को टैक्स के रूप में कुछ देकर समाज अपने कर्तव्य की इति-श्री समझ बैठता है। जब तक देश का प्रत्येक नागरिक यह नहीं महसूस करने लगता कि समाज का प्रत्येक उपेक्षित तथा पीड़ित सदस्य उसके माथे का कलंक है तब तक समाज सेवा का कार्य. अपने सच्चे माने में, सफल नहीं हो सकता। हमारे पुराने दृष्टिकोण का महत्व आज पश्चिम ने हृदयंगम किया है। वहाँ के देशों में समाज सेवा-कार्य, बहुत दूर तक, अवैतनिक कार्यकर्ताओं की सेवा-भावना पर आश्रित है। हमारी परम्परा में सेवा को सहानुभूति का खोखला प्रदर्शन कभी नहीं समझा गया। उसे हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने एक महान उत्तरदायित्व, एक पावन कर्तव्य के रूप में ही ग्रहण किया था। मैं इस बात की खास तौर से चर्चा यहाँ इसलिए कर रहा हूँ कि आज कल समाज-सेवा कार्य में दया-दृष्टि तथा आत्म प्रशंसा की बढ़ती हुई भावना को हम रोकें। यह भावना हमारी एक बहुत बड़ी दुर्बलता की निशानी है। यदि हम अपने किसी संकटग्रस्त भाई या बहन की सहायता के लिए हाथ बढ़ाते हैं तो हम यह आशा क्यों करें कि दुनिया इसके लिए हमें बधाइयाँ दे,

या, फिर, स्वयं अपने मन में हम यह विचार क्यों आने दें कि सहायता करने वाले का स्थान सहायता ग्रहण करने वाले के स्थान से सदा ऊंचा है? समाज-सेवा समाज की समग्र इकाई का स्वाभाविक धर्म होना चाहिए, समाज के किसी एक अंग द्वारा किसी दूसरे अंग को दी हुई भीख नहीं। महात्मा गांधी ने सेवाधर्म का यह सच्चा स्वरूप अच्छी तरह समझा था। सेवा धर्म की यह भावना ही संपूर्ण गांधी दर्शन का मौलिक आधार है।

हमारी संस्कृति का एक तीसरा निर्देश है कि समाज इस प्रकार संगठित किया जाय, ऐसे न्यायपूर्ण सिद्धान्तों के सहारे उसका निर्माण हो, कि उसमें किसी भी व्यक्ति के तिरस्कार की कोई संभावना न रह जाए। समाज में दीन-दलितों का होना सामाजिक जीवन का स्वाभाविक लक्षण समझ लिया जाय, यह कुछ न्यायसंगत बात नहीं। रोग की चिकित्सा से रोग की संभावना का निराकरण कहीं अच्छा है। यह एक ऐसा आदर्श है जिसकी उपलब्धि सुलभ नहीं, किंतु इस आदर्श की ओर अग्रसर होकर ही हम अपने कार्य के किए नित्य नयी प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगे। वास्तविकता का तकाजा है कि हम समाज में उत्पीड़न, उपेक्षा और उदासीनता के खतरे का सामना करने को हमेशा तैयार रहें, लेकिन हमारा अंतिम लक्ष्य तो अवश्य ही ऐसा समाज है जिसमें इन खतरों की कहीं जगह ही न हो। सेवाकार्य के लिए समाज का व्यापक उत्तरदायित्व, सेवाधर्म तथा दया-प्रदर्शन का स्वाभाविक विरोध और ऐसे आदर्श समाज की कल्पना जिसमें कष्ट तथा ग्लानि का कहीं स्थान न हो, अपनी प्राचीन संस्कृति के इन तीन पावन संकेतों की ओर प्रत्येक सामाजिक कार्यकर्ता को ध्यान देना चाहिए।

समाज-सेवा कार्य की अपनी एक रूप-रेखा है। समाज के कल्याण की व्यापक भावना से ही हमारा काम नहीं चलने का, हमें एक सुनिश्चित, सुस्पष्ट दृष्टिकोण चाहिए। समाज के ऐसे सदस्यों की देखभाल, जिन्हें किसी कारणवश अपने समुचित विकास का अवसर नहीं मिल सका है, समाज सेवा की उचित व्याख्या कही जा सकती है। इस प्रकार, आर्थिक कठिनाइयाँ, सामाजिक कुरीतियाँ, स्वास्थ्य तथा नैतिकता के प्रश्न, सभी समाज सेवा के अंतर्गत हैं। पर इनमें से प्रत्येक प्रश्न पर विचार करते समय एक सीमा निर्धारित की जा सकती है जहाँ आकर समाज-सेवा कार्य समाप्त हो जाता है और उससे आगे किसी दूसरी सत्ता अथवा संस्था का उत्तरदायित्व आरम्भ होता है। रोगों के निवारण को लें तो सर्वसाधारण को स्वास्थ्य के नियमों की जानकारी कराना, राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा का संगठन और प्रचार, अच्छी चिकित्सा तथा अस्पतालों का प्रबन्ध, इससे आगे डाक्टरों तथा दूसरे विशेषज्ञों का क्षेत्र है। समाज-सेवा की जो रूपरेखा तैयार हो चुकी है वह काफी साफ-सुथरी है। समय की प्रगति के साथ-साथ, कहने की आवश्यकता

नहीं, इस रूप-रेखा में उचित संशोधन और सुधार होते चलेंगे। पर कोरी भावुकता के सहारे समाज सेवा नहीं की जा सकती। समाज-सेवा आज एक संगठित, विशिष्ट विषय बन चुकी है और इस विषय के विशेषज्ञों का सहारा लिये बिना हम इस क्षेत्र में कदम नहीं उठा सकते। इसके सिद्धांतों का वैज्ञानिक अध्ययन तथा इसकी व्यावहारिक शिक्षा के आधार पर ही हम इस विषय में कृतकार्य हो सकते हैं। इस सीधी-सादी बात को दुहराने की आवश्यकता मुझे इसलिए प्रतीत हुई कि इसे समझे बिना इस क्षेत्र में किसी का आना उसके समय तथा शक्ति का दुरुपयोग होगा। अपने मनोनीत विषय का अध्ययन, उसके विकास के लिए चिन्तन, उसकी उद्देश्य-पूर्ति के लिए वैज्ञानिक ढँग से व्यावहारिक प्रयत्न, ये समाज सेवा के नए कार्यकर्त्ताओं के लिए ही नहीं, उसके माने हुए विशेषज्ञों के लिए भी बुनियादी बातें हैं।

इन बड़े सवालों को छोड़कर जब हम उन निर्दिष्ट समस्याओं की ओर आते हैं जिनको हमें हल करना है तो हमारा ध्यान सबसे पहले अपने बिहार राज्य की आर्थिक स्थिति की ओर जाता है। यों तो दुनिया के और देशों के मुकाबले भारत में प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से सरकारी आय-व्यय की रकम बहुत थोड़ी पड़ती है और फिर भारत के और राज्यों की अपेक्षा अपने बिहार राज्य के आय-व्यय के ये आँकड़े बड़ी शोचनीय अवस्था प्रकट करते हैं। यदि १९५०—५१ के आँकड़े पर विचार करें तो देखते हैं कि बम्बई राज्य की इस वर्ष की आय प्रति व्यक्ति के हिसाब से १८.७७ रुपए की थी। इस राज्य में प्रति व्यक्ति ५.४ रुपए शासन-व्यवस्था आदि के काम में खर्च किये गए और सामाजिक सुविधा के मद का खर्च ६.६९ रुपया था। हमारे पड़ोसी उत्तर प्रदेश ने प्रति व्यक्ति ३.८५ रुपए शासन व्यवस्था के मद में खर्च किये और ४.४० रुपये राज्य की जनता के सामाजिक कल्याण के मद में। अब इन आँकड़ों से हम तनिक अपने बिहार-राज्य के आँकड़ों की तुलना करें। हमारे यहाँ इस वर्ष की आनुमानिक आय प्रति व्यक्ति .५७ रुपये की थी। इस रकम में से २.०४ प्रति व्यक्ति रुपया सामाजिक-कल्याण संबंधी सेवाओं में लगा और १.८० रुपया शासन के कामों में। इन आँकड़ों की तालिका पर जब हम ध्यान देते हैं तो हमें पता चलता है कि समाज-कल्याण के मद में देश भर में सबसे कम रकम इसी राज्य में खर्च की गई। ऐसी स्थिति हमें साफ बतलाती है कि सार्वजनिक जीवन को समृद्ध करने के लिए ऐच्छिक, अवैतनिक समाज-सेवा की हमें कितनी आवश्यकता है। वास्तव में अन्य प्रान्तों की तुलना में हमारी स्थिति बहुत ही असंतोष-जनक है। अपनी इच्छा से समाज-सेवा का व्रत लेकर सामाजिक जीवन का धरातल ऊँचा करने के लिए अनवरत प्रयत्न करने वाले अच्छे कार्यकर्ताओं की हमें आज नितान्त आवश्यकता है।

अपने कार्य के लिए कोई योजना तैयार करते समय हमारा ध्यान सबसे पहले अपने गाँवों की ओर जाना चाहिए। देश की जनसंख्या का तीन-चौथाई भाग हमारे गाँवों में निवास करता है। उद्योगधन्धों के विकास की आवश्यकता के साथ-साथ हमने अपने देश में कृषि के विकास की आवश्यकता का भी समझा है। कृषि तथा उद्योग-धन्धे, इन दोनों पहलुओं पर हमारी आर्थिक नीति में समान रूप से विचार किया गया है, इन्हें हमारी आर्थिक नीति में समान महत्त्व दिया गया है। हमारे गाँव हमारे राष्ट्रीय शरीर के मेरुदण्ड हैं। प्रश्न है, इन गाँवों की दशा सुधारने के लिए समाजसेवियों का कर्तव्य क्या है? यहाँ हमें ग्रामीण जीवन के सभी पहलुओं पर ध्यान रखना होगा। सबसे पहले हमें अपने गाँवों की आर्थिक दशा को सुधारना है। हमारे किसान कर्ज में डूबे हैं। खेतों में काम करनेवाले राज्य के भूमिहीन मजदूरों की दशा दयनीय है। सहकारिता-समितियों की योजना इस दिशा में हमारी अच्छी सहायता कर सकती है। इन सहकारिता-समितियों की सहायता से हम अपने गाँवों में उत्पादन तथा विक्रय का काम सुचारु रूप से चला सकते हैं। कृषि के साधनों में सुधार, अच्छी मशीनों के उपयोग और सस्ते तथा बढ़ियाँ, वैज्ञानिक खादों के प्रबन्ध से हम अपनी खेती-बारी में, थोड़े ही समय में आश्चर्यजनक उन्नति कर सकते हैं। इन सभी कार्यों में समाजसेवियों के सहयोग की आवश्यकता होगी। अभी तक इस राज्य में सहकारिता-आन्दोलन तथा समाज-सेवा की योजना में पारस्परिक सहयोग नहीं रहा है। यह विचारने की बात है कि सहकारिता-आन्दोलन को सफल बनाने के लिए, उसमें नयी जान लाने के लिए, समाज-सेवा की योजना से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध कितना आवश्यक है। समाज-सेवा तथा सहकारिता-आन्दोलन, इन दोनों का समन्वय करते हुए हमें एक नवीन योजना तैयार करनी चाहिए। यों सहकारिता-आन्दोलन का लाभ हमारे किसानों ने अच्छी तरह समझा है, किंतु समुचित प्रचार के अभाव में यह आन्दोलन कितने हिस्सों में चल नहीं पाता। सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के सहयोग से यह आन्दोलन बहुत अधिक व्यापक और उपयोगी बनाया जा सकता है। भारत-सरकार ने जो पंच-वार्षिक योजना अभी-अभी तैयार की है उसमें देश की आर्थिक नीति और सर्वसाधारण के सहयोग को बड़ी प्रधानता दी गई है। योजना की सफलता के लिए योजना-कमीशन की रिपोर्ट में यह प्रस्ताव रखा गया है कि जनता की समाजिक चेतना को जागृत करने के लिए तथा देश के आर्थिक विकास में इस जागृत चेतना का उपयोग करने के लिए कोई विशेष संस्था संगठित की जाय। रिपोर्ट में यह सुझाव रखा गया है कि इस संस्था का नाम "भारत-सेवा-संघ" रहे। नाम कोई भी हो, लेकिन इस बात से किसे आपत्ति हो सकती है कि किसी भी देश में कोई भी योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि जनता का सच्चा सहयोग उसे प्राप्त न हो? इस प्रकार योजना कमीशन की रिपोर्ट में आए इस प्रस्ताव पर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए और सोचना चाहिए कि किन-किन उपायों से हम सहकारिता आन्दोलन और इसी तरह के दूसरे आर्थिक प्रयत्नों में समाज-सेवा का समुचित उपयोग कर सकते हैं।

इसके बाद गाँवों के स्वास्थ्य-सुधार का प्रश्न आता है। यह तो स्पष्ट है कि जब तक हमारे गाँव अपनी सहायता अपने आप करने को तैयार नहीं है तब तक केवल सरकारी मदद से उनकी दशा में शीघ्र ही कोई बहुत बड़ा सुधार सम्भव नहीं। घरों की सफाई, स्वास्थ्य के सारे नियमों की जानकारी, संक्रामक रोगों से बचने के लिए टीका का आयोजन आदि बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनमें समाज-कल्याण के लिए काम करनेवालों की सेवाओं का सफल और सुन्दर उपयोग किया जा सकता है। सामाजिक कुरीतियों के निवारण में भी हमारे समाजसेवी सफल सहयोग दे सकते हैं। बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, निरक्षरता, अंधविश्वास, ग्रामीण जीवन की इन व्यापक बुराइयों को दूर करने का प्रथम उत्तरदायित्व समाजसेवा का कार्य करनेवालों पर ही है। अपनी राष्ट्रीय आय की मौजूदा हालत को देखते हुए हम सरकारी सहायता पर ही इन कामों की जिम्मेदारी नहीं छोड़ सकते।

अन्त में गाँवों के सामाजिक जीवन को सुखमय और सरस बनाने की समस्या पर हमें विचार करना है। कभी हमारे गाँव बड़े सुखी और समृद्ध थे। पर्वों और त्योहारों को इन गाँवों में बड़े उल्लास से मनाया जाता था। ग्राम-पंचायतें ग्राम-निवासियों के झगड़ों का न्यायपूर्ण निपटारा किया करती थीं और साथ ही ग्रामीण जीवन के सर्वतोमुखी विकास के लिए समुचित प्रबन्ध किया करती थीं। कोई कारण नहीं कि हम इस शृंखला की टूटी हुई कड़ियों को फिर नहीं जोड़ सकें। सन्तोष की बात है कि सरकार की ओर से ग्राम-पंचायतों का पुनरुद्धार किया जा रहा है। गाँवों में ग्रामोपयोगी पुस्तकालयों का आयोजन, भजन-कीर्तन-मण्डलियों का संगठन तथा देश-विदेश की आधुनिक समस्याओं पर विचार-विनिमय के लिए देहाती गोष्ठियों का प्रबन्ध करके हमारे समाजसेवी हमारे गाँवों में एक नये उत्साह का संचार, एक नये जीवन का श्रीगणेश कर सकते हैं।

एक दूसरा बड़ा प्रश्न है उद्योग-धन्धों में लगे हुए मजदूरों की भलाई के लिए एक अच्छी योजना का निर्माण। एक ओर हमारे राष्ट्रीय जीवन में हमारे गाँवों को जहाँ अन्यतम स्थान है वहाँ, दूसरी ओर, अपने उद्योग-धन्धों के विकास के बिना आधुनिक संसार में अपने राष्ट्र के लिए जगह बनाना हमारे लिए कदापि सम्भव नहीं। इस नाते कल-कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की दशा सुधारने में हमारे समाजसेवियों को भलीभाँति तत्पर रहना चाहिए। इन मजदूरों के लिए आज उचित निवास-स्थान की कोई बढ़िया व्यवस्था नहीं। न तो ये मजदूर, अधिकांशतः, स्वयं शिक्षित हैं और न प्रत्येक स्थान पर इनके बाल-बच्चों की शिक्षा के लिए ही कोई बहुत बढ़िया प्रबन्ध उपलब्ध है। इन मजदूरों का पारिवारिक जीवन साधारणतः सुखी नहीं। कलह और पारस्परिक वैमनस्य के इस संसार में हमें शान्ति और सद्भाव का संदेश पहुँचाना है। मद्यनिषेध इन मजदूरों के जीवन को सुखी बनाने के लिए जरूरी है। इन सभी त्रुटियों को दूर करने के लिए हमारे समाजसेवियों को उत्साह तथा विश्वास के साथ अग्रसर होना चाहिए।

राज्य के उद्योग-धंधेवाले हल्कों में जो ट्रेड-युनियन आज काम कर रहे हैं उनका दृष्टिकोण सामाजिक नहीं होकर राजनैतिक है। इसका परिणाम यह होता है कि भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलों के द्वारा संचालित ट्रेड-

युनियनों के प्रति दूसरे दलों के सदस्यों में विद्वेष तथा अविश्वास की भावना काम कर रही है। इसलिए यदि कोई समाजसेवी-संस्था ऊपर बताई हुई बुराई को दूर करने का भार अपने ऊपर लेती है तो उसे इस काम में सभी दलों के सदस्यों का सहयोग प्राप्त हो सकता है। उद्योग-धन्धों के मालिकों और मजदूरों का यह समान रूप से कर्त्तव्य हो जाता है कि समाज-सुधार के कार्य के लिए समाजसेवी संस्थाओं के संगठन और विकास में वे पूरी तरह योगदान दें। सामाजिक-सुधार के बिना इन मजदूरों का जीवन सुखी नहीं हो सकता और जब तक इनका जीवन इनके लिए शान्त और सरस नहीं हो तब तक वे पूरी तन्मयता से अपना काम नहीं कर सकेंगे। उद्योग-धन्धों के समुचित विकास में, इस तरह, समाजसेवी का बहुत बड़ा हाथ है।

तीसरी और अन्तिम समस्या है सामाजिक संगठन और संरक्षण की आवश्यकताओं पर विचार। आज अपराध और अपराधियों के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण घृणापूर्ण नहीं, सहानुभूतिपूर्ण है। अपराध को अब हम एक सामाजिक रोग मानने लगे हैं, जिसकी उचित चिकित्सा की जा सकती है। कम उम्र के लड़के-लड़कियों में अपराध की मनोवृत्ति भी एक सामाजिक रोग है जिसकी रोक-थामके लिए हमें सचेष्ट होना चाहिए।

मि० चर्चिल ने पिछले महायुद्ध के अपने संस्मरणों में एक जगह लिखा है कि एक बार स्तालिन से मास्को में उन्होंने पूछा था कि रूस की राष्ट्रीय योजनाओं को काम में लाते समय उनके सामने सबसे बड़ी कठिनाई क्या थी। स्तालिन ने मि० चर्चिल को बतलाया था कि उनके सामने सबसे बड़ी कठिनाई, उनके देश की पिछड़ी हुई आर्थिक स्थिति के कारण उनके देश के किसानों की पस्तहिम्मती और उदासीनता थी। रूस ने जिन उपायों को काम में लाया हमें उनके अंधानुसरण की आवश्यकता नहीं। फिर भी हमारे समाज में जब तक यह विश्वास घर नहीं कर लेता कि हमारा लोक-शासन समाज-कल्याण की भावना पर ही आश्रित है तब तक हमारे नागरिकों में नवीन उत्साह का संचार सम्भव नहीं। हमारे समाजसेवियों को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि समाज की आन्तरिक कमजोरियाँ किस प्रकार दूर की जायँ और किन-किन उपायों से राष्ट्र-निर्माण के कार्य में प्रत्येक नागरिक का पूर्ण सहयोग प्राप्त किया जाय। इस विषय की योजना तैयार करते समय हम इसका ध्यान रखें कि यह काम राजनैतिक दलबंदियों से सर्वथा अलग और ऊपर है। देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए हमें अपना दृष्टिकोण सदैव सर्वव्यापक और निर्विवाद रखना है।

★

शिवानन्द सरस्वती

व्यक्ति, समाज और सदाचार

आज मानव का जीवन इतना अस्त-व्यस्त हो गया है कि उसका ध्यान सदाचार की ओर जाता ही नहीं। लोक-कल्याण तथा विश्वशान्ति के लिए अनेकानेक प्रस्ताव किए जाते हैं, पर वे निरर्थक और निष्फल ही सिद्ध हो रहे हैं। इसका कारण यही है कि मनुष्य-समाज अपने जीवन के सत्यात्मक पक्ष को देख नहीं पाया है। मरु-मरीचिका को ही जलाशय जानकर वह व्यर्थ की कुलांचें भर रहा है। इसीलिए हम नित्यप्रति सुनते हैं कि विश्व में विनाश और मृत्यु, पाप और दुराचार, असभ्यता तथा नारकीयता का प्राबल्य है। यदि हम कुछ देर तक मनन करें तो इसी निष्कर्ष पर जा पायेंगे कि मानव धर्म के सदाचार रूप व्यावहारिक लोक कर्त्तव्य का विस्मरण ही समस्त मानव समाज की अशान्ति का मूल कारण है। हमारा अधोगतिमान् दृष्टिकोण ही विश्व में अन्याय का साम्राज्य पसारे हुए है। हमारी नैतिक दुर्बलताएं भौतिक-दुःख और क्लेशों को जन्म देती हैं। शास्त्रनिषिद्ध कर्मानुसरण कर, निजधर्म नियत कर्त्तव्यों को त्यागते हुए ही हमारा लौकिक-आचार अपने सत्ययुगी अधिष्ठान से नीचे की ओर पतित किया गया है। यदि समाज अथवा राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति किसी भी कार्य को करने से पूर्व यह विचार करे कि उसके विचारित-कार्य सदाचारप्रभव-धर्म की सूची में आते हैं कि नहीं, तो वह निश्चय ही अपने जीवन को सफल, कल्याणमय, विमल और पवित्र बना सकेगा। यदि परधनलोलुप व्यक्ति यह सोचे कि वह उचित कार्य नहीं कर रहा है, यदि मद्य पीनेवाला यह सोचे कि मद्यपान अनुचित है, यदि हिंसातुर व्यक्ति यह सोचे कि हिंसा उसके योग्य आचार नहीं—किन्तु महापाप है, तो वह निश्चयतः अपने को इन दुष्कर्मों से विरत रखने की चेष्टा करेगा। परिणाम यही होगा कि हमारे संसार में नित्यप्रति जो अमानुषिक कर्म होते रहते हैं, वे नहीं होंगे। चोरी नहीं होगी, किसी के प्राणों का हनन नहीं होगा। सभी मिलन-सार, एकसिद्धान्ती, दयानुरक्त, मैत्रीयुक्त, परोपकारी, त्यागी, और निःस्वार्थ होकर सर्वतोमुखी शान्ति के लक्षणों का श्रीगणेश कर सकेंगे।

तब सदाचार की मीमांसा क्या है? यह मनुष्य की विचार धाराओं पर अवलम्बित है या वाणी विलास ही इसकी सीमा है? अथवा सदाचार केवल लौकिक मानव समाज का सुधार है? सदाचार, यदि इसे अपने भारतीय तत्वज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो, मनुष्य के जीवन में उन आध्यात्मिक-व्यवहारों का मौलिक-स्वरूप है,

जिससे विश्व-धर्म या लोक-धर्म की मर्यादा का प्रतिष्ठापन होता है। यह समझना हमारी भूल होगी कि सदाचार मनुष्य के किसी ऐसे समय की विचार-श्रृंखला है, अथवा वाणी का कौतुक है, जब मानव क्षेत्र परिमित विज्ञान होने के कारण आदर्श-वाद की ओर जा रहा था, जब उसका सामाजिक भूगोल तथा राजनीतिक-प्रश्न कुछ ही परिवारों में सीमित था—क्योंकि सदाचार, तथागत शास्त्रों के अनुसार जिनका क्षेत्र आज से भी विशालतर जान पड़ता है, मनुष्य के मन, कर्म और वचन की पवित्र धारा का वह सुन्दर समन्वय है, जहां पर मनुष्य मनुष्य के संबंध को उचित रीति से जानता है और उस संबंध को नियमानुकूल अनुपालन भी करता है तथा तद्फलतः वह दूसरे के विनाश का विचार नहीं करेगा, उसके प्रति कटु-शब्दों का प्रयोग भी नहीं करेगा और तद्-निषिद्ध कर्म करने को भी उद्यत् नहीं होगा। अतः यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि सच्चरित्रता और सत्य आचरण वह है, जो दूसरे के द्वारा प्रशंसनीय हों, जो आचरण दूसरे के मनोविज्ञान की कसौटी पर ठीक उसी तरह खरे उतरें, जैसे उनका स्वरूप है। सदाचार मनोविज्ञान, व्यवहार तथा आध्यात्मिक-कर्मों का केन्द्रीकरण है, जिसका प्रभाव मनुष्य के जीवनोपान्त कर्मों में शत-प्रतिशत के अनुपात से क्रियात्मक होता रहता है।

हम धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि सदाचार का स्वरूप आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों है और पुराणों में इसे लोक धर्म का सजीव रूप दिया गया है। जो भी हो, हम अपने शास्त्रों से यही सार जान पाए हैं कि सदाचार का सूत्रपात हमारे जीवन के ईश्वरीयकरण से है—जिसका परिणाम निश्चयतः ऐसा ही होना चाहिए। यदि वटवृक्षारोपन किया जाये तो छाया मिलेगी ही—उसी तरह यदि जीवन में ईश्वरीय-स्फूर्ति संचारित कर दी जाय तो कालान्तर में इसका विकास भी ईश्वरीय ही होगा। अतः हम इस परिणाम पर आते हैं कि सदाचार का श्रीगणेश मनुष्य की आध्यात्मिकता के जागरण से होता है। अनुभूति का अध्यात्मकरण सदाचार का सूर्योदय होता है।

इस प्रकार सदाचार के साधारणतः तीन गम्भीर स्वरूप होते हैं, जो हमारे जीवन के सभी कर्मों, विचारों और अनुभूतियों को आवृत किए हुए हैं।

सदाचार का प्रथम सत्य आध्यात्मिक-जीवन है, जो सर्वप्रधान तथा सर्वव्याप्त माना जाता है, जैसे जल की अतिव्याप्ति जल के समस्त विकारों और विकल्पों में भी मानी जाती है। दैवी सम्पद् सम्पन्न होना इस जीवन का उपादान कारण है। श्रीमद्-भगवद्गीता और मनुस्मृति के सिद्धान्तों में यही प्रतिध्वनि है कि प्रत्येक मनुष्य को सर्व प्रथम अपने आध्यात्मिक क्षेत्र में सद्गुणों की अनुभूति का विकास करना चाहिए। अपनी-अपनी अनुभूतियों को सर्वथा सद्गुणों का

स्वरूप देकर, हम निश्चयतः उसी का अभिव्याख्यान करेंगे तथा व्यवहार भी कर सकेंगे। जैसी अनुभूति होती है, वैसा व्यवहार भी—यह विद्वानों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है और यही हमारी भारतीय सदाचार प्रणाली है, जो पाश्चात्य-सदाचार-विज्ञान के विकासमान् दृष्टिकोण से महत्तम है। *जैसी गति वैसी मति, यही है जग की रीति।* इससे स्पष्ट यही अभिव्यक्त हो रहा है कि हमारी अनुभूतियां ही हमारे विचार का, तदनुसार व्यवहार का निर्णय कर पायेंगी। यदि हमारी अनुभूति में सर्वात्म भाव तथा एकात्म-सत्य का अनुभव होगा तो हम अपने को सत्य, अहिंसा, आत्मसंयम, निरहंकारिता तथा अन्यान्य शास्त्रोक्त सद्गुणों के लिए सचेष्ट कर सकेंगे, जिसकी प्रतिच्छाया हमारे व्यावहारिक स्तर पर पड़ेगी ही।

अपनी आध्यात्मिक-प्रकृति को राग-द्वेषादि से विमुक्त कर सद्गुणों से अलंकृत करने के उपरान्त ही हम अपने जीवन के प्रत्येक व्यवहार में शान्ति और कल्याण और सर्वभूतहित की रूप रेखा का अवतरण कर सकते हैं। अतः सदाचार का सर्वप्रथम दृष्टिकोण आध्यात्मिकता या ईश्वरीय जीवन है, जहां मनुष्य पारस्परिक-भेद भाव से परे, विश्व को केवल एक परिवार ही नहीं—अपितु अपना ही स्वरूप जानता है और यह अनुभव करता है कि समस्त विश्व निःसन्देह उसका ही जल, विन्दु, सागर तथा वाष्पवत् विकास है और सर्व कर्माध्यक्ष, सभी जीवों में अधिवास करने वाला तथा सबकी आत्मा है। वह किसी का अहित नहीं चाहता। वह किसी के प्रति अन्य तथा इतर-भाव से अभिव्यक्ति नहीं करता। वह परधनहरण ही क्यों करेगा, जब कि वह ईशावास्यमिदं सर्वम्—को अपने सदाचार का सर्वप्रथम दृष्टि कोण स्थिर किए हुए है। हमारे वैदिक कालीन, वीतराग तपस्वी, ऋषि-महर्षिगण इसके युगस्मरणीय आदर्श थे।

ऐसा मनुष्य समाज या राष्ट्र अपने प्रतिवासी के दुःखों में दुखित होगा ही, क्योंकि वही तो सब में है। अतः वह अपने प्रतिवासी आत्मा के यत्किंचित् दुःखों के समूल-निवारण के लिए प्रयत्न करता रहेगा। स्वभावतः ही दया, मैत्री, करुणा, उपकार तथा अन्य मानसिक-सदाचार-सम्बन्धी सद्गुणों का आविर्भाव उसमें होगा। यदि किसी समाज के ऊपर संकट आया हो तो तत्कथित सदाचारशील व्यक्ति ही उस संकट-निवारण के उपायों के लिए कटिबद्ध होता है। वह नवीनतर और नवीनतम प्रयोगों द्वारा अपने-पराए के कल्याण और शान्ति की विधि के अनुसंधान में तत्पर हो जाता है। यह सदाचार का मानसिक स्वरूप है, जिसे मनोवैज्ञानिक-सदाचार भी कहते हैं। महात्मा बुद्ध इस कोटि के आदर्श थे।

सदाचार का तीसरा स्वरूप व्यावहारिक है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह स्वतन्त्र अंग ही है। व्यावहारिक तथा मौलिक सदाचार सर्वदा आध्यात्मिक-अनुभूति तथा मनो-

वैज्ञानिक आधारों पर ही प्रतिष्ठित रहा है। इसका कारण स्पष्ट है कि जब तक हम अपने जीवन के अनुभवों और विचारों को सत्य के पवित्र-मन्त्र में दीक्षित नहीं कर लेंगे, तब तक कैसे सम्भव है कि सदाचार परायण हों। आचार विचारों का द्योतक है, प्रतिविम्ब है। तात्पर्य कि विचारों के अनुसार ही क्रिया-शक्ति सुकर्म और दुष्कर्म का निर्णय करती है। यदि आप मुझे किसी प्रकार का भीषण कष्ट देना चाहते हैं और यह निश्चय करते हैं कि किसी निकट-भविष्य में उचित अवसर पाकर, आप मेरा तिरस्कार करेंगे या मुझे निश्चित कष्ट देंगे, तो क्या आप व्यवहार करते समय तद्विचारिक-निश्चय का पालन करने पर विवश नहीं होंगे ! इसी प्रकार यदि हम किसी अनाथ बालक के दुःखों की अनुभूति कर, उसके दुःख निवारण के लिए विचार कर, उसके जीवन की आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था करने पर सन्नद्ध होते हैं तो संसार में कोई भी शक्ति ऐसी नहीं जो इन आदर्श विचारों को पलट दे। मैंने कुछ लोगों को कहते सुना है—क्या करें, मन में उसकी दशा पर तरस आता है। परन्तु कभी-कभी उसकी बातें सहन नहीं हो सकतीं। जो लोग इस प्रकार के विजातीय-सिद्धान्तों को जन्म देते हैं, वे सदाचार के आध्यात्मिक तथा मानसिक स्वरूपों में स्थिर नहीं हो पाए हैं और उनके उपरोक्त कथन से हमको यही समझना चाहिए कि वे सत्यतः अपने मन के अन्दर भी उसी प्रकार का निश्चय किए हुए हैं, जो उन्होंने बाहर प्रकट किया है।

ऐसा व्यक्ति, जिसने तद्वर्णित तीसरे अंग का सदनुशीलन किया है, वह आध्यात्मिक तथा मानसिक सदाचार का व्यावहारिक-आदर्श होना चाहिए। महात्मा गान्धी को यदि हम इस समन्वय का व्यावहारिक-आदर्श मानें तो सर्वथा उचित होगा।

इस तरह पाठक समझ गए होंगे कि सदाचार मनुष्य-जीवन का एक विशिष्ट-विज्ञान है, जिसका यहां पर अति संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है और जिसकी विशद्-व्याख्या हमारे धर्म-ग्रन्थों में किया गया है। सदाचार जितना व्यावहारिक दीखता है, उतना ही—किसी अवस्था में उससे भी अधिक मात्रा में,—आध्यात्मिक है। सदाचार का अर्थ केवल समाज सुधार-विषयक आचरण ही नहीं। समाज से ही सदाचार की पूर्त्ति नहीं हो सकती। ईश्वर पर ही विश्वास कर, उसको ही केवल मात्र उपास्य जानना तथा उसी को सर्वभूतमय देखना ही सदाचार की भूमिका है। जप, कीर्त्तन, सत्संग, योगाभ्यास आत्म-विचार, सच्छास्त्र-मनन, यम-नियमादि का पालन सदाचार का प्रथम सोपान है और मैत्री, करुणा, परोपकार, अहिंसा, दयाभाव, आत्म-त्याग, निःस्वार्थ-व्यक्तित्व, सेवा तथा अन्य सद्गुण सदाचार के प्रथम सोपान को पार करते, स्वतः ही हमारे जीवन में ओतप्रोत हो जाते हैं; विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। यदि आधार दृढ़ हो गया तो विशालतम भवन का भी निर्माण आसानी से कर सकते हैं। इसी प्रकार ईश्वर-चिन्तन के लिए जपादि नित्यधर्मों का अक्षरशः पालन करते हुए हम अपने जीवन के सभी कार्यों को यथा योग्यरीति से करते रहें और किसी को दुःख और क्लेश न दें तो हम सहसा ही एक दिन अनुभव करेंगे कि सदाचार हमारे जीवन का अभिन्न अंग हो गया है और आचरण की व्याप्ति हो गयी है, जिसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का भौतिक आचरण श्रेयस्कर नहीं है। जिस

(शेष पृष्ठ ४ पर)

वियोगी हरि

हरिजन—सेवा

हरिजनों का प्रश्न भारत के लिए नया नहीं है। समाज के सवर्ण कहे जाने वाले ठेकेदारों ने शताब्दियों से हरिजनों का बहिष्कार कर रक्खा था। देवमन्दिर में उनका प्रवेश एक अक्षम्य अपराध समझा जाता था और समाज के तत्वों के साथ उनका मिल-जुल कर रहना तो समाज को मानो पतन की चरम सीमा पर ले जाने का दुस्साहस था।

महात्मा गांधी ने हरिजनोद्धार के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति से कार्य किया; वस्तुतः यह तो उनके रचनात्मक कार्यों का एक प्रमुख अंग भी था। पूज्य बापू के इस स्तुत्य प्रयत्न ने जनता का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया, और इस आन्दोलन ने जोर पकड़ा। गान्धी जी ने छुआछूत को धर्मविरुद्ध माना था। उनका कहना था कि यदि अस्पृश्यता समाप्त नहीं होगी तो हिन्दू धर्म ही समाप्त हो जायगा। मनुष्य का मनुष्य को नीच समझना अक्षम्य अपराध है, महापाप है। हमारा धर्म तो वस्तुतः यह है कि हम छुआछूत को भारत से समूल नष्ट कर पुण्य के भागी बनें। निःस्वार्थ भावना से प्रेरित होकर यदि हम हरिजनों के हित के लिए कुछ कर सकें, यदि उन्हें समाज में प्रतिष्ठित स्थान दिला सकें, तो इसमें सन्देह नहीं कि हम पूज्य बापू के बताये हुए मार्ग पर चल सकेंगे। स्वयं महात्मा गान्धी का कथन था कि अस्पृश्यता एक सहस्रमुखी राक्षसी है, जिसे समाप्त करने के लिए निरन्तर कठोर श्रम करते रहने की आवश्यकता है। सम्भव है, कुछ काल तक हमें निराशा ही हाथ लगे, फिर भी, इससे हमें हतोत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है। लगन, निष्ठा और हृदय से किये जाने वाले कार्यों में हमें निश्चय ही सफलता मिलती है। एक भक्त सेवक विलासपुर में रहते थे। उनका नाम था साम्बा दादा। वहां की सरकंडा नदी के तट पर प्रतिदिन लोग टट्टी-पखाना करके उसे गन्दा कर दिया करते थे। इस पर साम्बा दादा क्षुब्ध रहते। अन्त में उन्होंने उस स्थान को स्वच्छ रखने का दृढ़ निश्चय कर लिया। प्रतिदिन वे अपना खुरपा और टोकरी लेकर निकल पड़ते और वहां के गन्दे स्थानों की सफाई करके मलादि टोकरी में डाल दिया करते। आश्चर्य की बात तो यह है कि साम्बा दादा का यह क्रम पूरे नौ वर्ष तक चलता रहा। इस बीच उन्होंने न तो अपने परिश्रम से ही मुंह मोड़ा और न उनमें नैराश्य की भावना ही आयी। अन्ततः लोगों ने उस स्थान को गन्दा करना सदा के लिए छोड़ दिया। वस्तुतः इस

प्रकार के कार्य हृदय से ही हो सकते हैं। स्वार्थ की भावना का इसमें कोई स्थान नहीं। ये तो जन-सेवा के कार्य हैं जिनमें केवल आनन्द ही आनन्द भरा है और एक बार जिसे इस आनन्द की प्राप्ति हो जाती है, वह फिर सेवा के इस मार्ग को आजन्म नहीं त्यागता। इसमें राजनीतिक पीड़ा का भी समावेश नहीं। "प्रेम गली अति सांकरी ता में दो न समाय", यह तो आनन्द का मार्ग है और इसी कारण महात्मा गान्धी ने आजीवन इसी मार्ग का अनुसरण किया और हरिजन-सेवा के अपने व्रत को निभाने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। उनकी इस निष्ठा के कारण तथा समाज द्वारा इस ओर विशेष ध्यान देने के कारण संविधान में भी हरिजनों को अधिकार दिये गये हैं और छुआछूत को समाप्त करके हरिजनों को दस वर्ष के लिए संरक्षण मिले हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या संविधान द्वारा ये अधिकार मिल जाने के पश्चात् हमारे कर्त्तव्यों की इतिश्री हो गयी? नहीं, हमारे वास्तविक कार्यों का तो श्रीगणेश अब हुआ है। यही स्वर्ण-अवसर है जब हम मनसा-वाचा-कर्मणा इस ओर दत्तचित्त होकर कुछ ठोस कार्य कर सकते हैं, क्योंकि अभी तक हरिजनों की स्थिति में कोई वास्तविक सुधार नहीं हुआ है। आज भी उनकी बस्तियों की प्रायः वही दशा है जो लगभग बीस वर्ष पूर्व थी, अब भी उन्हें सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता, आज भी उन्हें सार्वजनिक कुंओं से पानी नहीं लेने दिया जाता और आज भी वे विविध सामाजिक निर्योग्यताओं के पूर्ववत् शिकार बने हुए हैं। इन परिस्थितियों में आवश्यक है कि हम सरकार से यथासम्भव सहयता लें और उसके द्वारा बनाये गये तत्सम्बन्धी कानूनों से लाभ उठा कर स्वयं कुछ कार्य करें; किन्तु एकमात्र सरकार पर मशीनवत् आश्रित रह कर हम अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझ लें, यह किसी भी दशा में श्रेयस्कर नहीं।

हिन्दू धर्म एक महान धर्म है, जिसमें अभेदभाव की प्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान दिया गया है। फिर भी धर्म के नाम पर भेदभाव को प्रश्रय देना, जातिविशेष में जन्म लेने के कारण मानव का मानव पर अत्याचार करना और उसे उन सभी सुविधाओं से वंचित कर देना जिन्हें पाने का वह पूर्ण रूप से अधिकारी है, धर्म के नाम पर कलंक का टीका है। हमारा धर्म है कि हम धर्म के इस वाह्य रूप में संशोधन करें और उसके सच्चे रूप को सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करें।

हरिजन-समस्या अखिल भारतीय समस्या है। फलतः, स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार कार्य करके इसमें बहुत कुछ सफलता मिल सकती है। हाल ही में मैंने बिहार राज्य के दौरे में कई स्थानों पर हरिजनों तथा दलित वर्ग के अपने भाइयों से भेंट की। मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि बिहार सरकार ने उनकी उन्नति के लिए बहुत कुछ किया है।

बिहार की दलित मुसहर जाति को समुन्नत बनाने के उद्देश्य से सरकार ने रोसड़ा-स्थित मुसहर-सेवा-मंडल को, जिसकी स्थापना गत वर्ष श्री ठक्कर बापा की प्रेरणा से हुई थी, ३०,००० रुपये की सहायता दी थी, जिसके परिणामस्वरूप मुसहरों के लिए रोसड़ा, भागलपुर और राजगृह में स्कूल खोले गये। इसी प्रकार, रोसड़ा नगरपालिका की ओर से भी पाठशालाएं खोलने के प्रबन्ध हो रहे हैं। मुसहर जाति के प्रायः सभी व्यक्ति खेती करते हैं; परन्तु इस समय जमींदार उन्हें जमीनों से हटा रहे हैं और कहीं-कहीं उनके घरों को नष्ट किया जा रहा है। इस प्रकार हमारे इन भाइयों की दशा शोचनीय हो गयी है। अस्सी प्रतिशत मुसहरों के गाँवों में पीने के पानी की कोई व्यवस्था नहीं है। इस जाति में अब तक चार बालकों ने मैट्रिक परीक्षा पास की है, दो ने इन्टरमीडिएट आर्ट्स की और दो ने इन्टरमीडिएट विज्ञान की। इन्हें राशन ठीक तौर से नहीं मिलता। यहाँ बसने वाले हरिजन भी बड़े संकट में हैं। मुख्यतः हलवाहे होने के कारण उन्हें जमींदारों की मनमानी का शिकार होना पड़ता है तथा बेदखली की तलवार सदा उनके सिर पर लटकती रहती है। प्रायः लोग उन पर झूठे मुकदमे चलाते हैं। वे बेकार हैं। उनकी सामाजिक स्थिति संकटापन्न है। उनके बच्चों की समुचित पढ़ाई की कोई व्यवस्था नहीं, उनके बालकों को छात्रवृत्तियाँ नहीं मिलतीं। उस बिहार भूमि में जहां जनक, बुद्ध और महावीर सरीखे महात्माओं ने जन्म लेकर ऊंच-नीच के भेद-भाव पर कुठाराघात किया, प्रेम और सेवा का उपदेश दिया तथा विश्व के मानव को मानव-धर्म सिखाया, छूतछात का बना रहना बड़ी लज्जा का विषय है। इस छूतछात को नष्ट करने में इस युग के सबसे बड़े महात्मा पूज्य बापू ने हमारा मार्गप्रदर्शन किया और अपना सारा जीवन हरिजन-सेवा के लिए समर्पित कर दिया। आज हम सबको उनके अधूरे काम को पूरा करना है। इस काम को हम सब मिल कर ही पूरा कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में यदि कुछ व्यावहारिक उपाय काम में लाये जायं तो हम हरिजनों को समाज में एक प्रतिष्ठित स्थान दिला सकने में यथेष्ट सफलता मिल सकेगी।

हमें अपना यह नियम बना लेना चाहिये कि हम सदा एक हरिजन भाई को अपने पास एक पारिवारिक सदस्य के रूप में रक्खें तथा निमंत्रण आदि मिलने पर उसे भी अपने साथ अपने मित्रों, सुहृदों अथवा सगे-संबंधियों के यहां विवाहादि अवसरों पर ले जायं। यदि हमारे ये बन्धु हरिजन की उपस्थिति पर अपनी नाक-भौं सिकोड़ें तो हम उनके निमंत्रण को बड़ी शिष्टता के साथ अस्वीकार कर दें।

विशेष पर्वों, जैसे, सर्वोदय सप्ताह, महात्मा गान्धी जन्म-दिवस आदि पर हमें छुआछूत-निवारण के पक्ष में विशेष प्रचार करना चाहिये तथा अपने मित्रों और सगे-

सम्बन्धियों आदि को अपने प्रत्यक्ष व्यवहार तथा तर्क द्वारा अस्पृश्यता-निवारण के पक्ष में करना चाहिये।

हरिजन-बच्चों के पढ़ने की व्यवस्था उन्हीं स्कूलों में करनी चाहिये जहाँ पर अन्य सवर्ण हिन्दुओं के बच्चे पढ़ते हों। उनके लिए अलग-अलग स्कूल खोलने पर जोर न दें, क्योंकि इससे भेद-भाव की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

अपने सेवाकार्यों के सिलसिले में ऐसे भी अवसर आयेंगे जब लोग गान्धी जी, ठक्कर बापा और हरिजन-सेवक-संघ आदि की बुराई करेंगे, क्योंकि उन्होंने हरिजनों के उद्धार के निमित्त प्रयास किये थे। ऐसे समय हमें बड़े संयम और धैर्य के साथ उनकी आलोचना सुन लेनी चाहिये, किन्तु अपने कार्यों को अमन्द गति से करते रहना चाहिये।

हरिजन-बच्चों को पढ़ाने की समुचित व्यवस्था करने के साथ-ही-साथ यह आवश्यक है कि उन्हें केवल पुस्तककी पढ़ाई पर ही न रक्खा जाय। आज की परिस्थिति को देखते हुए उन्हें उद्योग-धंधों में डाला जाय। इस प्रकार, न केवल उनकी अपनी आर्थिक दशा में सुधार होगा, अपितु वे देश की भी सेवा कर सकेंगे, क्योंकि इस समय उद्योग-धंधों को प्रश्रय देकर ही देश उन्नति के मार्ग पर बढ़ सकता है।　　('बिहार' से)

★

बम्बई में किसी आम जगह पर, दस लाख रुपये खर्च करके मेरी मूर्ति खड़ी करने की बात चल रही है। इस सम्बन्ध में मेरे पास कई आलोचना-भरे पत्र आये हैं। उनमें से कुछ तो नम्र हैं और कुछ इतने गुस्से भरे हैं, मानों मैं ही अपनी मूर्ति बनवाकर खड़ी करने का गुनाह कर रहा हूँ! राई का पर्वत बना देना शायद इन्सान का स्वभाव है। असल बात की छानबीन तो सिर्फ समझदार लोग ही करते हैं। इस मामले में आलोचना के लिए जगह है। कोई मेरी फोटो खींचता है तो मुझे अच्छा नहीं लगता। फिर भी कोई-कोई खींच ही लेते हैं। मेरी मूर्तियाँ भी बनी हैं। इसके बावजूद अगर कोई पैसे खर्च करके मेरी मूर्ति खड़ी करने की बात करता है, तो यह मुझे अच्छा नहीं लग सकता; और खास करके इस वक्त, जब कि लोगों को खाने को अनाज नहीं मिलता, पहनने को कपड़े नहीं मिलते। हमारे घरों में, गलियों में गन्दगी है। चालों में इन्सान किसी तरह जिन्दगी बिता रहे हैं, तब शहरों को कैसे सजाया जा सकता है? इसलिए मेरी सच्ची मूर्ति तो मुझे रुचनेवाले काम करने में है। अगर ये रुपये, उपर बताये हुए कामों में खर्च किये जायँ, तो जनता की सेवा हो और खर्च किये हुए रुपयों का पूरा बदला मिले। मुझे उम्मीद है कि यह पैसा इससे ज्यादा लोक-सेवा के कामों में खर्च किया जायगा। कल्पना कीजिये कि इतने रुपये अगर नया अनाज पैदा करने में लगाये जायँ, तो कितने भूखों का पेट भरे?

—महात्मा गांधी

काका कालेलकर

तीसरा रास्ता

श्री विनोबा भावेकी भूमिदान-यात्रा भारतके इतिहासमें एक महत्त्वकी और आशाभरी घटना है। तेलंगाना की यात्रा में जब उन्हें भूमि मिली, तब चंद लोगोंने कहा कि साम्यवादियोंके आतंकसे त्रस्त हुए लोगोंको भूमि दिये बिना चारा ही नहीं था। और जगह उन्हें ऐसी जमीन मिलना संभव नहीं।

अगर ऐसा ही होता, तो भी तेलंगाना के भूमिदानका महत्त्व कम नहीं होता। जहां रोग है वहीं पर लोग दवा लेंगे। लोग कड़वी लेकिन उचित दवा लेनेको तैयार हुए और लोगों को दवा देनेवाले सच्चे वैद्य मिले, यही बड़ी बात थी। लेकिन अब जो भूमि उन्हें स्थान-स्थान पर मिल रही है, उससे सिद्ध होता है कि हिन्दुस्तानमें दैवी परिवर्तन या सात्विक क्रांतिका वायुमंडल भगवान अपने एक पवित्र भक्तके द्वारा पैदा कर रहा है।

सचमुच विनोबाजी की श्रद्धा और आस्तिकता महात्माजी की परम्पराकी है। हमारे देश में ऐसे आस्तिक लोग समय-समय पर पैदा होते आये हैं, यह कोई अनहोनी बात नहीं है। किन्तु देशके सामान्य लोग ऐसोंकी बात सुननेको तैयार होते हैं, यही बताता है कि भारतवर्षकी प्रजा आस्तिक है। उसमें धर्मका प्राण प्रज्वलित हो सकता है।

महात्मा गांधी ने राष्ट्रको सत्य और अहिंसाकी दीक्षा दी और लोग सत्याग्रहके लिए तैयार हो गये। अंग्रेजों का राज्य एक जबरदस्त संस्था—कारपोरेशन था (और उन्हींका तत्त्वज्ञान कहता है कि संस्था या कारपोरेशनकी आत्मा नहीं होती।) ऐसे एक जबरदस्त कारपोरेशनकी आत्मशक्तिका परिचय करनेका काम गांधीजी के सत्याग्रहने किया।

अब अहिंसा और सत्यके साथ अपरिग्रह और अस्तेयको हाथ में लेने की नौबत आयी है। श्री विनोबाने देखा कि आज के जमानेका प्रधान दोष है धन-निष्ठा। उसे दूर करने के लिए जो धन संग्रहका प्रतीक है, उस पैसे को ही जीवन-क्रममें अप्रतिष्ठित करना जरूरी है। उपवासपूर्वक चिंतन करके वे एक निर्णय पर पहुंचे। और उन्होंने धनका दान लेने से इनकार किया। धन कमानेकी बात उनके पास थी ही नहीं।

दुनियामें श्रम और धन दो तत्त्व हैं। श्रमसे बचना हो, तो धनसंग्रह करना चाहिये। जब तक धन की प्रतिष्ठा है तब तक श्रम चाहे जितना बढ़े वह प्रतिष्ठित होनेका नहीं। उन्होंने धनको अप्रतिष्ठित किया और श्रमकी

प्रतिष्ठा बढ़ाई । इतना जीवन-परिवर्तन करते ही उनको अपरिग्रह व्रतकी, अथवा परिग्रह कम करने की दीक्षा देनेका अधिकार प्राप्त हुआ। और भारत की भूमि, भारतकी जनता धर्मका असर कबूल करने की अपनी परंपरा भूली नहीं है इसका सबूत अनेक भूमिपतियोंने दिया।

हम कहते आये हैं कि रूस के पास एक रास्ता है, अमेरिका के पास दूसरा। भारत का रास्ता तीसरा है। लेकिन उसमें इस तीसरे रास्तेका चैतन्य आज तक उत्कट रूपसे प्रकट नहीं हुआ था। कानूनके द्वारा, सरकारके सामर्थ्यके द्वारा, अगर वह प्रकट होता, तो उसे हम तीसरा रास्ता नहीं कह सकते थे। जिस भूमिदान-यज्ञके श्री विनोबाजी अध्वर्यु हैं, उस दानमें और अमेरिका से जो सहायता का दान सारी दुनियामें फैल रहा है, उसमें आसमान-जमीन का अंतर है। दोनोंमें दीर्घ-दृष्टि है सही। किन्तु एक में द्रव्यशक्ति पर विश्वास है। वे द्रव्यलोभकी वीणा पर अपना राग बजाते हैं। दूसरे दानकी बुनियाद में आत्मशक्ति है। उसका भजन सात्विक है और अन्तमें उसीकी विजय हो सकती है। सम्राट ययाति और सम्राट अशोक, दोनों ने राज्य-वैभवका और राज्य-सामर्थ्यका असाधारण अनुभव करनेके बाद तय किया कि भोग और ऐश्वर्यमें न शांति है, न विश्वकल्याण। संग्रहको कम करो, खर्चको कम करो, तभी आत्मशक्ति जाग्रत होगी और दुनियामें शांति और बंधुता फैल सकेगी।

('मंगल प्रभात' से)

खास कर हमारे देश में इसकी बड़ी आवश्यकता है कि हम यह महसूस करें कि प्रत्येक धर्म और संप्रदाय के प्रति आदर और समानता का भाव रखना और तदनुकूल आचरण करना ही हमारे लिए उत्तम रास्ता है। क्योंकि सम्पूर्ण देश का और हममें से हरएक का कल्याण इसी में है। इसी निष्ठा और विश्वास के कारण हमारे संघ-राज्य ने निरपेक्षता की नीति अपनाई है, और अपनी प्रजा को यह भरोसा दिया है कि किसी व्यक्ति या सम्प्रदाय के खिलाफ धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जायगा, और हरएक को उसकी पालन की समान सुविधायें दी जायंगी। मैं इस आदर्श के अनुसार सब धर्मों के प्रति प्रेम और आदर रखता हूं।

यद्यपि मैं खुद अपने विश्वास और नित्यचर्या की दृष्टि से सनातनी हिन्दू हूं, और यद्यपि मैं अपना पूजा-पाठ सनातनियों की विधि से करता हूं, लेकिन मैं यह विश्वास करता हूं कि हरएक धर्मपरायण व्यक्ति अपने-अपने धर्म की विधि से भगवान् की पूजा करते हुए उन तक पहुंच सकता है। इसलिए मुझे न सिर्फ सब धर्मों के लिए आदर है, बल्कि जब कभी मुझे मौका मिलता है, मैं उन सब धर्म-स्थानों में जाता भी हूं और अपना आदर प्रकट करता हूं। जब भी अवसर आता है, मैं दरगाह और मस्जिद, गिरजा और गुरुद्वारा आदि में वही आदर का भाव लेकर जाता हूं जैसा कि अपने धर्म-मंदिरों में।

—राजेन्द्रप्रसाद

दादा धर्माधिकारी

कल्याणकारी उपक्रम

'हरिजन' के सम्पादक किशोरलाल भाई ने विनोबा के भूमिदान-यज्ञ के प्रयोग को गांधी-प्रक्रिया का परिणत स्वरूप कहा है। ये शब्द किशोरलाल भाई के नहीं हैं, हमने उनका आशय अपने शब्दों में व्यक्त किया है। लेकिन कुछ प्रगतिवादी समाचार-पत्रों ने विनोबा के इस उपक्रम की कड़ी आलोचना की है। उनका यह आक्षेप है कि इस प्रकार के आंदोलन से अराज्यवाद की प्रवृत्ति जोर पकड़ेगी और देश में विधि-युक्त सत्ता की प्रतिष्ठा नहीं रहेगी।

इस आलोचना में एक गंभीर तर्क-दोष है। हरेक राज्य के विधान के पीछे जनता के अनुमोदन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार अनुमोदन यदि हो तो कानून का अमल करने के लिए दंड की शरण नहीं लेनी पड़ती, इसलिए शासन को जनता का स्वयंप्रेरित समर्थन और सहयोग प्राप्त करा देना हर एक लोक-निष्ठ कार्यकर्त्ता का परम कर्तव्य है। जनता का स्वयंप्रेरित प्रयत्न प्रशासन को शक्ति देता है और उसकी नींव दृढ़ करता है। विनोबा का उपक्रम इसी प्रकार का है।

सारे देश में जमींदारी और सरमायादारी का धीरे-धीरे अंत करने के लिए धारा-सभाओं में कानून पेश किये गये। उनका घोर विरोध हुआ, उनके रास्ते में अड़ंगे डाले गये और अदालत में उनकी वैधानिकता का प्रश्न उपस्थित किया गया। इस विरोध-वृत्ति का निराकरण विनोबा अपने ढंग से करना चाहते हैं। वे संपत्तिमानों को यह समझाना चाहते हैं कि वे संपत्ति के संविभाजन में यदि सहयोग देंगे तो मानवता की बलि दिये बिना ही क्रांति होगी। सशस्त्र और हिंसक क्रांति या संपत्ति का बलपूर्वक अपहरण करने से दोनों पक्षों में कटुता पैदा होती है। संविभाग तो होगा, लेकिन अंतःकरण में गहरे घाव रह जायेंगे। इसमें भयानक सांस्कृतिक हानि होगी। इस अनर्थ से मानवता को बचाने का संकल्प विनोबा ने किया है। हो सकता है कि उनकी शक्ति परिमित साबित हो, लेकिन साक्षात् भगवान बोल चुके हैं कि 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

सार्वभौम भूपति सम्राट कहलाता था, एक राष्ट्र का भूपति राजा कहलाता था और फुटकर भूपति जमींदार तथा सरमायेदार कहलाते थे। इस प्रकार एक तरफ छोटे-बड़े भूपतियों की परंपरा थी और दूसरी तरफ जमीन जोतने वाले छोटे-बड़े भू-दासों की श्रेणी थी। आज जो भू-दास हैं, याने अपने परिश्रम से जमीन जोतते हैं, वे भी भूपति बनना चाहते हैं। पहले छोटे-बड़े भूपति थे,

अब सभी समान आकार के भूपति बनना चाहते हैं, किन्तु बनना चाहते हैं भूपति ही।

विनोबा समाज में यह संकल्प जाग्रत करना चाहते हैं कि भविष्य में समाज भूपतियों का नहीं, भू-माता के पुत्रों का होगा। मालिकों का नहीं, उत्पादकों का होगा। सृष्टि का धन-धान्य खा-खा कर खत्म करने वालों का नहीं, सृष्टि की समृद्धि और उत्पादन-शक्ति बढ़ाने वालों का होगा।

इसके लिए दो तरह की भावनाओं का विकास करना होगा। संपत्तिधारियों में आत्म-विसर्जन की भावना पैदा करनी होगी और छोटे-छोटे भूस्वामी किसानों में ट्रस्टीशिप की भावना का विकास करना होगा। अहिंसक क्रांति की यही विधि है। विनोबा उसके विज्ञाता और अनुष्ठाता हैं। उनका प्रयोग शास्त्रपूत और अनुभव-सिद्ध है। वह अवश्य कल्याणकारी सिद्ध होगा। इस देश के सभी आर्थिक स्वतंत्रतावादी व्यक्तियों को इस महान् उपक्रम में उत्साह और लगन के साथ सहयोग देना चाहिये। उसकी नुक्ताचीनी करने में किसीका फायदा नहीं है।

विनोबा के प्रयोग की एक अपूर्व विशेषता यह है कि वे सोने की जगह मिट्टी का निरख बढ़ाना चाहते हैं, इसलिए वे किसीसे पैसा नहीं लेते। सिर्फ मिट्टी माँगते हैं। धरती माता के वे अनन्य उपासक हैं।

श्रीकृष्ण ने जब मिट्टी फाँकी तो यशोदा ने उन्हें डाँटा। 'मैंने मिट्टी नहीं खायी है,' यह दिखाने के लिए श्रीकृष्ण ने अपना मुँह बा कर दिखाया तो यशोदा ने उस छोटे से मुखारविंद में विश्वरूप का सारा वैभव देखा। "क्वचिन् मृत्स्ना शिल्वम्, क्वचिदपि च वैकुंठविभवः।" विनोबा के इस साधारण-से दिखायी देने वाले प्रयोग में ऐसा ही इंगित सन्निहित है।

संसार में भूपति भूमि का संग्रह करते हैं, नृपति जन-संग्रह करते हैं और धनपति धन-संग्रह करते हैं। किन्तु मानवीय क्रांति का यह आधुनिक अग्रदूत केवल स्नेह-संग्रह करके धरती का बोझ घटा रहा है। ('सर्वोदय' से)

भजन-पूजन, साधना-आराधना सब छोड़ दो। मन्दिर के द्वार बन्द कर इस निर्जन अंधेरे कोने में तुम किसकी पूजा कर रहे हो? अपनी आंखें खोल कर देखो कि देवता तुम्हारे सन्मुख नहीं हैं।

जहां मिट्टी खोदने वाला कड़ी जमीन खोद रहा है, जहां सड़क बनाने वाला पत्थर तोड़ रहा है, तुम्हारे देवता वहीं हैं। धूप तथा वर्षा में देवता उन्हीं के साथ हैं। उनके वस्त्र धूलि-धूसरित हो रहे हैं। अपने पवित्र वस्त्र उतार कर उनके समान तुम भी इसी धूल में आओ।

मुक्ति! मुक्ति कहां है? हमारे प्रभु ने स्वयं आनन्दपूर्वक अपने ऊपर सृष्टि का बंधन ले लिया है। वे हमारे साथ सदा के लिए बंध गये हैं।

अपने फूलों की डाली और धूप-दीप छोड़ कर अपने मन्दिर से बाहर आओ। यदि तुम्हारे वस्त्र फट जायें, उनमें धूल लग जाये तो क्या हानि है? कर्म के द्वारा तुम देवतासे मिलो और सदा उनके पार्श्व में स्थित रहो।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

राधाकृष्ण

चांडाल और डोम-जाति

जीवित अवस्था में हिन्दू यदि ब्राह्मण के द्वारा पवित्र होता है, तो मरने के बाद उसकी लाश 'डोम' की दी हुई आग से ही पवित्र होती है। डोम भारत की अत्यन्त पुरानी जातियों में है। प्राचीन काल के प्रख्यात सूर्यवंशी राजा हरिश्चन्द्र ने डोम के यहाँ दासत्व स्वीकार किया था।

डोम को लोग 'चाण्डाल' भी कहते हैं, मगर चाण्डाल नाम आज विशेष प्रचलित नहीं। हाँ, पूर्व बंगाल में चाण्डाल नामक एक अलग जाति भी पाई जाती है। इस जाति को योरप के विद्वानों ने अनार्य-जाति से उत्पन्न बतलाया है। मगर योरप के विद्वानों में भी मतभेद है। सन् १८७२ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में मिस्टर वेल्स ने फरीदपुर के चाण्डालों का विवरण देते हुए कुछ इधर-उधर की बात कहकर स्वीकार किया है कि ये हिन्दू-जाति की ही सन्तति हैं।

पूर्व-बंगाल के वे चाण्डाल लोग अपने को 'नमःशूद्र' कहते हैं। कहते हैं कि वे लोग पहले जाति के ब्राह्मण थे; लेकिन शूद्रों के साथ भोजन कर लेने के कारण वे भी शूद्र करार दिये गये। अपने बारे में वे यह भी कहते हैं कि हमलोग (गया की ओर के) मगध के निवासी हैं—उधर से ही, सबसे पहले, 'गोवर्द्धन' चाण्डाल आकर बंगाल में बसा; हमलोग उसी गोवर्द्धन की सन्तान हैं। पूर्व-बंगाल के वे चाण्डाल आज भी बारहवें दिन मृतक का श्राद्ध करते हैं और गया में जाकर अपने पूर्वजों को पिंड भी देते हैं।

डाक्टर बुकानन साहब ने पूर्व-बंगाल के इन नमःशूद्रों का सम्बन्ध बिहार की दुसाध-जाति से बतलाया है। मगर बिहार के दुसाधों को जिन लोगों ने देखा और जाना है, वे कदापि ऐसी बात नहीं कह सकते। दुसाध कहते हैं कि हमारे पूर्वज राहु-केतु हैं। इधर पूर्व-बंगाल का चाण्डाल कहता है कि हमारे पूर्वज ब्राह्मण थे। दुसाधों के यहाँ सातवें दिन श्राद्ध होता है और चाण्डालों के यहाँ बारहवें दिन। श्री बेवरली का अनुमान है कि पूर्व-बंगाल के चाण्डाल राजमहल (संताल परगना) पहाड़ियों के ऊपर बसनेवाले माल पहड़िया जाति की सन्तान हैं। मगर इसके लिए उन्होंने कोई पुष्ट तर्क नहीं दिया है। जबरदस्ती चांडालों को माल-पहड़िया की सन्तान बतलाकर उन्हें द्राविड़-जाति का सिद्ध किया है। मजा तो यह है कि जिस ओर यह नमःशूद्र जाति रहती है उसी 'ढाका' की ओर माल आदिवासियों की भी थोड़ी बहुत आबादी है; मगर उस माल जाति की रीति-

नीति, आचार-व्यवहार, चेहरा-मोहरा आदि का किसी भी बात में इन चांडालों के साथ साम्य नहीं। डाक्टर वाइज ने चांडालों के बारे में कहा है कि पूर्व-बंगाल में एक यही जाति ऐसी है जिसका झुकाव विशेष रूप से हिन्दी की ओर है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि चांडालों के हाथ में किसी समय राजसत्ता भी थी। भावल के जंगलों में एक टूटा-फूटा खँड़हर है। कहते हैं कि किसी काल में वही चांडाल-राजा का गढ़ था। डा० वाइज ने बतलाया है कि बंगाल के नमःशूद्र आठ भागों में विभक्त हैं और एक शाखा का व्यक्ति दूसरी शाखा के व्यक्ति के यहाँ शादी-ब्याह, खान-पान नहीं करता। उनके आठों भाग ये हैं—(१) हलवाह = हल चलानेवाले किसान; (२) घासी = घास छीलकर जीवन-निर्वाह करनेवाले; (३) कांधो = कन्धे के ऊपर काँवर से बोझ ढोनेवाले; (४) कर्राल = मछली मारनेवाले; (५) बारी = बढ़ई; (६) बेरुआ = मछली मारनेवाले; (७) पोद = बर्तन बनानेवाले, मछली मारनेवाले, खेती करनेवाले; (८) बकाल = धान, चिउड़ा कूटनेवाले। इनमें से कई शाखाओं के लोग तो उच्चवर्ण वालों के ऐसे समकक्ष हो रहे हैं कि उन्हें यदि कोई चांडाल कहे तो वे बिगड़ उठें - लाठी-डंडा चलने लगे। वस्तुतः बात यही है कि जिसकी आर्थिक स्थिति जैसी है, समाज में उसका स्थान भी वैसा ही है। पैसावालों के पास जाते ही बड़े-बड़े लोगों का आचार-विचार और छुआछूत का भाव भूल जाता है।

जो भी हो, पूर्व-बंगाल के गरीब चांडालों की पहचान है कि वे लोहे का आभूषण पहनते हैं और कुत्ता तथा बन्दर पालते हैं। इन लोगों के यहाँ लड़का पैदा होने के छठे दिन षष्ठी (छठी) पूजा होती है। लड़की होने पर ये षष्ठी की पूजा नहीं करते। ये लोग ब्याह-शादी, पूजा-पाठ आदि के अवसर पर स्वयं अपनी जाति के लोगों से ही पूजा कराते हैं। ऐसे लोगों को बंगाल में 'वर्ण ब्राह्मण' कहा जाता है। इन्हें 'चांडालेर बामुन' कहकर भी लोग पुकारते हैं। धोबी और हजाम से इनका बैर है। न धोबी इनका कपड़ा धोता है और न हजाम इनकी हजामत बनाना स्वीकार करता है। डा० वाइज कहते हैं कि बंगालियों के अन्दर यह बड़ी अच्छी जाति है; ये लोग मस्त रहना जानते हैं, चिन्ता नहीं करते और दिल लगाकर परिश्रम करते हैं; जब इनका काम समाप्त हो जाता है तब ये गीत-गान और मस्ती में चूर हो जाते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि धोबी के साथ बंगाल की चाण्डाल-जातियों का बैर है। यही बात बिहार के डोमों के साथ है। इस सम्बन्ध में बिहार के डोम एक पुरानी बात बतलाते हैं—कहते हैं कि डोमों के एक पुरखा थे 'सुपत भगत'—वे बहुत लम्बी यात्रा से थके हुए भूखे-प्यासे आ रहे थे—भूख के मारे बेचैन थे—जान अब-तब हो रही थी; इतने में वे क्या देखते हैं कि एक धोबी गदहा पर चढ़ा हुआ उधर से जा

रहा है; उन्होंने उससे कुछ खाने को माँगा—बड़ी चिरौरी-बिनती की; लेकिन धोबी ऐसा था कि कुछ खिलाना तो दूर रहे, उलटे उनको गालियाँ देने लगा; इस पर वे धोबी पर चढ़ बैठे—उसे भगा दिया और गदहे को मार कर वहीं पर भूनकर खा लिया; जब उनकी भूख मिट गई तब उन्हें होश आया कि हाय मैंने यह क्या कर दिया—गदहे का मांस खा लिया! जो भी हो, तब से ही डोम और धोबी की नहीं पटती। डोम धोबियों से घृणा करते हैं और उन्हें नीच जाति का बतलाते हैं। बिहार के सिल्ली (राँची) थाने में अभी तक हजाम लोग डोम-चमार आदि जातियों की हजामत नहीं बनाते।

बिहार के डोम लोगों के अन्दर कई शाखाएँ हैं जिनमें 'मगहिया डोम' नामक शाखा बहुत ही प्रसिद्ध है। उधर बंगाल के चाण्डाल भी अपने को मगध से आया हुआ (मगध का अथवा मगहिया) बतलाते हैं। अतएव क्या ताज्जुब कि मगहिया डोम की ही शाखा ये बंगाल के नमःशूद्र हैं। पुराने वक्त में मगहिया डोम फाँसी देने के काम में बड़े प्रसिद्ध थे। कहते हैं कि पुराने समय में दिल्ली के बादशाह और लखनऊ के नवाब लोगों के यहाँ अपराधियों को फाँसी देने के लिए मगध से डोमों की बुलाहट होती थी। ढाका के नवाबों के यहाँ भी इनकी बुलाहट हाल-हाल तक हुई है। मगर पीछे से जो डोम ढाका की ओर गये वे आज भी वहाँ डोम ही कहे जाते हैं। उन लोगों का शादी-ब्याह चाण्डाल लोगों के यहाँ नहीं होता। मुसलमानों के राजत्व-काल में डोम लोगों में जो मुसलमान हो जाते थे उनकी बड़ी खातिर होती थी, ऊँचे ओहदे मिलते थे। अवध के रमालाबाद जिले में अलीबक्श डोम गवर्नर थे। कुमाऊँ के इलाके में डोम लोगों की हालत अच्छी नहीं थी। 'खस' लोगों ने उन्हें गुलाम बनाकर रखा था और जिस तरह गाय तथा घोड़े बेचे जाते हैं उसी तरह वे अपने दासों की भी बिक्री किया करते थे। इसी बात को देखकर सर हेनरी इलियट ने लिखा है कि मालूम होता है, ये लोग भारत की आदिम जातियों में हैं। यदि केवल इतनी-सी बात पर ही कुमाऊँ के डोम आदिम जातियों में मान लिये जायँ, तो उनके मालिक 'खस' लोग आखिर क्या कहे जायँगे। 'खस' लोगों की रीतियाँ भी तो भारत की अन्य हिन्दू-जातियों से भिन्न हैं। खस लोगों के यहाँ सिर्फ बड़ा भाई विवाह करता है और उसकी पत्नी सभी भाइयों की पत्नी होती है। यह प्रथा तो भारत की किसी भी हिन्दू-जाति में नहीं है।

प्राचीन काल में डोम जाति के लोगों ने अच्छे दिन भी देखे थे। इन लोगों ने राज भी किया है। डोमडीहा और डोमन-गढ़ का किला किसी समय प्रसिद्ध था। रोहिणी नदी के किनारे रामगढ़ और शाहनकोट में भी डोम लोगों का किला था। मिस्टर कारनेगी ने अनुमान किया है कि डोमन-गढ़

का किला किसी डोम के परिवार का ही था, जो उन्नति करके राजपूत कहा जाने लगा था, क्योंकि राजपूत जातियों में अक्सर ही अन्य सम्पन्न जातियाँ हजम होती आई हैं।

डोम एक विशाल जाति है जो तमाम फैली हुई है। उच्च वर्ण के लोग डोम को निम्न जाति का समझते हैं। इस भेद-भाव को मिटाने की बहुत कम चेष्टा की गई। ये डोम किस तरह नीची जाति के हो गये, इसके विषय में मगहिया डोमों में एक किंवदन्ती है। एक बार महादेव और पार्वती ने सभी जातियों को खाने का निमंत्रण दिया। सभी जाति के लोग खाने गये; लेकिन डोम नहीं गया। सबके खा लेने पर डोम-जाति का पूर्वज 'सुपत भगत' वहाँ पहुँचा। वह इतना भूखा था कि जरा भी सब्र न कर सका; लोगों ने जो जूठी पत्तलें छोड़ दी थीं उन्हीं में खाने लगा। ऐसा करके वह 'जुठखैया' कहलाया। मगर यह कहानी पश्चिम बंगाल के डोमों में प्रचलित नहीं है। पश्चिम बंगाल के डोम बतलाते हैं कि उन लोगों का पूर्वज 'कालूवीर' था जो चाण्डाल स्त्री तथा बाग्दी पुरुष से उत्पन्न हुआ था। कालूवीर के चार पुत्र हुए—प्रानवीर, मानवीर, भानवीर और शानवीर। इस तरह उन चारों से डोम की चार उपजातियाँ हो गईं—अंकुरिया, बिसदलिया, बजौनिया और मगहिया। इस उपजाति की भी एक कहानी है। एक दिन प्रानवीर और मानवीर पूजा के लिए फूल तोड़ने गये थे। वहाँ फूल तोड़ते समय प्रानवीर ने तो अँकुसी से खींच-खींचकर फूलों को धरती पर गिराया और धरती पर गिरे हुए फूलों को पूजा के लिए उठाया। इधर मानवीर ने सीधे पेड़ से ही फूल तोड़े और उन्हें देवता पर चढ़ाया। सो मानवीर के फूलों को तो देवता ने स्वीकार कर लिया और प्रानवीर के चढ़ाये हुए फूलों को अस्वीकार कर दिया। इसीलिए मानवीर 'बिसदलिया' (बीसदल—फूल के दल मतलब है) कहलाया। प्रानवीर ने अँकुसी से फूल गिराया था, इसीलिए वह 'अँकुरिया' हो गया। यह बात जब तीसरे भाई भानवीर के पास पहुँची, उसने प्रसन्नता से गले में ढोल लटका लिया और बजाने लगा। अतः वह 'बजौनिया' कहा गया।

जो डोम लोग श्मशान में शव के संस्कार के लिए रहते हैं वे अपने सम्बन्ध में एक किस्सा बतलाते हैं। एक बार श्रीमहादेवजी ने डोम लोगों के पुरखे को गंगाजी से जल लाने को भेजा था। वहाँ जाकर उसने देखा कि गंगाजी के किनारे एक लाश पड़ी है और दाह-संस्कार करने वाला कोई नहीं है। उससे यह नहीं देखा गया। जाकर वह जंगलसे लकड़ी चुन लाया, नियम के अनुसार लकड़ी गाड़कर चिता रची और आग जलाकर उसका दाह कर दिया। उसके बाद वह गंगाजल लेकर महादेवजी के पास पहुँचा। बहुत विलम्ब हो चुका था। अतः उन्होंने क्रोध से पूछा—तू इतनी देर तक गंगातट पर क्या कर रहा था? उसने

जवाब दिया—मृतक का दाह-संस्कार कर रहा था ! इसपर महादेवजी ने शाप दे दिया कि जा, अबसे तेरा काम यही होगा कि तू श्मशान-घाट पर दाह-संस्कार के लिए लोगों को आग और लकड़ी दिया करेगा। सो वही महादेवजी का शाप पड़ गया ! तभी से डोम बराबर मृतक-संस्कार में उपस्थित रहते हैं। जब तक वे आग न दें तब तक मृतक की सद्‌गति नहीं होती।

पश्चिम-बंगाल में जो डोम लाश उठाने या दाह-संस्कार का काम करते हैं वे ढाकलढेसिया या तापसपुरिया डोम कहे जाते हैं। अन्य डोमों की भाँति वे भी अपने को कालूवीर का वंशज मानते हैं। बिहार में डोम लोगों की दो उपजातियाँ और भी पाई जाती हैं। एक तो बाँसफोर और दूसरी छपरहिया। 'बाँसफोर' बाँस से तरह-तरह की चीजें बनाने का काम करते हैं और 'छपरहिया' छप्पर छाने के लिए बाँस का ठाट बाँधते हैं। साधारणतया डोम जाति का काम पंचायत के द्वारा संचालित होता है। पंचायत के मुखिया को वे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। जैसे—सरदार, प्रधान, मंझन, कविराज आदि। पंचायत में 'मुखिया' से नीचे एक 'छड़ीदार' होता है, जो यह देखता है कि पंचायत में जो प्रस्ताव पास हो गये हैं वे व्यवहार में लाये जा रहे हैं या नहीं।

डोम लोगों के यहाँ अपने भानजे (भगिनी-पुत्र) की पूजा होती है। अपने भानजे को वे लोग बहुत महत्त्व देते हैं। रकतमाला, घिहल या गोहिल, गोरैया, बन्दी, लकेश्वर, डिहवार, डाक आदि उनके विशेष देवता हैं। उनके पुरखों में कोई श्याम सिंह थे। उनकी भी पूजा होती है। उन्हें दीप दिखलाया जाता है, सूअर के बच्चे (छौने) का बलिदान किया जाता है और सुरा उत्सर्ग की जाती है। यदि कोई डोम साँप के काटने से मर जाता है तो उसके लिए विशेष तौर पर 'सँपेरिया' की पूजा होती है। 'संसारी माई' (सम्भवतः काली) की पूजा ये लोग बाँस काटने वाली कटारी से करते हैं। अपनी कटारी से उँगली का थोड़ा-सा रक्त निकालकर ये संसारी माई की पूजा करते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि जो डोम चोरी-डकैती आदि करते हैं, संसारी माई उनकी रक्षा करती हैं, उन्हें पकड़ाने नहीं देतीं। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि जिस श्याम सिंह की पूजा ये लोग करते हैं, वे श्याम सिंह और कोई नहीं, एक पक्के चोर थे। चोरी के फन में उस्ताद थे और अन्त समय तक पकड़े नहीं जा सके। उनकी अकाल-मृत्यु हो गई और मरकर वे भूत हो गये हैं। वे डोम लोगों को चोरी करने का सपना देते हैं और बतलाते हैं कि कहाँ पर सेंध मारना चाहिए, माल कैसे उड़ा लेना चाहिए। डोम लोग मसान की भी पूजा करते हैं।

एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है—साधारणतया लोग विश्वास करते हैं कि डोम

(शेष पृष्ठ ३१ पर)

घनश्यामदास बिड़ला

बापा का अभिनन्दन

व्यासजी ने कहा था कि करोड़ों पोथियों में जो बताया गया है वही मैं आधे श्लोक में बता देता हूं—'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्' माने, परोपकार ही पुण्य है और दूसरों को पीड़ा देना ही पाप है। ठक्कर बापा को केवल इतने ही कथन से पर्याप्त चित्रांकित किया जा सकता है कि इस आधे श्लोक में बताये धर्म को उन्होंने अपने जीवन में पूरी तरह से ओत-प्रोत किया है।

बापा के संसर्ग में मैं किस सन् या तारीख से आया यह तो मुझे स्मरण नहीं, पर इतना अवश्य याद है कि उस समय उनका अमृत लाल ठक्कर नाम ही चलता था और पिछड़े हुए लोगों की सेवा करना उनका पेशा था। 'बापा' की यह उपाधि तो उन्हें पीछे से मिली जो नितान्त सार्थक है।

कहते हैं कि ठक्कर बापा गृहस्थ थे, और इंजीनियर भी थे। सुना है कि अफ्रिका में रेल की पटरियां डालने का काम उनके सुपुर्द किया गया था जिसे उन्होंने अच्छी तरह निभाया। पर उनकी जीवनझांकी, रहन-सहन या वेश-भूषा से उनका गृहस्थ होना या इंजीनियर बनकर रेल की पटरियां बिछाना कुछ अनोखा-सा लगता है। ठक्कर बापा के असली माने तो उनके जानकारों के लिए इतना ही है कि वे एक शुद्ध, विनम्र और गरीबों के निस्वार्थ सेवक हैं, जिनमें न थकान है, और न अभिमान। सेवा में विघ्न आने पर उन्हें अवश्य रोष होता है, पर क्षणिक; दूसरों के दुख से उन्हें चोट लगती है, वह स्थायी। उनकी कोई फिलासफी है तो सेवा की और भक्ति है तो गरीब-पीड़ितों की।

मेरा गाढ़ा संबंध ठक्कर बापा से हुआ १९३८ में। बापू जब यरवदा में आमरण उपवास की दीक्षा लेकर मृत्यु-शय्या पर लेटे थे, तब हम कुछ लोग श्री अम्बेडकर से बातचीत करके किस तरह हरिजन गुत्थी को सुलझावें इस चिन्ता में डूबे पड़े थे। समय बीतता जाता था और बापू का शरीर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर डूबता जा रहा था। कुछ लोग सीटों की खींच-तान में थे, जिनपर हम लोगों को रोष आता था। उस समय कितनी सीट न्यायानुकूल हरिजनों को मिले इसका हिसाब निकालने का भार ठक्कर बापा पर रखा गया। उन्होंने इस भार को पक्षपात रहित होकर उठाया। 'पूना-पैक्ट' का प्राण हरिजनों को दिया हुआ मताधिकार है जो ठक्कर बापा की कृति है। इस दस्तावेज पर हमलोगों ने आंख मूंद कर हस्ताक्षर किये।

उसके बाद जब हरिजन-सेवक-संघ गठित करने का प्रस्ताव हुआ और मुझे

उसका सभापति बनने का आदेश हुआ, तब इसी शर्त पर मैंने इसे स्वीकार किया कि संघ का मंत्रित्व ठक्कर बापा को सौंपा जाय। सत्रह साल इस तरह ठक्कर बापा के संसर्ग में बीते, जिसकी स्मृति मुझे चिर-स्थायी रहेगी।

ठक्कर बापा के सम्बन्ध में अधिक लिखना बेकार है। उनकी कृति ही उनका "अभिनन्दन-ग्रन्थ" है। कागज, कलम और स्याही उनकी कृति का क्या वर्णन दे सकती है। मेरा यह सद्भाग्य है कि मुझे एक साधु का संसर्ग मिला।

('अभिनन्दन-ग्रन्थ' से)

चांडाल और डोम-जाति......

लोग अपने मृतक को जलाते या गाड़ते नहीं—पारसियों की तरह किसी एकान्त और खास जगह में छोड़ देते हैं। मगर इस बात पर विश्वास करने वाला आपको कदाचित् ही कोई दिखलाई देगा। यह तो गढ़ी हुई बात-जैसी मालूम होती है। हाँ, पूर्व-बंगाल के डोम अपने यहाँ के मृतक के शरीर को पद्मा (गंगा) नदी में बहा देते हैं। पच्छिम बंगाल के डोम ज्येष्ठ-पूर्णिमा को धर्मराज की पूजा करते हैं। धर्मराज की पूजा चावल, केला, छोआ और चीनी से की जाती है। वहाँ वैशाख महीने में अपने पूर्वज कालूवीर की भी पूजा होती है। विजयादशमी के दिनों में बनौजिया डोम अपने ढोल की पूजा करते हैं। पूर्व-बंगाल के डोम बरसात के दिनों में बड़ी धूमधाम से श्रावणी-पूजा करते हैं।

भारत में जितने भी डोम-जाति के लोग हैं, उनमें एक विशेष बात पाई जाती है—संगीत और नृत्य से प्रेम। जरा सा सीख लेने पर ही वे बहुत बढ़िया बाजा बजाने लगते हैं। डोम-जाति का नृत्य बहुत प्रसिद्ध है। उसमें कला भी है। यदि डोम-जाति की इस परम्परा के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया जाय, तो बहुत ही अच्छा होगा। अब इधर सरकार तथा सार्वजनिक संस्थाओं के द्वारा उनके सामाजिक और आर्थिक उद्धार के प्रयत्न हो रहे हैं। साथ-ही-साथ उनकी कला के उद्धार का भी प्रयत्न होना चाहिए। यों तो सामाजिक और आर्थिक उन्नति के फेर में वे अपने पुराने काम को छोड़ते जा रहे हैं, साथ-साथ अपने संगीत, वाद्य और नृत्य को भी छोड़ रहे हैं। उनके सुधार के सदुद्योग से देश की एक पिछड़ी जाति का उत्थान हो सकता है। ('साहित्य' से)

राधामोहन वर्मा

वैर - विरोध क्यों ?

मनुष्य की देह चाहे भिन्न-भिन्न हो, आत्मा भी अलग, लेकिन जिस मूल का परिणाम प्राणी है, वह एक ही है। हमारी इच्छाएँ भी बहुत कुछ एक ही तरह की हैं।

हम जो कुछ चाहते हैं, दूसरे भी प्रायः वही कामनाएँ रखते हैं। अन्तर हो सकता है, कोई किसी चीज को अधिक पसन्द कर सकता है, कोई कम; लेकिन यह नहीं होता कि जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों को एक चाहे, दूसरा बिलकुल नहीं। यदि यह सच है तो यह भी सच है कि एक का दूसरे की प्रगति का बाधक होना या उस की इच्छाओं और पसंदों की राह में आना उचित नहीं।

अपने विचारों से भिन्न विचार हमें पसन्द क्यों नहीं आते ? यह सिर्फ इसलिए नहीं कि वे हमारे विचारों के अनुकूल नहीं हैं। यह इसलिए कि हमारे स्वार्थ टकराते हैं। जब ऐसा होता है तो हम दूसरों की इच्छाओं को दबाना चाहते हैं। फल होता है विरोध, और हम एक दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं। अगर दूसरों की इच्छाओं को दबाने की अपेक्षा हम अपनी इच्छाओं को दबा सकें तो विरोध की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है।

ऐसा नहीं होने से गतिरोध होता है, झगड़े होते हैं, विरोध होता है, और हमारी स्वाभाविक प्रगति रुद्ध हो जाती है।

यह भी सही है कि हमारी अपनी इच्छाएँ और दूसरों की कामनाएँ परिस्थिति विशेष से संबंधित हैं, और हम अपनी परिस्थितियों पर तो सोचते हैं—दूसरों की दिक्कतों पर बिलकुल ध्यान नहीं देते। यदि हम अपना सोचने के साथ ही दूसरों का भी थोड़ा सोचें तो निश्चय ही विरोध के बदले परस्पर मित्रता की भावना जाग्रत हो जाए।

यह भी होता है कि हम दूसरों को अपने से बिलकुल अलग मानते हैं। यह नहीं सोचते कि हम सभी एक विराट् अभिन्न परिवार के सदस्य हैं। अगर हम इस सचाई को मानलें तो विषमता समाप्त हो जाए।

हम अपने दृष्टिकोण को ही सही क्यों मान लें ? दूसरे जो कुछ सोचते हैं वह गलत ही क्यों है ? हम जिसे अनुपयुक्त और अनर्थ-मूलक समझते हैं उसे दूसरा उपयुक्त और सही मानता है। हमारा सोचना सही, दूसरे का गलत—इसका विचारक हम खुद बन जाते हैं, यह सही नहीं है। हम दूसरों की भावनाओं और कामनाओं का आदर करना सीखें। हम निर्दोष मन से यदि दूसरों की कमियों को देखें और उसे सचाई और प्रेम से समझा सकें, तो हमारी बात का असर हो सकता है और झगड़े मिट सकते हैं।

भील—हमारे देशवासी

विवाह का उत्सव हो अथवा मृतक की आत्मा को बुलाना हो, वसन्त का राग-रंग हो अथवा किसी वृक्ष का श्राद्ध हो, ढोल भीलों के जीवन का एक आवश्यक अंग है। ढोल के बिना न वे त्यौहार मना सकते हैं और न शोक।

भील जाति अधिकतर खानदेश, गुजरात निमाड़ तथा राजस्थान में पायी जाती है। भील नाम की व्युत्पत्ति तामिल शब्द से अथवा एक प्रकार के धनुष से हुई प्रतीत होती है। भारत के प्राचीन साहित्य में अनेक स्थलों पर व्याधों का उल्लेख आया है और उन स्थलों पर व्याधों का जो विवरण मिलता है, उनसे व्याध तथा भील एक ही सिद्ध हो जाते हैं। भगवान् राम ने भिलनी के बेर खाये थे। श्रीकृष्ण की मृत्यु भी एक व्याध के शर से ही हुई थी। महाभारत में द्रोणाचार्य और उनके व्याध शिष्य की कथा मिलती है, जिसे गुरु-दक्षिणा में अपना अंगूठा काटना पड़ा था। किंवदन्ती है कि इसी कारण आज भी इस जाति के लोग धनुष चलाने में अंगूठे का प्रयोग नहीं करते।

भील जाति का अस्तित्व प्राचीन काल से ही रहा है। ईसा से २-३ शताब्दी पूर्व तक लिखे जाने वाले संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र भीलों का वर्णन मिलता है। गुजरात में भील सबसे आदि जाति मानी जाती है। कथासरित्सागर में भी एक भील सरदार का वर्णन मिलता है परन्तु ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वे अनार्यों के वंशज सिद्ध किये जा सकें। कुछ विद्वानों का मत है कि ये लोग उस जाति के वंशज हैं जो आर्यों तथा द्रविड़ों के आने से पूर्व भारत में रहती थी। कुछ विद्वानों ने भील लोगों को भूमध्यसागर प्रदेश में बसनेवाली जाति बताया है। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि अभी तक ऐसे यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं जिनके बल पर भीलों को अनार्य वंश सिद्ध किया जा सके। केवल धनुष तथा तीर का प्रयोग, जिनके कारण भीलों को 'निषाद' कहा गया है, भीलों को अनार्य सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं माना जा सकता। निषाद लोगों के वर्णन से पता चलता है कि उनकी नाक छोटी तथा चपटी होती थी, परन्तु भील लोगों की नाकें चपटी नहीं होतीं। शारीरिक रचना के अध्ययन से तो भील लोग भूमध्य-सागरीय देशों की जातियों की श्रेणी में ही आते हैं। कुछ विद्वानों ने भीलों के विभिन्न कबीलों के रुधिर का अध्ययन करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भील लोग यहां की

आदिम जातियों की संतान हैं, परन्तु इस विषय को लेकर विद्वान एकमत नहीं हो सके हैं। भीलों की उत्पत्ति के विषय में भी तरह-तरह की दंतकथाएँ प्रचलित हैं।

इनकी उत्पत्ति के बारे में जो विभिन्न कथाएँ प्रचलित हैं उनमें से एक कथा के अनुसार प्राचीन काल में एक बार भगवान शंकर वनों में घूमते हुए थक गये। उस वन में एक सुन्दरी रहती थी जिसने महादेव जी की खूब सेवा की और महादेव जी कई दिन तक उसके अतिथि रहे। परिणामस्वरूप उसके कई पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न हुई, जिनमें से एक पुत्र बहुत कुरूप था। इस पुत्र ने एक दिन भगवान शंकर के प्रिय वाहन नंदी का वध कर डाला, जिससे कुपित होकर भगवान शंकर ने उसे जंगल में खदेड़ दिया। वहाँ उसने एक जंगली स्त्री से विवाह कर लिया और शेष जीवन वहीं बिता दिया। उसी की संतान भील हैं।

दूसरी दंतकथा इससे जरा भिन्न है। एक बार पांच भील महादेव जी के पास गये, जिन्हें देखकर पार्वतीजी ने महादेव से कहा, "ये मेरे पांच भाई आपसे मेरे विवाह का दहेज मांगने आये हैं।" महादेव जी के पास कुछ नहीं था, उन्होंने अपना नंदी उन्हें भेंट कर दिया। विदा होते समय पार्वती जी ने अपने भाइयों से कहा कि नंदी के कूबड़ में अपार धन है, तुम इसकी सेवा करना। वे मूर्ख इसका आशय समझ नहीं सके और घर आकर उन्होंने नंदी का वध कर डाला। इसपर पार्वती जी बहुत कुपित हुई और उन्हीं के शाप के कारण आज भी भील दुखपूर्ण जीवन बिता रहे हैं।

इस जाति का आदिस्थान राजस्थान मेवाड़ की भूमि है और इसी प्रदेश में यह लोग सबसे अधिक पाये जाते हैं। कहते हैं कि किसी समय में ये लोग मेवाड़ के शासक थे। सिसौदियों ने इन्हीं से राज्य छीना था और आज भी मेवाड़ के राणाओं का राजतिलक भील सरदार द्वारा ही सम्पन्न होता है। ये लोग वीर, साहसी, परिश्रमी तथा स्वामिभक्त होते हैं। धनुष-बाण प्रधान शस्त्र हैं। शरणागत के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देते हैं। जीविका के अपर्याप्त साधनों के कारण ये लोग डाके आदि बहुत डालते हैं। इसी कारण कहीं-कहीं इनकी गणना जरायमपेशा कबीलों में भी की जाती है। भीलों की स्वामीभक्ति प्रसिद्ध है। कहते हैं कि जयपुर राज्य के भीलों के पास कुछ गुप्त कोष है, जो राज्य पर विपत्ति के समय नरेश को सौंप दिया जायगा। एक बार एक भील सरदार उस कोष को देखने गया। साथ में उसका ८ वर्षीय पुत्र भी था। वह लड़का उस कोष में से एक हीरा उठा लाया। बाहर आकर जैसे ही सरदार ने उस हीरे को देखा तुरत ही पुत्र का वध कर डाला; क्योंकि उसके इस कृत्य में स्वामी से विश्वासघात करने की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती थी। उपर्युक्त दंतकथा की सत्यता पर संदेह प्रकट किया जा

सकता है, परन्तु भीलों की स्वामिभक्ति निर्विवाद ही है। राजस्थान की ओर यदि आपने किसी भील को नौकर रख लिया है तो उसके जीवित रहते कोई अन्य भील किसी बुरी नियत से आपके घर में नहीं घुस सकता।

भील लोगों का कद औसतन ५।। फुट होता है। इनकी नाक आगे से चौड़ी तथा वे श्याम वर्ण के होते हैं। इन लोगों में शिक्षा का नितान्त अभाव है। जादू-टोना और भूत-प्रेतों में इनका दृढ़ विश्वास होता है। बीमारी के समय ओझा आकर झाड़-फूँक करता है। त्यौहारों तथा उत्सवों पर पशुबलि देने की आम प्रथा है और मदिरा का खुलकर सेवन किया जाता है। जंगली जड़ी-बूटियों का भी इन लोगों को अच्छा ज्ञान रहता है। शिक्षा के अभाव के कारण ये लोग नवीन सभ्यता से बिलकुल दूर हैं; परन्तु इनकी एक अपनी सभ्यता है। शिष्टाचार आदि के लिए इनके अपने विशिष्ट नियम हैं, जिनका बड़ी कठोरता से पालन किया जाता है। वृद्धों का विशेषरूप से आदर किया जाता है और कितने ही स्थानों पर पंडित का कार्य भी वृद्धजन ही करते हैं। कुछ दिनों से ईसाई मिशनरियों द्वारा खोले गये स्कूलों के कारण शिक्षा का प्रचार भी हो चला है और कुछ भीलों ने ईसाई धर्म को भी अपना लिया है। कृषि मुख्य व्यवसाय बनता जा रहा है।

प्रायः अधिकांश पहाड़ी जातियों के गोत्र समीपवर्ती गिरि, नदियों, लताओं आदि पर मिलते हैं। यह बात भीलों के संबंध में भी ठीक है। इनके भी सैकड़ों गोत्र हैं जिनका नाम प्रायः इसी प्रकार पड़ा है। कुछ अन्य जातियों के मिश्रण से वर्णसंकर भी मिलते हैं। राजपूत और भीलों के संयोग से जो जाति बनी—वह अपने को राजपूत कहने लगी। मुसलमानों के संपर्क से जो वर्णसंकर जाति बनी वह 'टहवी' कहलाती है। इन लोगों का कहना है कि हम औरंगजेब के काल में मुसलमान बने थे। क्रिस्तान तो सभी पहाड़ी जातियों में दिखायी पडते हैं। भीलों के कुछ गोत्रों के नाम यह हैं—जामुनिया, रोहनिया, अँखलिया, मेहदा, घट्टिया, मावली, पँवरिया इत्यादि।

भील जाति में प्रधानतः शुद्ध अथवा अशुद्ध दो कबीले होते हैं। इन दोनों कबीलों का आपस में वैवाहिक संबंध नहीं होता।

इन दो कबीलों के अतिरिक्त भीलों में एक तीसरा कबीला भी होता है, जिसका प्रमुख कार्य गाना-बजाना ही होता है और जो इनसे नीचा समझा जाता है। यद्यपि उपर्युक्त दो कबीलों में जाति-भेद की दीवारें उतनी दृढ़ नहीं रही हैं परन्तु फिर भी शुद्ध कबीले वाले इस नियम का कठोरता से पालन करते हैं। वे लोग एक बार अशुद्ध कबीले की लड़की तो ले लेते हैं परन्तु अशुद्ध कबीले में लड़की देते नहीं। परन्तु इधर कुछ दिनों से भीलों में भी इस जाति-भेद के विरुद्ध विरोध की भावना प्रबल होती जा रही है। सभ्यता तथा शिक्षा के नवीन प्रकाश में तरुण

भील समाज इस बन्धन से मुक्त होना चाहता है। परन्तु रूढ़ियां तथा अंधविश्वास बड़ी कठिनाई से ही दूर होते हैं और विशेषकर ऐसे समाज में जहाँ शिक्षा तथा नवीन सभ्यता का नितान्त अभाव हो। सारी भील जाति को इस प्रथा का उन्मूलन करने में वर्षों लग जायेंगे। इसके साथ ही मार्ग में एक बड़ी कठिनाई यह है कि समस्त भील जाति दूर-दूर एक विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई है और उसकी अपनी कोई केन्द्रीय संस्था अथवा संगठन नहीं है। इन्हीं कारणों से भील समाज के उद्धारकों का कार्य कोई सरल नहीं है।

प्रत्येक भील कबीले के भीतर भी कई-कई वर्ग होते हैं। भीलों में समगोत्र विवाह बिलकुल नहीं किया जाता। एक वर्ग के सदस्यों में पारस्परिक विवाह बिलकुल वर्जित हैं। इसके अतिरिक्त ग्रामीण तथा नागरिक भीलों का भी भेद है। ग्रामीण भीलों की दृष्टि में नागरिक भीलों का नैतिक धरातल कुछ नीचा हो जाता है। उनका कहना है कि नगर में रहने वाली भीलनियों के चरित्र पर भरोसा नहीं किया जा सकता। नगर की तड़क-भड़क तथा फैशन इसका कारण बताया जाता है। जाति के बड़े-बड़े लोग ऐसे विवाहों को विशेष रूप से पसन्द नहीं करते। उन्हें 'फेशनेबल बहू' पसन्द नहीं। इस कारण नगर में बसने वाले भीलों का अलग ही एक सम्प्रदाय बन गया है जो वैवाहिक संबंध आपस में ही करता है। परन्तु इस नियम का कड़ाई के साथ पालन नहीं किया जाता। प्रायः देखा गया है कि ग्रामीण लड़कियाँ नगर की तड़क-भड़क तथा फैशन से प्रभावित होकर नगर में रहने वाले भीलों से विवाह कर लेती हैं।

समस्त भील जाति में प्रौढ़ विवाह की प्रथा प्रचलित है। प्रायः २० वर्ष के पुरुष तथा १५ वर्ष की स्त्री का विवाह किया जाता है। इसका अपवाद बहुत कम ही देखने में आता है। बाल-विवाह एक ठाट की बात समझी जाती है। गाँव का मुखिया अथवा सम्पन्न घरों में ही कहीं-कहीं बाल-विवाह होते दिखायी पड़ते हैं। बाल-विवाह में वर-वधू एक दूसरे को वस्त्र तथा मिष्टान्न का उपहार देते हैं और उपस्थित व्यक्तियों में गुड़ अथवा मदिरा बाँट दी जाती है। इस प्रकार बाल-विवाह सम्पन्न हो जाता है।

भील लोग विवाह से पूर्व स्त्री-पुरुष के प्रेम को बड़ी नीची दृष्टि से देखते हैं और समाज में ऐसे व्यक्तियों की कटु आलोचना की जाती है। यदि विवाह से पूर्व किन्हीं दो व्यक्तियों के ऐसे संबंध बहुत घनिष्ट हो जाते हैं और लोगों को इसका पता चल जाता है तो पंच लोग उस स्त्री को उस पुरुष की पत्नी घोषित कर देते हैं। यदि ऐसे प्रणय के परिणामस्वरूप कोई संतान उत्पन्न हो जाती है तो उस संतान के लालन-पालन का भार उसके पिता के सिर होता है और स्त्री दूसरे पुरुष के साथ विवाह-सूत्र में बँध सकती है। भीलों में कहीं लड़के-लड़की स्वयं और कहीं उनके माता-पिता संबंध ठीक करते हैं।

भीलों में लड़के का पिता लड़की की सगाई करता है। विवाह तय करने के लिए लड़के का पिता लड़की वाले के घर जाता है; जहाँ उस ग्राम के पंच वधू-शुल्क का निर्णय करते हैं, जो साधारणतः ५० रुपये के लगभग होता है। कन्या का पिता वर के पिता द्वारा लाये हुए मद्य-पात्रों को ढँक देता है और कन्या का भाई आकर उन पात्रों को उलट देता है। इस अवसर पर कन्या का पिता एक भैंसा अथवा बकरा मार कर खिलाता है और नाच-गाना करवाता है। इसको ये लोग 'सगरी' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है वाग्दान। यदि 'सगरी' के उपरान्त कोई भील लड़की को भगाकर ले जाता है तो एकदम द्वन्द्व-युद्ध छिड़ जाता है, जिसमें लोगों को जान से भी हाथ धोने पड़ जाते हैं।

सिगरी के उपरान्त वर पक्ष से वधू के लिए आभूषण-वस्त्र इत्यादि भेजे जाते हैं। लड़की उनको धारण करके ग्राम की पंचायत के सामने आती है। इस समय पंचायत लगन-तिथि निश्चित करती है और लड़की वाला वधू-शुल्क लेता है। विवाह के लिए माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ और अगहन मास तथा सोमवार, बुधवार और शुक्रवार दिन शुभ समझे जाते हैं।

लगन-तिथि पर बड़े ठाठ से बरात सजाकर लड़की वाले के गाँव ले जायी जाती है। लड़की वाला ग्राम के बाहर ही बरात का स्वागत करता है। कन्या का पिता दामाद का तिलक करके जनवासे में ले जाता है। ऐसे अवसरों पर वर-वधू को भूमि पर पैर नहीं रखने दिया जाता। सन्ध्या को बरात सजाकर वर मंडप में आता है और अपने शस्त्र से मंडप में एक छिद्र कर देता है। उस समय एक बकरे का बलिदान आवश्यक होता है। वर-वधू मंडप में गड़े स्तम्भ की सात बार परिक्रमा करते हैं। इसके बाद २-३ दिन बाद बरात लौट जाती है। गरीबों के यहाँ वृद्ध स्त्रियाँ अथवा गाँव का मुखिया ही पंडित का कार्य करता है।

भीलों के विवाह में कई बड़ी अद्भुत रस्में होती हैं। इनमें एक रस्म 'बाना बैठना' की है। शुभ दिन देखकर वर-वधू के अपने-अपने घरों पर तेल और हल्दी का उबटन लगाया जाता है और कंधे पर बैठा कर सारे गाँव में फिराया जाता है। उस रस्म में वर-वधू के लिये भूमि-स्पर्श वर्जित है। इसके साथ ही दोनों के लिये चुप रहना भी नितांत आवश्यक है। दूसरे लोग हँसी-मजाक भी करते रहें परन्तु उन्हें अपने ऊपर नियंत्रण रखना पड़ता है। इस अवसर पर सब संबंधी आते हैं और अपने साथ वर-वधू के लिये उपहार लाते हैं। सब इष्ट-मित्र तथा संबंधी वर अथवा वधू को अपने-अपने कंधों पर बिठा कर दिन-रात घुमाते हैं और उनके पीछे-पीछे अन्य संबंधियों की भीड़ गाती तथा हँसी-मजाक करती चलती है। वर-वधू को जब किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ती है तो वे अपने भाई अथवा बहिन को इशारे

से बुला कर उसके कान में कह देते हैं। यह उत्सव करीब सप्ताह भर चलता है जिसमें सब संबंधी आकर मिल लेते हैं और उपहारों का ढेर लग जाता है।

इन लोगों में विधवा-विवाह की प्रथा भी है, जिसे ये लोग 'नातरा' कहते हैं। नातरा में पुरुष को ४०-५० रुपये खर्च करने पड़ते हैं। देवर प्रायः भावज को स्त्री बनाने का अधिकारी समझा जाता है।

इन सभी उत्सवों में संगीत एक प्रमुख स्थान रखता है। ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त भील जीवन ही संगीतमय है। विवाह आदि अवसरों पर सम्मिलित नृत्य-गान का आयोजन एक आवश्यक वस्तु है।

भील लोग अधिकांशतः जंगलों में ही रहते हैं। आपसी झगड़ों के निपटाने तथा अन्य बातों के लिये पंचायत का निर्णय ही सर्वमान्य होता है। विवाह इत्यादि में वधू-शुल्क, लगन-तिथि आदि का निर्णय भी पंचायत ही करती है। पंचायत अपराधियों को दंड भी देती है। प्रायः पंचों को मद्य-मांस का भोज देना आवश्यक समझा जाता है। वास्तव में भीलों के जीवन में पंचायत का वही स्थान है, जो हमारे जीवन में पुलिस तथा पुरोहित का है।

भीलों में स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा अधिक परोपकारिणी तथा दयालु होती हैं। स्त्री घर का समस्त प्रबन्ध करती है। बच्चों को पालना, घर लीपना, रोटी बनाना, पानी भरना सब काम उसी के जिम्मे होते हैं। फसल के अवसरों पर फसल काटने में वे पुरुषों की सहायता करती हैं। संभ्रान्त कुल की स्त्रियां घुटनों तक पीतल अथवा चांदी के कड़े पहनती हैं। भीलों की स्त्रियां भी संगीत की बड़ी प्रेमी होती हैं। गाँव की स्त्रियाँ जब एक साथ पानी भरने जाती हैं तो उनका सम्मिलित गान बड़ा अच्छा लगता है। गाने के साथ पैरों के कड़ों की झंकार ताल का कार्य करके वातावरण को गुंजा देती है।

भीलों में धनिक लोग मुर्दों को जलाते हैं परन्तु पहाड़ी भील मुर्दे को गाड़ते हैं। शव का मस्तक दक्षिण दिशा की ओर रखा जाता है, पास ही प्रेत के लिए दही और चीनी मिलाकर भोजन रखा जाता है। उस दिन घर में चूल्हा नहीं जलाया जाता, गाँव के प्रत्येक घर से एक-एक रोटी आती है। बारहवें दिन ओझा घर आकर सब कर्म कराता है जिसे 'कार' कहते हैं। दो भील पलाश की लकड़ी से खंजड़ी बजाते हैं, जिसके प्रभाव से मृतात्मा ओझा के शरीर में प्रवेश कर जाती है। इन समय वह जो भोजन मांगता है, घर वाले उसे पूरा करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। शाम को भीलों के योगी आते हैं जो मंत्रों से पितरों को तृप्त करते हैं। घरवाला इनको कुछ देकर विदा कर देता है और फिर जातीय भोज होता है। यदि मृतक वृद्ध होता है तो रात भर गाना-बजाना भी होता है।

इधर कुछ दिनों से देश के उद्धारकों का ध्यान भीलों की ओर भी गया है। श्री ठक्कर बापा के प्रयत्नों से एक 'भील-सेवक-मंडल' भी स्थापित हो गया है जो इस दिशा में अच्छा कार्य कर रहा है। इस मंडल के प्रयत्नों से ही भीलों में शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है और मद्य-मांस के निषेध का प्रचार हो रहा है। देश को इस ओर ध्यान देना चाहिये ताकि भील लोग भी स्वतन्त्र भारत के स्वस्थ नागरिक बनकर देश की उन्नति में हाथ बटायँ।

('आजकल' से)

विनोबा भावे

स्वतंत्रता और संकल्प

अब स्वराज्य मिला है। याने क्या हुआ है? जिम्मेवारी हम पर आई है। आज तक कर्तृत्व हमारी ओर था ही नहीं। अब वह आया है। स्वातंत्र्य मिला है, याने कुछ करने की सत्ता आई है। आज तक हम परतंत्र थे, इसलिये हमारे लिये धर्म ही नहीं था। अब हमें धर्म-लाभ हुआ है। जब शक्ति आई 'तब उसी क्षण काम खत्म हुआ' कह कर हाथ-पांव अगर ढीले पड़ जायं तो काम कैसे चले?

इस समय हिन्दुस्तान के गरीब लोगों में जाकर घुल-मिल जाने की जरूरत है। उन्हें कहने की जरूरत है कि आज तक अनेक कारणों से तुम-हम एक नहीं हो सके थे। अंग्रेजों ने हमें प्रलोभन तो अनेक दिये ही थे, लेकिन शिक्षण भी ऐसा दिया था कि आप की भाषा भी हम नहीं बोल सकते थे। वह वियोग अब खत्म हुआ। आइये, अब हम एक साथ काम करें और उसके लिये जो कुछ त्याग करना हो, वह भी करें। जनता-जनार्दन की सेवा में लग जायं।

गीता में एक जगह योगी के देह-त्याग का वर्णन आया है। देह-त्याग के समय योगी अन्धकार को भेद कर उदीयमान सूर्य-नारायण का ध्यान करता है। योगी की दृष्टि से देह-त्याग की बेला याने उदय की बेला होती है। हमारे देश की भी आज वैसी ही हालत है। पुरानी जीर्ण समाज-व्यवस्था त्याग देनी है। नवीन रचना का उदय होना है। ऐसी यह संधिकाल की बेला है। इस समय जो गाफिल रहेंगे, वे पाया हुआ खो बैठेंगे और गहरे अंधेरे में प्रवेश करेंगे। इसलिये लोगों को चाहिये कि वे शीघ्र ही जाग्रत हो जायं। नये कार्यकर्त्ताओं को चाहिये कि वे आगे आवें, पुरानों को चाहिये कि वे उन्हें जगह दें।

—('कस्तूरबा-दर्शन' से)

★

"···मैं मानता हूँ कि मैं परिस्थिति के अधीन हूँ—देश और काल के अधीन हूँ। फिर भी परमेश्वर ने कुछ स्वतन्त्रता मुझे दे रखी है और मैं उसकी रक्षा कर रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि धर्म और अधर्म को जानकर उनमें से मुझे जो पसन्द हो उसे ग्रहण करने की स्वतन्त्रता मुझे है। मुझे यह कभी प्रतीत न हुआ कि मुझे स्वतन्त्रता नहीं है। परन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि किसी कार्य के करने की स्वतन्त्रता अपना रूप बदलकर कर्तव्य कहाँ बन जाती है। अवशता और परवशता की सीमा बहुत ही सूक्ष्म है।"

—महात्मा गांधी

आभा गांधी

बापा के साथ नोआखली में

ठक्कर बापा का नाम तो मैंने वर्षों से सुना था। बापूजी से वे मिलने आते थे, इसलिए वर्षों से उन्हें पहचानती थी। उनकी सेवानिष्ठा, दीनों की सेवा के लिए हृदय की तड़पन, दीनों की खराब हालत देखकर द्रवित होता हुआ उनका हृदय, उनकी निरभिमानिता आदि के बारे में बापूजी ने कई बार उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी। यह सब सुनकर उनके प्रति मेरे दिल में शुरू से ही आदर रहा था। पर यह तो मुझे कबूल करना चाहिये कि बापूजी से इतना सुनने पर भी मुझे बापा की महानता का पूरा खयाल नहीं आया था।

उनकी महानता का कुछ ज्यादा परिचय और खयाल तो उनके साथ नोआखली में सवा महीने रहने का मौका मिला, तभी आया। 'कुछ' इसलिए कि उनका जीवन इतना बड़ा है कि उसका पूरा परिचय होना मेरे लिए भले असंभव न हो, पर कठिन तो जरूर है।

१९४६ के नोआखली (पूर्व बंगाल) के दंगे के बाद बापूजी वहां गये थे। बापा भी साथ आये थे। बापूजी के छः साथियों में से मैं भी एक थी। हम ६ नवम्बर, १९४६ को वहां पहुंचे। आठ दिनों में बापू ने कई देहातों को देखा। जले हुए, टूटे हुए घर देखकर, अत्याचारों की कहानी सुनकर बापूजी का हृदय द्रवित हुआ। चारों ओर असत्यता दिखाई दी, सत्य की खोज करना ही मुश्किल दिखाई पड़ा।

ता० १६ को बापू को नया विचार आया और सुबह की प्रार्थना के बाद उन्होंने हम सबसे कहा कि हम सब शान्ति-कार्य के लिए अलग-अलग गांवों में बैठ जायं, और वहां हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए आपस में स्नेह बढ़ाने की कोशिश करें।

इसी योजना के अनुसार सबसे पहले बापूजी २० नवम्बर को श्रीरामपुर चले गये। बापा बापू के जाने के बाद एक घण्टे में वहां से निकले और २५ मील दूर के एक देहात में गये। वे तो दीनों का, अछूतों का सबसे पहले खयाल करते। इसलिए वहां से २५ मील दूर के देहात में, जहां हरिजन लोग रहते थे और जहां दंगे में जुल्म हुआ था, गये। बापू की मंडली में मैं सबसे छोटी थी। कुछ अनुभव वगैरह लेने की दृष्टि से मुझे बापा के साथ भेजा गया।

उस समय बापा की उमर ७७ साल की थी, लेकिन वे इतना काम करते थे कि उनकी कार्यशक्ति और स्फूर्ति देखकर हमें आश्चर्य होता था, हम शरमाते थे।

इतने वृद्ध होते हुए भी कोई उनके लिए खास इन्तजाम करे या खास खाना बनावे, तो वे दुःखी होते थे और कहते थे, "और साथियों को जो न मिले वह मुझे नहीं चाहिये।"

नोआखलीमें कुओं का रिवाज नहीं है। दो-तीन घरों के बीच एक छोटा-सा तालाब रहता है। लोग उसी में स्नान करते हैं, कपड़े धोते हैं और बरतन साफ करते हैं। ज्यादातर लोग वही पानी पीते हैं। वहां स्नान-घर जैसा कुछ नहीं रहता।

नवम्बर का महीना था। ठंड शुरू हो गई थी। बापा को खुले में और ठंडे पानी से सुबह ६॥–७ बजे नहाने की आदत नहीं थी, यह मैं जानती थी। मैंने साथियों से यह कहा। जब बापा स्नान करने गये, तब हमने कहा, "बापा, खुले में ठंडे पानी से स्नान न करें। आपके लिए हम पत्तों से स्नान-घर बना देते है और गरम पानी कर देते हैं।" लेकिन बापा थोड़े ही माननेवाले थे। उन्होंने तुरन्त कहा, "जरूरत नहीं है। मुझे कुछ नहीं चाहिये। और लोगों को स्नान-घर कहां मिलता है?"

हमने कहा, "आप तो वृद्ध हो गये हैं, इसलिए व्यवस्था करना जरूरी है।"

"हां, वृद्ध तो हो गया हूं, लेकिन मुझसे भी अधिक यहां के वृद्ध ऐसे ही तो स्नान करते हैं न? मैं उनकी-जैसी आदत कर लूंगा।" यह कहकर उन्होंने हमारा मुंह बन्द कर दिया।

वैसे ही खाने के बारे में हुआ। सब लोगों को सुबह के नाश्ते में मुरमुरा, नारियल और गुड़ मिलता था। पूज्य बापा के लिए कुछ अलग नाश्ता बनाकर दिया तो उन्होंने 'ना' कहा और सबके साथ मुरमुरा, नारियल, गुड़ आदि खाने लगे। इस तरह रोज जो मिलता था, वही वे नाश्ते में खाते थे!

नोआखली में गेहूं ज्यादा नहीं मिलते थे। वहां के लोग तो चावल के आदी हैं। बापा के लिए गेहूं की चपातियां तैयार कीं। उन्होंने पहले तो लेने से इनकार किया, लेकिन बाद में अपने छः-सात कार्यकर्ताओं को एक-एक बांटकर ले ली। मुझसे कहा, "मुझे अकेले को रोटी क्यों? मैं भी चावल खाकर पेट भरना सीख लूंगा।"

मैंने कहा, "बापा आदत डालने में देर लगेगी। यदि आप बीमार पड़ेंगे तो काम रुक जायगा। हमारे पास कुछ गेहूं हैं तो आपके लिए बनाने में क्या हर्ज है?"

बापा ने कहा, "मैं यहां काम करने आया हूं; मैं भी कार्यकर्त्ता हूं। जहां तक मेरा शरीर अच्छा है, वहां तक मुझे कार्यकर्त्ताओं जैसी खुराक लेनी चाहिये। आदत डालना कठिन नहीं है; देर भी क्या लगेगी?"

मैंने कुछ और दलीलें कीं। आखिर उन्होंने कबूल करते हुए कहा, "अच्छा, मुझे रोटी खिलाने की तेरी इच्छा ही है तो खाऊंगा, लेकिन एक शर्त है कि साथियों को भी रोटी खिलानी होगी। क्यों, सबके लिए बनाने की तैयारी है न?"

बापा रोटी खाकर स्वास्थ्य अच्छा रखें, तो किसको आनन्द न हो? मैंने फौरन कबूल कर लिया।

इस तरह बापा अपने साथियों का खूब ख्याल रखते थे। साथियोंको भूलकर उन्होंने अपने लिए कभी अधिक सुविधा ली हो, ऐसा मुझे याद नहीं आता। उनके

स्वभाव में ही यह नहीं था, ऐसा कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आंखों के सिवाय उनका सारा शरीर सशक्त कहा जा सकता था। हिम्मत तो थी ही, बापा सख्त भी थे।

जिन मुस्लिम भाइयों ने नोआखली में अत्याचार किया था और जो दोषी थे, उनको वे काफी डांटते थे और इतना डाटते थे कि उनकी डांट सुनकर गुनाहगार उनके पास दुबारा आने की हिम्मत नहीं करते थे। परन्तु वही बापा अच्छे मुसलमान भाइयों पर बहुत ही प्रेम रखते थे।

एक दिन मैयाचर से हैमचर ६ मील पैदल गये। रास्ता खराब था। रास्ते में कई लोगों से देहात के बारे में, अत्याचार के बारे में, एक-एक चीज पूछते थे। दोपहर के ढाई बजे वहां प्रार्थना की, प्रवचन किया। उसके बाद फौरन वापस आये और हैमचर में फिर से ५॥ बजे प्रार्थना और प्रवचन किया।

मुझे याद है कि इतनी धूप में इतना चलकर आने के बाद भी उनकी स्फूर्ति देखकर हमारे दूसरे साथी कार्यकर्ताओं को आश्चर्य हुआ था।

९०-९५ साल का बूढ़ा दूर के गांव से दोपहर की कड़ी धूप में आ रहा था। बांस का एक छोटा पुल पार करके आया। थोड़ी देर खड़ा रहा। उसके चेहरे पर थकान सी लगती थी। इतनी धूप में कष्ट सहते नंगे पैर चलकर आने से उसका मुंह लाल हो गया था। वह गरीब था। वह स्वभाव का भी गरीब था; यह देखकर बापा को आनन्द हुआ और दया भी आई। उन्होंने तुरन्त पांच रुपये उसके हाथ में रख दिये। खुश होकर वह बूढ़ा उपकार मानने लगा।

पूज्य बापा की कार्य-पद्धति प्रशंसनीय थी। वे हर कामको व्यवस्थित रूप से करते थे और रोजाना उसकी नोंध रखते थे।

दूसरों से भी काम कराने की तरकीब वे जानते थे। रात को सोते समय सब तय कर लेते थे कि सुबह किसे कहां भेजना है। बाद में नाश्ता होने पर हरएक को काम सुपुर्द कर दिया करते थे। "जाओ, तुम दोनों वहां जाओ, यह सब काम करके आना।" दूसरे से कहते, "अच्छा तुम अकेले जाओ और इतना काम करके जवाब लेकर ही आना।" तब तीसरे की ओर देखकर कहते, "अब तुम्हारी बारी। तुम जाओ और इतनी जानकारी इकट्ठी करके लाओ।" इस तरह तेजी से सबको काम सौंप देते थे और काम पूरा करके आने पर पूरी जानकारी मांगते थे। यदि उसमें कुछ कमी रहती, तो कभी समझाते थे, कभी डांटते थे, और कभी वापस वही काम करने को भेजते थे।

इस तरह के काफी मीठे संस्मरण हैं। उनकी कार्य शक्ति, सेवा-भाव, त्याग, दया वगैरह के बारे में लोग पूरी तरह परिचित हैं।

'हरिजन सेवक' से)

★

गोपीकृष्ण मेहता

खुजली से पिंड छूटा

लोग अपनी चिकित्सा तब आरंभ करते हैं जब औरोंको बीमार दिखाई देने लगते हैं, पर मैंने अपनी चिकित्सा तब शुरू कराई जब अस्वस्थ होते हुए भी लोगोंको मैं स्वस्थ दिखाई देता था। मुझे शिकायत थी, या कहूं शिकायतें थीं, पेट में वायु की अधिकता, कब्ज, नींद ठीक न आना, दांतोंसे खून और मवाद आना, बालोंका तेजी से झरना और आंखों की रोशनी में कमी। इन रोगों की अलग-अलग चिकित्सा मैं बहुत दिनोंसे अनेक डाक्टरोंसे कराता आ रहा था, पर किसी एकमें भी कुछ फायदा नहीं हो रहा था। इसी समय एक दोस्तने बताया कि प्राकृतिक चिकित्सा ऐसा तरीका है कि आपके सब रोग एक साथ जा सकते हैं। यही नहीं उन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा-संबंधी कुछ साहित्य भी मुझको दिया। उसके आधारपर मैं अपनी चिकित्सा आप करने लगा। पर चिकित्सा में गलतियों की भरमार करता रहा। जैसे, चीनी खाना तो छोड़ा, पर गुड़ के पीछे चींटे की तरह लग गया; लाल मिर्चें खानी बंद की तो प्याजकी हद न रखी; नमक बंद करके रोज दर्जन भर नींबू चूसने लगा। फिर भी कुछ लाभ प्रतीत हुआ, पेट साफ होने लगा, नींद अच्छी आने लगी। पर मुझे जोरों से खुजली हो गई।

अपनी गलत आदतों से, पुराने रोगों से और इस नई बीमारी से छुटकारा पानेको किसी प्राकृतिक चिकित्सा के जानकार की शरण में जाने की सोची। मुझे गोरखपुर जाने की सलाह मिली। मैं वहां दौड़ा गया। खाज के मारे तीन दिन से नींद न आई थी, किसी करवट बैठा या लेटा न जाता था, बेचैन हो रहा था। वहाँ पहुँचते ही मेरे रोगों का इतिहास सुन लेने के बाद दो बार एनिमा देकर मेरा पेट साफ कराया गया, तमाम काला-काला मल निकला, मेरी परेशानी कुछ दूर हुई। फिर एक भाप-नहान दिया और उससे पसीने-पसीने हो जाने पर फुहारे के नीचे बैठाकर पन्द्रह मिनट तक स्नान कराया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि शरीर पर खुजली के दाने बने रहने पर भी खाज का कष्ट चला गया। यहां मैं आपको यह बता दूं कि पहले सात दिन की चिकित्सा में मेरे खुजली के दाने दूने हो गये, सारी अंगुलियों पर बड़े-बड़े मवाद से भरे हुए दाने उभरे हुए थे जिन्हें देखकर देखने वाले की तबियत घबड़ा जाती थी। इसी तरह पुट्ठे वगैरह स्थानों पर भी दाने थे, पर उनमें कभी इतनी खाज न हुई जो असह्य हो और उसकी वजहसे नींद न आवे। यह वहां मिलनेवाली चिकित्सा का

प्रताप था और खाज के बढ़नेसे मैं इसलिए नहीं घबराया कि मैं प्राकृतिक चिकित्सा संबंधी पुस्तकों में पढ़ चुका था कि रोग के बढ़ने को उभार कहते हैं और अगर उभार आ जाय तो रोग जल्द जाता है और डाक्टर साहब भी तो थे जो हमेशा सांत्वना देते थे और मेरे रोगके शीघ्र जानेकी पूरी आशा बंधा रहे थे।

चिकित्सामें मुझे सबेरे-शाम पांच-पांच मिनटका कटि-स्नान कराया जाता था। दिनके दस बजे सारे बदनको गीला बंधन मिलता या सारे शरीरपर मिट्टी लगाकर धूप में बैठाया जाता और मिट्टी सूखनेके बाद स्नान कराया जाया। भोजनमें मुझे चोकर-समेत आटेकी रोटी मिलती और बिना नमककी हरी तरकारियां। दोपहर और शामको तथा सुबह नाश्तेमें अमरूद मिलते।

यहां भी मेरी अधिक खानेकी प्रवृत्ति गई नहीं थी, पर तीस-पैंतीस मरीजोंके साथ खाने बैठकर अपनी यह आदत चलाते मुझे शर्म आती और यह भी समझमें आया कि इस आदतको कायम रखनेसे मुझे यहां बहुत अधिक दिन रहना पड़ेगा।

दस दिन बीतते-बीतते मेरी खुजली कम होने लगी और अगले तीन सप्ताहमें बिल्कुल चली गई।

चिकित्सालयमें दाखिलेके समय मेरा वजन ८७ पौंड था, एक महीनेकी चिकित्साके बाद ९३ पौंड हो गया था। चलते वक्त डाक्टरने बता दिया था कि जाड़ेके मौसममें इस वक्त गाजर अधिक आ रहा है, तुम अधिकतर गाजर और रोटी खाना। इससे वजन भी बढ़ेगा और त्वचा सुन्दर हो जायगी। मैंने वैसा ही किया और अगले एक महीनेमें वजन ११० पौंड हो गया था।

अब मैं गंगाशहर (बीकानेर) चला गया। वहां तरबूज खूब थे, वहां बाजरेकी रोटी और तरबूज खाने लगा और मेरा वजन दो हफ्तेमें ११६ पौंड हो गया जो अब भी स्थिर है।

मैंने आपको यह बताया ही नहीं कि मेरे अन्य रोगोंका क्या हुआ। मैं खुजलीकी तकलीफमें सारी तकलीफोंको भूल गया था, पर खुजलीके साथ-साथ वे सभी रोग चले गये। दांत बिलकुल ठीक हो गये, वायु समाप्त हो गई, नींद तो शुरूसे ही आने लगी थी। बाल गिरने बंद हो गए, कुछ नये भी आये। इसके अलावा चेहरेपर चमक और शरीरमें शक्ति इतनी अधिक आई कि जिसकी मैंने आशा नहीं की थी। मैं पैंतालीस वर्षकी उम्र में बुढ़ापे का अनुभव करने लगा था कि इस चिकित्साने मुझे उस अंधेरे गड्ढेसे निकालकर जवानीके प्रकाशपूर्ण राजमार्गपर ला खड़ा किया।

मुझे स्वप्नदोष बहुत होता था जिसका मैंने आरंभमें जिक्र नहीं किया था क्योंकि मैं इसे जानेवाले रोगोंमें मानता ही न था, पर वह भी चला गया और आज चिकित्सा कराये आठ महीने हो गये तबसे कभी न हुआ।

इस चिकित्सासे मैंने तो लाभ उठाया ही पर मेरी चिकित्सामें मुझे जो अनुभव हो गया था उससे बहुतोंने लाभ उठाया। घरवालोंने और पास-पड़ोसके लोगोंने। अनेक तो ऐसे थे जिनसे डाक्टर-वैद्य हार मान चुके थे पर ताज्जुब है कि वे मेरे-जैसे प्राकृतिक चिकित्साके थोड़े-से जानकारसे भी लाभान्वित हुए।

यह प्राकृतिक चिकित्साकी महिमा है।

★

अमेज़न के किनारे

संसार की सबसे लम्बी नदी अमेरिका में बहती है। उसका नाम है अमेजन। उत्तरी अमेरिका से निकली हुई यह नदी दक्षिण अमेरिका में भी बहती है। उस ओर घने जंगल हैं, दुर्गम पहाड़ियाँ हैं और वहाँ यूरप से भी ज्यादा जमीन यों ही जंगलों से भरी पड़ी है। उस ओर वहाँ की प्राचीन-काल की आदिम जातियाँ बसती हैं। यद्यपि ये जातियाँ वहाँ के रेड इंडियनों से भिन्न हैं, लेकिन अमेरिका में सभी आदिम जातियों को 'इंडियन' के नाम से पुकारा जाता है और इसीलिये अमेरिका-निवासी इन्हें भी इंडियन ही कहते हैं। उधर जाना ही मुश्किल है। अगर गये भी तो जान का खतरा सामने आ गया। दुर्गम रास्ते, चट्टान और पर्वत और खाइयाँ। पग-पग पर भूख और प्यास का सामना। रोग वहाँ आते हैं तो जाते नहीं और अगर जाते भी हैं तो जान को साथ लेकर ही जाते हैं। रोग वहाँ अनेकों हैं और दवा एक भी नहीं मिलती। ऊपर से वहाँ के आदिम जातियों के आक्रमण। उनके विष-बुझे वाण सर्र-सर्र हवा में सर्राटा मारने लगते हैं। ये वाण तेज जहर से बुझे हुए होते हैं; ऐसे, कि अगर उनसे जरा खरोंच भी लग जाय तो फिर बचना असम्भव हो जाता है।

बड़े-बड़े पर्यटक, बड़े-बड़े बहादुर उधर जाने का साहस नहीं करते। वहाँ का नाम सुनते ही साहसियों के शरीर से पसीना छूटने लगता है। अमेरिका में उस इलाके को 'हृदयहीन देश' कहा जाता है। वहाँ की पूरी बातें लोगों को मालूम नहीं। रहस्य से आवृत उस देश के बारे में "डेविल ब्रदर" नामक एक पुस्तक से कुछ प्रकाश मिलता है। एक आश्चर्य की बात तो यह है कि वह किताब एक सत्रह साल के अधकचरे लड़के की लिखी हुई है। वह एक जर्मन था। उसने एक पर्यटक पार्टी के साथ अमेजन के उस "हृदयहीन देश" की यात्रा की थी। उसका नाम था वाल्टर बैरोन।

उस किताब से वहाँ की यात्रा की कठिनाइयों का पता मिलता है—किस प्रकार उनलोगों ने भूख और प्यास का सामना किया, आपदाएँ झेलीं, रोग के चंगुल में पड़े और वहाँ की आदिम जातियों के पंजे में फँसे। एक बार तो उनका कैम्प ही जलाकर बरबाद किया गया था। दूसरी बार उसके बहुत से साथी पकड़ लिये गये थे।

वाल्टर बैरोन लिखता है कि एक बार उसका एक साथी उन जंगली आदिम जातियों के द्वारा पकड़ लिया गया और वे

लोग उसके सामने ही उसे काट-कूट कर और भून कर खा गये।

वहाँ भाँति-भाति के रोग हैं, सैकड़ों प्रकार के सर्प हैं। रोग से बचे तो साँप के चंगुल में पड़े और साँप से बचे तो भी इन जंगली जातियों से बचना कदापि सम्भव नहीं। रोग भी होते हैं तो ऐसे-वैसे नहीं। अजीब देश और अजीब रोग। जो हो, जैसे-तैसे करके वाल्टर बैरोन की पार्टी उस घोर अरण्य में भी एक प्राचीनकाल के टूटे-फूटे ध्वस्त नगर के पास पहुँच गई। हे भगवान, इस घोर जंगल में भी किसी समय मनोरम नगर रहा होगा। वहाँ वाटिकाएँ होंगी, देव-मन्दिर होंगे। उपासना, अर्चना, नृत्य-गीत और कला-कौशल होंगे। सबसे बड़ी बात कि वहाँ संस्कृति होगी। मगर आज हजारों वर्षों से वह स्थान वीरान है, वह नगर ध्वस्त खंडहर बना हुआ है। कहते हैं कि यह "इन्का काल" का नगर था। भगवान जाने, अमेरिका के प्राचीन इतिहास में वह "इन्का काल" कौन-सा काल था। और आश्चर्य की बात देखिये। उन खंडहरों में जो रहने के लायक जगह थी वहाँ आज भी आदमी बसे हुए थे। वे वहाँ के जंगली आदिम जाति के लोग थे। वे लोग चार फीट से ऊँचे नहीं थे। उस पर्यटक दल का जो नेता था उसने वहाँ दो आदमियों से बातचीत करने के बाद बतलाया कि ये लोग पकड़े हुए गुलामों के वंशज हैं। इनके मालिक यहीं आसपास कहीं रहते हैं। आश्चर्य की बात तो यह भी थी कि वे लोग सोने के आभूषण पहने हुए थे। उस पर्यटक दल को उनके कुछ आभूषण हाथ लगे भी; मगर दुर्भाग्यवश सभ्य-जगत में न कोई सोने के उन आभूषणों को देख सका और न उन पर्यटकों को ही। वे फिर लौट ही नहीं सके।

चौबीस आदमियों का एक दल उस ओर गया हुआ था उनमें से सिर्फ एक आदमी—डाक्टर हरमैन—ही दस साल के बाद सन् १६३४ में सभ्य जगत में वापस लौट सका। उसके दस सदस्य, जिनमें उस दल के नेता डाक्टर ओटो शुल्ज भी थे, मारे गये।

उस पार्टी में नेता के अलावा बाकी और २३ आदमी थे। उनमें नृतत्त्व विज्ञानी (चेहरे की बनावट से जाति का अध्ययन करनेवाले, एन्थ्रोपोलोजिस्ट), प्रकृति विज्ञानी, उद्भिज विज्ञान जाननेवाले आदि तरह-तरह के विद्वान् लोग थे। वे लोग अमेजन और पुटुमायो नामक नदियों के बीच की जगह से जा रहे थे जहाँ आदमी या आदम-जाद कोई भी नहीं रहता। यह जगह शिकार खेलने के लिये अद्वितीय है। कभी-कभी किसी भूले-भटके और मरे हुए गोरे आदमी का भी पता लग जाता है। भयानक जंगल, दुर्गम पर्वत और घाटियों में सोना, पेट्रोल आदि की खान का पता भी मिलता है। इसके अलावा लाभ की एक बात यह भी है कि इस इलाके में अमेरिका के विभिन्न राज्य, जैसे पेरू, कोलम्बिया,

इक्वेडर आदि, रहने पर भी वे इस जंगल पर दावा नहीं करते। अतएव अगर कुछ खान-वान मिल जाय तो चारों ओर से लाभ ही लाभ था। सो वह दल पेरू राज्य के कुजको नामक स्थान से सन् १६२४ ईस्वी में चला। जब वे लोग स्ताजा नदी के पास से गुजरने लगे तो उस दल के ऊपर वहाँ के जंगली जिबारो ने चढ़ाई की और सबसे पहले ही दल के नेता डा० शुल्ज पकड़ लिए गए। डा० हरमैन हूथ ने अपने साथियों को मारे जाते हुए देखा तो मारे भय के मूर्छित हो गए। मगर बेचारे भाग्यशाली थे जो बच गए। कम से कम अपने दल के नेता शुल्ज से तो वे बहुत ही अधिक भाग्यशाली थे।

जब उन्हें होश हुआ तो उन्होंने देखा कि एक जिबारो युवती उन्हें अपने कलेजे से लगाये हुए है। उस युवती ने उन्हें समझाया कि तुम्हारे लिए अब एक ही रास्ता है और वह है मुझसे ब्याह। अगर जीना है तो मुझसे ब्याह कर लो, वरना तुम भी अपने दल के दोस्तों के पास पहुँच जाओगे। जो उनके साथ हुआ वही तुम्हारे साथ भी होगा। आखिर बेचारे करते तो क्या करते? उन्हें राजी हो जाना पड़ा। जब उस युवती के साथ उनकी शादी हुई तो वह शादी उस औरत को ही बहुत मँहगी पड़ी, क्योंकि उसकी आँखें निकाल ली गईं और उसके सारे दाँत तोड़ दिये गए। ऐसा इसलिए हुआ कि जिबारो लोगों को भय था कि कहीं अगर यह युवती भाग निकली तो बाहरी दुनियावाले देख लेंगे कि जिबारो युवती कितनी सुन्दरी होती है। इसीलिए उसके सारे दाँत तोड़ दिये गए। उसकी आँखें भी इसीलिए फोड़ दी गईं जिसमें वह भाग ही न सके।

डा० हरमैन हूथ वहाँ उनलोगों के बीच बड़ी मुसीबत के साथ पाँच साल तक रहे। वहाँ वे जादूगर समझे जाते थे और दवा देकर रोगियों को चंगा करते थे। इससे वहाँ के जिबारो वैद्य लोग उनसे चिढ़ने और जलने लगे। वे लोग हूथ को सताते थे और उनसे उनके जादू के बारे में पूछा करते थे। उनकी जान खतरे में पड़ गई। आखिर एक दिन मौका पाया तो वे अपनी स्त्री को साथ लेकर भाग निकले। तीन महीने तक तो वे लोग भयानक जंगल में ही भटकते रहे। आखिर एक दिन वे एक ईसाई मिशन के पड़ाव के पास पहुँचे तो उनलोगों की जान बची।

अमेजन नदी के उस किनारे की बहुत-सी बातें अभी तक अज्ञात ही हैं। कहते हैं कि उधर कहीं-कहीं जंगल तो इतना घना है कि सूर्य की किरणें भी धरती पर नहीं उतर पातीं। पानी वहाँ ऐसा बहता है जैसे नल के अन्दर से होकर जा रहा हो। भिन्न-भिन्न रंग और रूप के पेड़ आप वहाँ देखेंगे। वहाँ एक प्रकार का चम्पा का ऐसा फूल होता है जिसकी डालों में सूई की तरह असंख्य काँटे होते हैं। वहाँ की हवा

में चमेली के फूल की सुगन्धि उड़ती रहती है; लेकिन उस चमेली के फूल को अगर छू लो, तो फिर मौत ही आ जाय। वहाँ की रंग-बिरंगी तितलियाँ दर्शनीय हैं। चिड़ियाँ भी वहाँ एक-से-एक अनोखी होती हैं। कीड़े-मकोड़े भी बहुत। उन कीड़ों में कुछ ऐसे जहरीले होते हैं कि एक बार जो काट खायें तो फिर मारे दर्द के आदमी छटपटाता हुआ मर जाय। वहाँ की मछलियाँ भी अद्भुत होती हैं। वहाँ के जंगली आदमियों की अपेक्षा वहाँ की मछलियाँ भी कम खतरनाक नहीं। अगर कोई जानवर नदी पार करता रहे तो उन पर मछली ही आक्रमण कर देती है। उस आक्रमण के द्वारा वह मछली जानवर के शरीर में इतना बड़ा घाव कर डालती है कि खून बहकर ही उस जानवर का प्राणान्त हो जाता है। मगर वहाँ के आदमी भी ऐसे हैं कि तीर-धनुष के द्वारा उन मछलियों का खूब शिकार खेलते हैं।

वहाँ जो जंगली लोग रहते हैं उनकी संख्या ढाई लाख बतलाई जाती है। अमेरिकन लोगों की दृष्टि अब उस इलाके में जम रही है। वहाँ पास ही मैनओस नामक नगर बसा हुआ है। असुविधाओं के कारण ही अमेरिकन लोग उस जंगल में अबतक नहीं घुस पाये थे। मगर अब तो अमेरिका में यही कहा जा रहा है कि रबर आदि अन्य चीजों के लिए अमेजन नदी के तटवर्ती इस देश का विकास होना ही चाहिये।

('आदिवासी' से)

★

प्रकाशक—श्रीमगेन्द्र नारायण सिंह, मंत्री, बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना
मुद्रक—वैशाली प्रेस, पटना—४

ठक्कर बापा स्मारक निधि

अपील

स्वर्गीय ठक्कर बापाने ४० वर्ष से भी ऊपर के लम्बे समय में हरिजनों, आदि-वासियों तथा पिछड़े हुए वर्गों को उन्नत करने में तथा अकाल, बाढ़, भूकम्प और संक्रामक रोगों से पीड़ीत मनुष्यों को बचाने के लिये निष्काम भाव से जो बहुमूल्य सेवाएं की हैं, उनको कौन नहीं जानता ? उनका कार्य मूक तथा ठोस था और मानवता की चौड़ी तथा ठोस नींव पर अटल था। उसके पीछे अधिकार तथा प्रसिद्ध की भावना न थी और न कोई स्वार्थ अथवा निकट राजनीतिक हेतु ही। मानवता और राष्ट्र निर्माण के लिए उनके लम्बे, स्थायी, कठोर तथा प्रामाणिक परिश्रम ने उनको सबका प्रिय बना दिया था, इसमें वे भी आ जाते हैं जिनका उनसे थोड़े ही समय का परिचय था। अतः श्रद्धा के नाते अथवा उस आदर के नाते जो उन्होंने देश के करोड़ों मनुष्यों से प्राप्त किया है, उनके सहयोगियों, साथियों, प्रशंसकों तथा अनुयायियों की जो कुछ वे कर सकते हैं, करने की स्वाभाविक इच्छा है।

बापाका सच्चा स्मारक तो यही है कि कोई भी मनुष्य बापा की ही भावना तथा शैली को लेकर अपने आप उसी कार्य में जुट जाय जो उनकी आत्मा का मूक मंत्र था और देश के करोड़ों प्राणियों की सेवा कर अपने कर्तव्य का पालन करे। तथापि उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम के संकेतस्वरुप कुछ भी योग्य भेंट चढ़ाने का विचार मन से नहीं हटाया जा सकता।

ठक्कर बापा वास्तव में निर्धनों के अपने थे। वह निर्धनों के ही लिए जीते थे। अतः यह स्वाभाविक है कि उनका स्मारक धन से नहीं आँका जा सकता। उसका मापदंड तो देश-बासियों की वह संख्या है जो अपनी सामर्थ्यानुसार प्रेमपूर्वक छोटी या बड़ी धनाराशि की भेंट प्रदान करेंगे। वह कार्य जिसका वह प्रतिनिधित्व करते थे इतना बड़ा है कि कोई भी धनराशि उसको पूरा करने के लिए अपर्याप्त है। परन्तु यह हमारा पूर्ण विश्वास है कि यदि उस कार्य की भावना मनुष्यों के हृदय में बैठ गई है तो धन की कभी भी कमी नहीं हो सकती। इसलिए स्मारक का लक्ष्य उन मनुष्यों की संख्या पर निर्धारित किया गया है जिन्होंने बापा के संदेश को अपने जीवन का ध्येय बना लिया है।

बापा स्मारक निधि का निर्णय, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ की २० मार्च १९५१ की बैठकमें, जो डा० राजेन्द्र प्रसाद जी की अध्यक्षतामें हुई थी, हुआ था कि कम-से-कम दस लाख मनुष्योंसे धन एकत्र किया जाय। निर्धन से निर्धन चार आना भेंट करें तथा धनिक महानुभाव अधिक से अधिक, कितना भी दे सकते हैं, जो उनकी इच्छा करे और निर्धनोंके कार्यके लिये उनकी आत्मा प्रेरणा दे। अधिक से अधिक देनेकी कोई भी सीमा नहीं है। एकत्रित धनका प्रबन्ध, बापाके बालक हरिजन सेवक संघ तथा भारतीय आदिम जाति सेवक संघ दोनोंके चुने हुए सदस्योंकी एक संयुक्त समिति करेगी जिसमें आवश्यकता होने पर कोआपटेड सदस्य भी सम्मिलित किये जा सकते हैं। चूंकि यह निधि वास्तवमें निर्धनोंके लिये है अतः इसके प्रबन्ध आदिमें कम से कम व्यय करने पर ध्यान रखा गया है।

एकत्रित धन सम्पूर्ण भारतमें हरिजन तथा आदिवासियोंमें शिक्षा तथा सफाईको बढ़ाने, आर्थिक स्थितिको सुधारने तथा रोगों से राहत दिलाने आदिके लिये बराबर-बराबर देशके किस भागसे कितना मिला इसका विचार किये विना खर्च किया जायगा। हमने बापा ही की तरह सम्पूर्ण भारतको एक इकाई माना है और यह धन उसके हरेक भागमें वहाँकी आवश्यकता तथा कार्यक्षमता के अनुसार खर्च किया जायगा।

निधि इकट्ठा करनेका कार्य बापाकी पहली पुण्यतिथि, १९ जनवरी १९५२ तक चालू रखा जायगा। चूंकि बापाका कार्य भविष्यमें और अधिक बड़े पैमाने पर चलाना है, अतः उस तिथिके बाद भी धन स्वीकार किया जायगा और उस अर्थमें फण्ड बन्द नहीं माना जायगा।

अतः हम, सभी धनिकों और निर्धनोंसे अपील करते हैं कि इस स्मारकके लिए, बापा के प्रति श्रद्धाके नाते और आगामी राष्ट्र व मानवताके उत्थानके नाते भी अपनी अपनी सामर्थ्यानुसार भेंट प्रदान करें।

भिन्न स्थानों पर धन एकत्र करनेके लिए स्थानीय कार्यालयोंका प्रबन्ध किया जा रहा है जहां पर भेंट स्वीकार होगी और रसीद दी जायगी। यह सनुरोध प्रार्थना है कि प्रमाणित एजेन्टके अतिरिक्त किसीको धन न दिया जाय और विना रसीद लिए तो हरगिज न दिया जाय। प्रमाणित एजेंन्टों तथा कार्यालयोंकी सूची शीघ्र ही समाचार पत्रोंमें प्रकाशित हो जायगी। तब तक कोई भी जानकारी, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ, हरिजन निवास, किंग्सवे, दिल्लीके मंत्री से; की जा सकती है और धन भी वहीं भेजा जा सकता है।

पुरुषोत्तमदास टंडन, ग० वा० मावलंकर गोविन्दवल्लभ पन्त, हृदयनाथ कुंजरू, बी० जी० खेर, रामेश्वरी नेहरु, घनश्याम दास बिड़ला, देवदास गांधी, श्रीकृष्ण सिंहा, विष्णुराम मेधी, हरेकृष्ण महताब, अनुग्रह नारायण सिंहा, राजकृष्ण बोस, शांतिकुमार न० मोरारजी, लक्ष्मीदास मं० श्रीकांत, वियोगी हरि, स्वामी रामानंद तीर्थ, भगीरथ कनौड़िया, जहांगीर पटेल, गोपबंधु चौधरी मा० श्री० अणे, वी० भाष्यम् आयंगार।

'अमृत' के नियम

१. 'अमृत' प्रतिमास प्रकाशित होगा।

२. इस का वार्षिक मूल्य ५) और एक प्रति का आठ आना है।

३. पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या लिखने की कृपा करें।

४. 'अमृत' में जन-जीवन, विशेषतः हरिजनों, आदिवासियों तथा अन्य उपेक्षित वर्गों के कल्याण-संबंधी स्वस्थ एवं सुरुचिपूर्ण रचनाओं का विशेष स्थान होगा। यह रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की व्यावहारिक कठिनाइयों तथा उनके निराकरण सम्बन्धी सुझावोंका स्वागत करेगा।

५. 'अमृत' में अश्लील तथा भद्दे विज्ञापन नहीं लिए जायेंगे।

भारत के प्रत्येक कोने में एजेन्टों की आवश्यकता है। एजेंसीके नियमके लिए मैनेजर, 'अमृत' बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना-४ को लिखें।

तार :—'सेवकसंघ' पटना। फोन :—पटना २१४६।

बापा की पुण्य-स्मृति में—

अमृत

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

बी० एम० दास रोड :: पटना-४

अच्छा काम खुद अपना आशीर्वाद है

मेरे पास ऐसे भी खत आते हैं, जिनमें लोग अपने कामों के लिये या कोई आन्दोलन शुरू करने के लिये मेरा आशीर्वाद माँगते हैं। मेरी राय में हर अच्छे काम के साथ आशीर्वाद तो रहता ही है। उसे मेरे या दूसरे किसी के समर्थन की जरूरत नहीं होती। आज एक भले आदमी मेरा आशीर्वाद माँगने आये। वे बहुत अच्छा कामें कर रहे हैं। लेकिन मैंने उनसे कहा कि मेरा आशीर्वाद क्या माँगते हो? वे भाई एकदम मेरे कहने का मतलब समझ गये। सत्य हमेशा अपने आप जाहिर होता है। हरएक को बड़ी-से-बड़ी कीमत चुका कर भी सत्य का पालन करना चाहिये। लेकिन जो सत्याग्रह करते हैं उन्हें अपने दिलों को टटोल कर यह देखना चाहिये कि क्या वे सचमुच सत्य की खोज कर रहे हैं? अगर ऐसी बात नहीं है, तो सत्याग्रह मजाक बन जाता है। जो लोग ऐसी चीज पाने की कोशिश करते हैं जो सचमुच उनकी नहीं है, वे अहिंसा के जरिये उसे नहीं पा सकते। असत्य वस्तु की मांग में हिंसा भरी होती है, और सत्याग्रह और हिंसा में कोई मेल हो ही नहीं सकता।

—महात्मा गांधी

प्रकाशक—श्रीनगेन्द्र नारायण सिंह, मंत्री, बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना

मुद्रक—वैशाली प्रेस, पटना-४

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

वर्ष – एक दिसम्बर, १९५१ अंक – पांच

वर अर्जुन राव तथा वधू मनोरमा—जवाहरलाल बीच में खड़े हैं (पृष्ठ १५)

सम्पादक
...न्द्रनारायणसिंह
गिरीन्द्र...रायण, मोहिनीमोहन
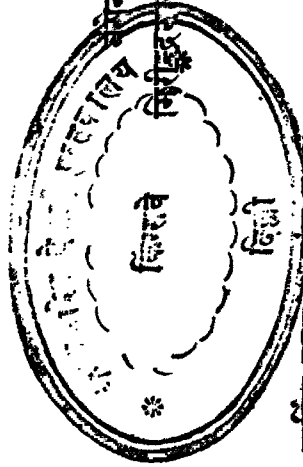
वार्षिक मूल्य – पांच रुपया एक प्रति – आठ आना

इस अंक के लेख और लेखक

अमृत

बापा और सरदार

वर्ष एक

अंक पांच

पटना, दिसम्बर १९५१

मैं खुद हरिजन बन गया हूँ

बावजूद इसके कि हमारे संविधान ने हरिजन-परिजन भेद मिटा दिया है, हरिजन-सेवा करने की आवश्यकता अब भी बहुत-कुछ बाकी है, यह दुःख के साथ कहना पड़ता है। अभी अपनी यात्रा में हम मथुरा गये थे। वहाँ मैं तो सर्वोदय-सम्मेलन में व्यस्त था, लेकिन महादेवी बहन की इच्छा हुई वृन्दावन के दर्शन की। बहुत उत्कंठा के साथ वह वहाँ पहुँचीं, लेकिन हरिजनों के लिए मंदिर खुले नहीं थे, इस लिए वैसे ही उन्हें वापस लौटना पड़ा। कितनी शर्म और दुःख की बात है! लेकिन इससे भी अधिक दुख की बात तो यह है कि इस दिशा में बहुत-कुछ काम करना बाकी है, इसका भान ही हम भूल गये हैं।

मैं आजकल 'भूमि-दान-यज्ञ' में लगा हुआ हूँ, लेकिन उसमें भी हरिजनों को नहीं भूला हूँ और भूल भी कैसे सकता हूँ जब मैं खुद अपनी इच्छा से और कामों से भी हरिजन बन चुका हूँ। दान में जो भूमि मिलेगी उसके वितरण में हरिजनों का खास ध्यान रखा जाय ऐसा सोचा है, क्योंकि बहुत-सारे हरिजन भूमिहीन ही होते हैं। इस दृष्टि से भूमि-दान के यज्ञ-प्रचार में सारे हरिजन-सेवकों की मदद की अपेक्षा मैं कर रहा हूँ।

—विनोबा

विनोबा का यज्ञ

विनोबा जी इन दिनों पैदल ही देश-भ्रमण कर रहे हैं। जहाँ जाते हैं, भूमि का स्वेच्छा-दान माँगते हैं। लोग उनकी बात मान रहे हैं अवश्य, पर उस पैमाने पर नहीं जिस पर माननी चाहिये। मिली हुई भूमि उनलोगों को देने-दिलाने की व्यवस्था की जा रही है जिनके जीवन-मरण के लिये यह नितान्त आवश्यक है।

विनोबा जी के इस मार्गदर्शन के लिये किये गये शुभ प्रयास का हम स्वागत करते हैं। हमारा विश्वास है कि देश की भूमि की समस्या आवश्यक समाधान खोज रही है। यह इस युग की मांग है और हमें इस गुत्थी को सुलझाना है, जल्द से जल्द। यह कार्य नारेबाजी, फिर्केबाजी से नहीं होने का, न ही शुतरमुर्ग की तरह आने वाले बवंडर के पहले अकर्मण्यता के बालू में सर छिपाने से हो सकता है।

विनोबा जी के इस प्रयास का हम इसलिये भी स्वागत करते हैं कि भारत की आज की स्थिति से यह मध्यम मार्ग मेल खाता है। जो जिस दयनीय दशा में है वह वैसा ही बना रहे यह तो आत्मघात जैसा होगा, पर आमूल परिवर्तन तो हिंसात्मक तरीकों से भी हो सकता है—जो हमारा ध्येय नहीं। भूमि की पूँजीवादी व्यवस्था हमें मान्य नहीं; और विदेशी ढंग का साम्यवादी हिसाब-किताब भी हमारे देश के लिये सोलह आना सही नहीं। अतः बीच का यह मार्ग निराशा के अन्धकार में आशा के प्रकाश की तरह नज़र आ रहा है।

विनोबा जी के इस मौलिक विचार तथा सामायिक सूझ की हम सराहना और समर्थन ही नहीं करते, बल्कि इस दुखी देश के लिये उसे बहुत आवश्यक भी समझते हैं। देश के करोड़ों हरिजन, आदिवासी, पिछड़ी जाति के तथा अन्य लोग, जो बे-ज़र-जमीन हैं, उन्हें इस नयी व्यवस्था से आवश्यक लाभ हो सकेगा। लेकिन यह विनोबा जी का ही अकेले का काम नहीं। वृद्धावस्था से जर्जर उनका शुष्क शरीर, हमें भय है, इतना सारा श्रम सह नहीं सकेगा। देश के तमाम रचनात्मक कार्यकर्ताओं का ध्यान इस ओर शीघ्र से शीघ्र जाना चाहिये और उन्हें इस तपस्वी पथ-प्रदर्शक से आवश्यक प्रकाश लेकर इस यज्ञ की ज्योति सारे देश में फैलानी चाहिये।

विनोबा जी के इस सत्य और अहिंसा के प्रयोग में देश की बत बड़ी भलाई छिपी पड़ी है। इसकी असफलता असंतोष और विद्रोह को जन्म देगी। अतः देशवासियों का ध्यान इस प्रमुख सामयिक प्रश्न की ओर आकृष्ट करते हुए इस योजना को सफल बनाने में हम उनका सहयोग मांगते हैं।

—सम्पादक

चले चलो, चले चलो

नाना श्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम्,

पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सदा।

चरैवेति चरैवेति।

हे रोहित, जो हाथ-पर-हाथ रखे बैठा रहता है, उसे श्री नहीं मिलती। आलसी आदमी पापी है, तुच्छ है। इन्द्र सतत विचरणशील के ही साथी हैं, इसलिए सदा चले चलो, चले चलो।

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः,

शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।

चरैवेति चरैवेति।

चलनेवाले की जंघाएँ पुष्पिणी होती हैं, आत्मा वर्द्धिष्णु और फलग्राही होती है, सभी पाप मार्ग में ही हत होकर (तीर्थ-क्षेत्रादि के मार्ग में, देवताओं के दर्शन और तीर्थजन्य श्रम से हत होकर—सायण) सो जाते हैं—दब जाते हैं। चले चलो,चले चलो।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतिः,

शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः।

चरैवेति चरैवेति।

बैठे हुए आदमी का सौभाग्य रुका रहता है, उद्योग के लिए खड़े होनेवाले का सौभाग्य भी उठ खड़ा होता है; सोनेवाले का भाग्य भी सो जाता है और चलने वाले का सौभाग्य भी (वृद्धि की ओर) चल पड़ता है—चले चलो, चले चलो।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः,

उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्।

चरैवेति चरैवेति।

सोनेवाला कलियुग है, जगनेवाला द्वापर, उठ खड़ा होनेवाला त्रेता और चलते रहनेवाला सत्ययुग होता है—चले चलो, चले चलो।

चरन्वै मधु विन्दन्ति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्,

सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्।

चरैवेति चरैवेति।

चलते हुए को मधु मिल जाता है, वह सुस्वादु उदुम्बर (गूलर—उस युग का रसगुल्ला!) पा जाता है, सूर्य की श्रेष्ठता (तेज) तो देखो, जो चलता हुआ कभी थकता ही नहीं – चले चलो, चले चलो।

—ऐतरेय ब्राह्मण ७/३/३/१५

कन्हैयालाल देसाई

बापू और सरदार

आज हम यदि पूज्य गांधीजी को याद न करें, तो और किसे करें? गांधीजी ने इस देश के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया, उसके पहले देश की जो स्थिति थी, और बाद में उसमें जमीन-आसमान का जो फर्क हो गया, उसकी कल्पना तो उन्हीं लोगों को हो सकती है जिन्होंने दोनों तरह का सार्वजनिक जीवन देखा है। एक दबी हुई, कुचली हुई, आशा-उत्साह-आदर्शहीन प्रजा में गांधीजी ने आशा का संचार किया, उसके सामने एक आदर्श रखा और उसे तनकर स्वाभिमान से खड़े रहना सिखाया। उन्होंने प्रजा का डरपोकपन तो इस हद तक दूर कर दिया कि उसी प्रजा ने एक जबरदस्त हुकूमत का सफल सामना किया, अपने कंधों से विदेशी जुआ उतार कर फेंक दिया। और यह सब गांधीजी ने बिना किसी प्रकार की मार-काट या अंधाधुन्धी के कराया। दुनिया के इतिहास में ऐसी दूसरी मिसाल देखने को नहीं मिलती।

लेकिन यदि गांधीजी के बारे में हम इतना ही समझते हों, तो कहना पड़ेगा कि हम उन्हें समझे ही नहीं हैं। जीवन का एक भी क्षेत्र ऐसा नहीं, जिसमें उन्होंने नया रास्ता न दिखाया हो। उन्होंने न केवल स्वराज्य ही सिद्ध किया, बल्कि समाज-रचना का एक नया दृष्टिकोण भी सामने रखा और उस तरफ लोगों को मोड़ा।

इन सबमें ज्यादा महत्त्व की बात तो यह है कि उन्होंने समूचे सार्वजनिक जीवन को नैतिक और आध्यात्मिक आधार पर रख दिया। आम तौर पर राजनीति के बारे में यह मान्यता है कि उसमें झूठ और प्रपंच के बिना चल ही नहीं सकता। लेकिन गांधीजी ने राजनीति को भी नैतिक सिद्धांत से बाहर नहीं रखा। आध्यात्मिक पुरुषों में जितनी निर्दोषता होनी चाहिये, वह तो उनमें थी ही; साथ ही दुनिया के अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञों को मात करने वाली राजनीतिज्ञता भी उनमें थी। लेकिन उस राजनीतिज्ञता की बुनियाद सत्य पर रची गयी थी। और यही कारण है कि अच्छे-अच्छे लोग उनसे मात खा जाते थे।

लोकसेवा की इच्छा रखनेवालों को उन्होंने सच्ची लोकसेवा की तालीम दी। अपने कुटुम्बी जनों को भी उन्होंने पैसे का विचार किये बिना लोक-सेवा करना सिखाया। और कितने ही धनाढ्यों ने उनसे फकीरी का व्रत लिया। एक समय अमेरिका या दूसरे किसी देश में धार्मिक परिषद् थी। वहां के लोगों ने गांधी जी से संदेश मांगा। उन्होंने यह संदेश भेजा कि

"अगर मैं अपने जीवन से कोई सन्देश नहीं दे सकता हूं; तो दूसरा और क्या सन्देश दूं ?" इसी चीज की अपेक्षा वे सार्वजनिक सेवकों से भी रखते थे। और उनके प्रताप से देश में ऐसे जो थोड़े बहुत सेवक तैयार हुए, उन्हीं से हमारे देश की कीर्ति बढ़ी है। और जब तक यह प्रवाह जारी रहेगा, तब तक यह कीर्ति टिकी रहेगी।

स्वामी विवेकानन्द ने दो बातों का खास उपदेश दिया—शक्ति और त्याग। ये दोनों गुण गांधीजी के जीवन में मूर्तिमान हो गये थे। इसीसे सब लोग उनकी तरफ आकर्षित होते थे। यह शक्ति स्थूल नहीं, बल्कि आध्यात्मिक थी। जो पुरुष सत्य के लिए जान हथेली पर रखकर घूमे, उसके सामने कौन न झुके! और उनका अपरिग्रह तो उनके वसीयतनामे से ही प्रगट हो जाता है। उसमें उन्होंने लिखा है कि मेरी कोई मिल्कियत है ऐसा मैं नहीं मानता।

गांधीजी से अलग रखकर सरदार पटेल के बारे में कोई विचार नहीं कर सकते। उन्होंने गांधीजी के एक-एक सिद्धांत को अपने जीवन में ओत-प्रोत कर लिया था। स्वामी रामकृष्ण के लिये कहा जा सकता है कि वह एक जीवन था। स्वामी विवेकानन्द ने वह जीवन लोगों के सामने रखा। गांधी जी के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे तो एक महान कर्मयोगी थे। परन्तु यह तो निश्चित है कि गांधीजी के सिद्धांतों का सफल तरीके से अमल करने में किसी ने यदि सबसे महत्व का भाग लिया हो, तो वे सरदार वल्लभभाई ही हैं। देश में सत्याग्रह की जो-जो लड़ाइयां सफल हुईं, वे उनकी ऋणी हैं। और ऐसा कहने में थोड़ी भी अतिशयोक्ति नहीं कि डांडी कूच से लेकर अन्तिम 'भारत छोड़ो' आन्दोलन तक की लड़ाइयां सरदार वल्लभभाई के बारदोली सत्याग्रह की सफलता के कारण ही संभव हुई।

सरदार द्वारा चलाई हुई सत्याग्रह की लड़ाइयों में, अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी के काम-काज और प्रबन्ध में, उनके द्वारा हाथ में लिये हुये दूसरे छोटे-मोटे कार्यों में और स्वराज्य आने के बाद के उनके महान कार्यों में हमें उनकी अद्भुत व्यवस्था शक्ति का चमत्कार दिखाई देता है। उन्होंने भी सार्वजनिक जीवन का कोई क्षेत्र बाकी नहीं रखा। उन्होंने हरएक काम में रस लेकर उसे योग्य बुनियाद और दर्जे पर रख दिया। गुजरात के बहुत से काम आज इसके साक्षी हैं!

लेकिन इन सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्होंने भी अपना धन्धा छोड़कर फकीरी ग्रहण की, गांधीजी का सेवा का मार्ग अपने जीवन में उतारा और अच्छे-अच्छे सेवक तैयार किये। उनका यह ऋण इतना बड़ा है कि वह कभी भुलाया नहीं जा सकता।

गुजरात को परमेश्वर का आभार मानना चाहिये कि हमारे यहां ऐसी महान विभूतियां पैदा हुईं और उन्होंने हमें उचित मार्ग पर लगाया। हम परमेश्वर से प्रार्थना करें कि जो सबक हमें इन दो विभूतियों ने सिखाये, उन्हें हम न भूलें और जो कीर्ति उन्होंने प्राप्त की उस पर कलंक न लगने दें।

रामकुमार वर्मा

सवर्णों के स्तर पर

दरभंगा जिले के दुसाध लोगों की स्थिति विकास के उस सोपान तक अब पहुँच चुकी है कि उनका सामाजिक आचरण सवर्णों के समान स्तर पर आ गया है। हरिजन समाज के नेता के रूप में वे हरिजन-सवर्ण-विभेद की अंतिम कड़ी ही कहे जा सकते हैं। शैक्षिक-सांस्कृतिक, आर्थिक-भौतिक ही नहीं, कला की दिशा में भी उनकी विचार-प्रणालियाँ सबलता-सफलतापूर्वक पैठती जा रही हैं। कुछ ही दिनों पहले, बीसवीं सदी की शैशवावस्था में, ये समाज के ऐसे निम्नस्तर पर समझे जाते थे जब सवर्ण उनकी छाया से भी छूत मानते थे तथा रूढ़ि की भयानकता इन से छू जाने पर 'हड्डी तक अशुद्ध हो गयी' की व्यवस्था देती थी। किन्तु अब इन में संस्कार-जन्य कोई ऐसी कुरीति शेष नहीं दिखाई पड़ती जो इन्हें सवर्णों से विलग ले जा सके और वे निश्चित गति से सम्मान प्राप्त करते हुए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलतापूर्वक आगे बढ़ते जा रहे हैं।

अपने कार्य के सिलसिले में मुझे इनके निकट सम्पर्क में आने पर सभी तरह से संतोष और प्रसन्नता हुई है। दरभंगा जिले में बसने वाली तमाम हरिजन जातियों में दुसाध लोगों की संख्या महत्वपूर्ण, तथा अपेक्षाकृत बड़ी है। अनुमानतः तीन लाख दुसाध हैं इस जिले में, और कुल हरिजन वर्ग की जन संख्या सवा ६ लाख है। कहीं-कहीं संख्या की अधिकता तथा आर्थिक दयनीयता के कारण इनकी स्थिति भी उन अविकसित हरिजन जातियों, जैसे मुसहर आदि, के समान ही है, कोई स्थूल भेद नहीं पाया जाता, किन्तु साधारणतया ये उनसे विकसित अवस्था में ही पाये जाते हैं तथा सर्वतोमुखी विकास के लक्षण स्पष्ट ही लक्षित होते हैं।

शैक्षिक स्थिति

जिले भर में विभिन्न पाठशालाओं-विद्यालयों में शिक्षा पा रहे नौ हजार हरिजन बालकों में दुसाध-बालकों की ही संख्या अधिक है, और इनमें देश के भावी कर्णधारों, अपने बच्चों को पढ़ाने की प्रवृत्ति भी अन्य हरिजन जातियों की तुलना में तीव्र है। जहाँ मुसहर, चमार, डोम, हलखोर आदि जातियाँ दर्जनों बार की चेष्टा पर भी लड़कों को पाठशाला भेजने में हिचक प्रकट करती हैं, वहाँ जिले में सम्भवतः कुछ ही ऐसे स्कूल होंगे जिनमें दुसाध बालक की विद्या-साधना नहीं चल रही हो।

वयस्क लोगों में भी शिक्षा की स्थिति का उल्लेख निराशापूर्ण नहीं है। कहीं-कहीं तो इसी योग्यता के कारण ये सवर्णों के भी नेता

हैं। शिक्षा की दिशा में चमार, धोबी, पासी आदि सभी दुसाध लोगों से पिछड़े हैं, यों उनमें भी अब चेतना के अंकुर फूटने लगे हैं। दुसाधों का विकास तो संघर्षों में विजय का इतिहास है, जो कर्तृत्व का उदाहरण है।

सांस्कृतिक स्थिति

दुसाधों की अधिक संख्या, अनुमानतः ७५-८० फी सदी, वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित है, कुछ कबीरपंथी तथा कुछ राधास्वामी मतावलम्बी भी हैं। और इस पथ पर रहने के कारण ही सत्य और अहिंसा ग्रहण करने में इन्हें सफलता मिली है। मांस-भक्षण, मद-सेवन आदि दुर्गुणों का इन में इतना निषेध है कि मांसाहारी ब्राह्मण का छूआ हुआ अन्न भी ग्रहण नहीं किया जाता। "जीवघाती एक जाति" के अनुसार हिंसक समाज से ये पूरी तरह घृणा करते हैं। भ्रष्ट तथा हीन आचरण की कोई कल्पना भी इन्हें नहीं आती। एक बार एक ग्राम में मुझे एक हरिजन ग्रामीण वैष्णव-महिला मिली। धार्मिक तत्त्वों पर उस निरक्षरा नारी के विचार मुझे इतने दृढ़ लगे कि आश्चर्य हुआ। उसकी वाणी को तार्किक बल उपलब्ध नहीं था, फिर भी उसका उदार व्यवहार, शालीनता, तथा स्वपथ-विश्वास इतने दृढ मिले कि मुझे प्रभावित होना पड़ा।

इस घटना के साथ मैंने और कुछ नहीं तो, यह तो अवश्य पाया कि दुसाध जाति ने महिला-नेत्री भी उत्पन्न कर लिया है, यों भले ही उसका यह निर्माण अभी धार्मिक क्षेत्र में ही हुआ है, किन्तु विकास का यह प्रमाण व्यापकता भी प्राप्त करेगा, ऐसा स्पष्ट ही प्रतीत होता है।

सामाजिक स्थिति

जैसा कि उपर लिखा जा चुका है ये कहीं-कहीं सम्पूर्ण ग्राम के, जिनमें सवर्ण, हरिजन तथा मध्यम और पिछड़े लोगों के वर्ग भी होते हैं, एकछत्र नेता हैं। और किसी-किसी ग्राम में यही स्थिति नहीं होते हुए भी उनका यथेष्ट प्रभाव है। सवर्ण इनका साहचर्य प्राप्त कर असंतोष प्रकट करना तो दूर, प्रसन्न होते हैं, और इनकी सहायता के इच्छुक रहते हैं।

कुछ हरिजन जातियों में, जिनकी सामाजिक स्थिति अत्यन्त न्यून है, और जिनके साथ सवर्णों का विभेद अभी भी दुखद है, दुसाधों के प्रति सम्मान का भाव व्याप्त है, और दुसाध वहाँ सवर्ण और हरिजन के संगम-विन्दु का धर्म निभाते हैं।

कुँआ-तालाब-मंदिर आदि में भी इन्हें किसी निषेध-विरोध का सामना नहीं करना पड़ता और प्रायः सभी मेले-त्योहारों में ये समान रूप से भाग लेते हैं। देश की स्वतंत्रता की लड़ाई में भी ये महत्वपूर्ण भाग लेते रहे हैं, और आज भी कांग्रेस आदि राजनीतिक संस्थाओं में इनका यथेष्ट प्रतिनिधित्व पाया जाता है।

ललित कला के क्षेत्र में भी इनका प्रशंसनीय प्रवेश है।

इसके उपरान्त प्रत्येक क्षेत्र में इनका विकास हो रहा है। कुछ ऐसे प्रमुख व्यक्ति इस जाति ने पैदा किये हैं जो जिले की प्रगति में हरिजन से अधिक सवर्ण समाज में प्रिय एवं मान्य हैं।

समय ने इनके प्रयास में स्वयं ही सफल शक्ति लगाया है साथ ही लोकप्रिय सरकारों के सर्वोदयी आन्दोलन की सफलता भी इनकी सफलता का रहस्य है।

आर्थिक स्थिति

अपेक्षाकृत अन्य हरिजन जातियों से कृषि के क्षेत्र में भी ये आगे हैं। ऐसे भी बहुत परिवार हैं जिनकी अपनी भूमि है। पहले गोड़ाइती जागीर मालिकों की ओर से दी जाती थी जो अधिकांश में इन्हें ही मिली है। आज भी पुलिस विभाग में चौकीदारी पर इनका ही एकाधिपत्य समझा जाता है। बँटवारे पर खेती करने वाले हरिजनों में भी दुसाध ही अग्रगण्य हैं, और सफल भी। अपनी जमीन नहीं रहने पर ये बँटवारे पर भी खेती करके पूरे वर्ष के लिए खाद्यान्न पैदा कर लेते हैं। कुछ सरकारी तथा गैर-सरकारी नौकरियों में भी हैं। प्राइमरी पाठशालाओं के शिक्षकों में भी इनकी पर्याप्त संख्या है। मेरे क्षेत्र में दर्जनों दुसाध युवक तथा वयस्क प्राइमरी पाठशालाओं के शिक्षक हैं।

इनकी आय के ये कुछ ठोस सूत्र हैं, तथा और भी कई कला-कौशलों से ये अर्थार्जन करते हैं। व्यवसाय में भी दो एक दुसाध प्रवेश करते नजर आने लगे हैं और सम्भवतः वह दिन दूर भी नहीं जब व्यापार-उद्योग के क्षेत्र में भी इनकी संख्या काफी हो जायगी। बिहार-खादी-समिति में भी कुछ दुसाध कार्यकर्त्ता हैं।

इनकी सर्वतोमुखी उन्नति के इन चित्रों को देखने तथा इनके विकास-क्रम का अध्ययन करने पर यह सहज ही समझ में आ जाता है कि ये पूरे वेग से अपने जीवन को सुन्दर और विकसित बनाने में जुट गये हैं और यह सोचकर कि कुछ ही दिनों में इनका कायाकल्प हो रहेगा, वास्तव में संतोष तथा आनन्द प्राप्त होता है।

पर अपवाद की बात यहाँ भी है। अभी भी कुछ दुसाध इतने पतित अवस्था में हैं कि देख कर अत्यन्त दुख होता है। कुछ 'सी० टी० ऐक्ट' में भी हैं तथा कहीं-कहीं के दुसाध चोरी-डकैती के लिए भयानक रूप से बदनाम हैं। हरिजन सेवकों तथा इस जाति के नेताओं को यथाशीघ्र इस कलंक को धो डालने की चेष्टा करनी चाहिए।

सभी कुछ सुन्दर होते हुए भी जिस तरह शरीर में कहीं भी कुष्ठ रहने पर मनुष्य घृणित हो जाता है उसी प्रकार दुसाध जाति भी अपने इस कुष्ठ रूप सदस्यों के कारण बदनाम हो जायगी, अगर इसका परिष्कार नहीं किया गया।

भविष्य का सब कुछ आशा की ज्योति से ही प्रकाशवान है किन्तु परिश्रम भी अपेक्षित है। कारण, अभी भी कई त्रुटियाँ हैं जो इनके लिए भयानक तथा निन्दनीय हैं। इनके सफल विकास के लिए सदैव चेष्टा करनी चाहिए।

★

हर्षनारायण

युद्ध का श्रेष्ठतम पर्याय—अहिंसा

वैयक्तिक पूँजीवाद को दीर्घकाल तक जाँच कर देख लिया गया। अभी हम केवल दो दशकों के बीच दो भीषण महायुद्धों की विभीषिका से गुजरे हैं। भावी तृतीय महायुद्ध की जिह्वा मानवजाति मात्र के रुधिर पान के लिये ललचा रही है। परम्परा प्राप्त साध्यों और साधनों के हाथों हमारे सत्यानाश में वस्तुतः अब अधिक विलम्ब नहीं है। अतएव नवीन जीवन-क्रम और नवीन जीवन-मानों (Standards) की खोज हमारा परम कर्त्तव्य हो जाता है।

जिन्होंने 'अणु' का लोमहर्षक ताण्डव देखकर हिंसामूलक युद्धों की असारता हृदयंगम कर ली है, उनके लिये तो एक नवीन युद्ध-प्रणाली का आविष्कार और आवश्यक हो जाता है। स्पष्टीकरणार्थ, संक्षेप में यही समझ लीजिये कि देश के भीतर समाजवादी पद्धति से वर्ग-युद्ध छेड़ना जड़ता का द्योतक है, जब अणु-शक्ति का धारण पूँजीपति वर्ग करता है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में दोनों दल, जिनमें आज समूचा विश्व विभक्त हो गया है, जब अणुशक्ति द्वारा नरमेध का अनुष्ठान कर सकते हैं, उनका पारस्परिक युद्ध आत्म-संहार का ही पर्याय होगा। इसके अतिरिक्त हिंसा वह दुधारी तलवार है जो अपने धारक को भी उतना ही काटती है जितना उसको जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाता है। इतिहास साक्षी है कि हिंसात्मक क्रान्तियों द्वारा निस्वार्थ, आत्म-त्यागी और आदर्शवादी व्यक्ति पीछे पड़ जाते हैं, और उनका स्थान शक्ति के उपासक अधिनायकवादी मनोवृत्ति वाले व्यक्ति ले लेते हैं। घृणा हिंसा का प्राण है। एक नियत सीमा के परे घृणा स्वभाव का अंग बन जाती है, और नित्य नये आखेट ढूँढने लग जाती है, ऐसा बर्ट्रैंण्ड रसेल ने कहा है।

युद्ध-निवारण का एक और उपाय ढूँढ निकाला गया है जो अभी परीक्षण और प्रयोग की अवस्था में है। वह उपाय है एक अन्तरराष्ट्रीय संस्था की स्थापना करके उसके द्वारा शान्ति भंग करने वाले राष्ट्र का शासन करना। किन्तु विचार करने पर पता चलेगा कि यह वही हिंसावाली पुरानी मदिरा है, केवल बोतल नयी है। आक्रमणकारी के इस संस्था द्वारा दी गई व्यवस्था के न मानने पर इसे भी उसी विध्वंसात्मक मार्ग का अवलम्बन करना पड़ेगा जिसे हम हिंसा के नाम से मानते हैं। इतना ही नहीं, विभिन्न राष्ट्रों के परस्पर टकराने वाले स्वार्थों के कारण इस संस्था का अधिक दिन चलना भी असम्भव हो जायगा। राष्ट्र-संघ (लीग आफ नेशन्स) के

विघटन और वर्तमान संयुक्त-राष्ट्र-संघ की अकिंचित्करता को देखकर ऐसी योजनाओं में विश्वास करने वालों की आँखें खुल जानी चाहिये।

कुछ लोगों का कथन है कि इन दोनों संस्थाओं की असफलता का एक मात्र कारण सैनिक शक्ति का अभाव है। उनकी धारणा है कि यदि संयुक्त-राष्ट्र-संघ के अधीन एक संयुक्त राष्ट्र-सेना अथवा पुलिस की व्यवस्था कर दी जाय तो विश्व शान्ति की स्थापना में तनिक भी देर नहीं लगेगी।

किन्तु जगत् की वास्तविकता में ऐसी योजनाओं का कोई महत्त्व नहीं। प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी ऑल्डस हक्सले ने ठीक ही पूछा है—"ऐसी सेना की भर्ती कैसे होगी? इसके लिये अधिकारी कहाँ से आयेंगे? कैसे इसे शस्त्रसज्ज किया जायगा? इसे कहाँ निविष्ट किया जायगा? यह कौन निर्णय करेगा कि इसका अमुक समय पर प्रयोग किया जाय और अमुक के विरुद्ध? यह किसके प्रति निष्ठा रखेगी और इसकी निष्ठा में निर्भ्रान्त विश्वास कैसे हो? क्या यह सम्भव है कि इसके जो नागरिक होंगे वे अपने-अपने देश पर आक्रमण और उस पर विजय के हेतु योजनायें बनाएँगे अथवा उड्डनयकारी अपनी ही जाति के संहार में निष्ठापूर्वक सहयोग देंगे? अन्तरराष्ट्रीय सेना के मनुष्य और सामग्री प्रदान करने के लिये समस्त राष्ट्र किस प्रकार प्रवृत्त किये जायंगे? यदि कतिपय बड़ी शक्तियां सेना के बड़े भाग की व्यवस्था करें तो समस्त विश्व पर सैनिक आतंक फैलाने से इन शक्तियों को कौन रोकेगा?"

ये हैं कठिनाइयाँ जिनके कारण किसी अन्तरराष्ट्रीय सेना की सत्ता ही सम्भव नहीं है, उसकी सफलता तो दूर रही। इसी प्रकार प्रदेशवादियों (रेजिनलिस्ट्स) का प्रस्ताव कि विश्व भर में प्रादेशिक संघों की स्थापना होनी चाहिये, और उनके पास प्रादेशिक सेनायें भी रहें, अव्यवहार्य ही है।

अतः संसार के पास 'अहिंसा' को छोड़ और कोई चारा नहीं रह जाता है। अन्य सारी योजनाओं में मौलिक त्रुटि यह है कि वे इस बात की सर्वथा उपेक्षा करके चलती हैं कि इनकी सफलता के लिये प्रबल इच्छा-शक्ति की आवश्यकता होती है और इस प्रकार की इच्छा के लिये सद्वृत्ति और सद्भावना अपेक्षित हैं। मानवता आज जिन रोगों से पीड़ित है उनका मूल स्रोत समाज के आर्थिक ढाँचे में नहीं ढूँढा जा सकता। उनका उद्गम वस्तुतः मानव-स्वभाव में ही पाया जा सकता है। अभी संयुक्त-राष्ट्र-संघ में अणुशक्ति नियंत्रण सम्बन्धी किसी भी प्रस्ताव पर हमारा एकमत न होना हमारे अन्तःकरण की मलिनता की ओर इंगित करता है। हैराल्ड निकल्सन का कथन है कि "संसार तब तक एकता नहीं प्राप्त कर सकता जब तक मंगल नक्षत्र से इसका संग्राम न छिड़ जाय। हमारी मुख्य आशा यह है

(शेष पृष्ठ १२ पर)

प्रेमशंकर

सामाजिक प्रश्नों की वैज्ञानिक छान-बीन

भारत की दलित-उपेक्षित जातियों की समस्या का इतिहास बहुत पुराना है। हिन्दू-समाज की स्थापना में यह चार वर्णों के बाहर माने गए। 'पंचम' कहे जाने वाले इन लोगों को दूसरे स्पर्श तक नहीं करते थे। यह शहर या गाँव के बाहर ही रह सकते थे। धीरे-धीरे हिन्दू समाज का बंधन और भी कसता गया और अनुपाततः 'पंचमों' की दशा बिगड़ती गई।

नये जमाने में पहले-पहल सन् १९१७ में श्रीमती एनी बेसेंट के सभापतित्व में होने वाली काँग्रेस में एक प्रस्ताव द्वारा दलितों-उपेक्षितों के लिए सामूहिक आवाज उठाई गई। लेकिन कुछ हुआ नहीं। तब भारत के राजनैतिक रंग-मंच पर महात्मा गांधी का पदार्पण हुआ। उन्होंने इन अस्पृश्यों को 'हरिजन' के नाम से पुकारा और उनके उद्धार को अपने जीवन का लक्ष्य घोषित किया। वह बहुत अंश तक सफल हुए। यह उनके ही प्रयत्नों का फल है कि हरिजनों की हालत में इतना सुधार हुआ है। एक ओर तो इन्होंने हरिजनों से सवर्णों के समकक्ष अपने को समझने को कहा और दूसरी ओर सवर्णों को हरिजनों के प्रति प्रेम भाव रखने पर जोर दिया।

हरिजनों के संबंध में चर्चा करते हुए ठक्कर बापा को नहीं भूला जा सकता। वह नाम के समाज सेवक नहीं थे, काम के थे। अ० भा० हरिजन-सेवक-संघ के मंत्री रहकर उन्होंने हरिजनों की देशव्यापी सेवा की। चाहे ठक्कर बापा किसी दिशा में काम कर रहे हों उसकी दीन दलितों की सेवा की भावना ही, तह में होती। महात्मा गांधी और ठक्कर बापा से बढ़कर हरिजनों की समस्या को और किसी ने नहीं सोचा। महात्मा गांधी ने ठक्कर बापा के संबंध में लिखा है कि उनकी (बापा की) कदर करने में भी हम दलितों की कुछ-न-कुछ सेवा करते हैं!

सन् १९४७ में भारत स्वतंत्र हुआ। लोगों के दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन हुआ अवश्य। विरोधी विचारों में कमी नजर आई। देश का जो संविधान बना उसमें हरिजनों को काफी सुविधाएँ दी गईं। इस हेर-फेर में कई विचारणीय प्रश्न सामने आए। हरिजनों को पनपने-बढ़ने का मौका मिलेगा या वह परावलम्बी ही रहेंगे? हरिजनों की अपनी अलग संस्कृति है जैसा कि डा० अम्बेडकर कहते हैं या अन्य वर्णों के समान ही सभी एक ही संस्कृति के अंतर्गत हैं? अगर वे भिन्न संस्कृति के हैं तो देश की भलाई की दृष्टि से हिन्दू-समाज में वे किस तरह पूर्णतः खप सकते हैं? अगर वह खप कर सर्वथा एक हो जाते हैं तो उसका समाज

घर कैसा प्रभाव पड़ेगा ? उत्तरोतर अधिकाधिक संख्या में शिक्षा प्राप्त करने वाले हरिजन विद्यार्थियों के जीवन पर शिक्षा का क्या असर पड़ रहा है ? शिक्षित हरिजनों के विचारों में जो परिवर्तन आ रहा है वह अन्य हिन्दुओं के प्रति कैसा है ? इत्यादि।

ऊपर के सभी प्रश्न काफी महत्व रखते हैं। इन पर गंभीरतापूर्वक नहीं सोचना खतरनाक होगा। वर्तमान समाज के पेचीदा संगठन को दृष्टि में रखते हुए इन प्रश्नों का हल तभी संभव होगा जब हम वैज्ञानिक ढंग पर विचार करें। इस प्रकार छान-बीन करने पर और भी कितने ही प्रश्न उपस्थित होंगे और एक साथ ही सब का समाधान खोज निकालना संभव होगा।

क्या हम ऐसा करेंगे ?

युद्ध का श्रेष्ठतम पर्याय-अहिंसा ···

कि अणु बम स्वयं मंगल के संकट का कार्य करेगा।" किन्तु यह आशा पूर्ण होती नहीं दीख पड़ती। मानवता आज आत्म हत्या पर उतारू हो गई है। अतः आज की सामयिक आवश्यकता एक ऐसे रसायन के आविष्कार की है जो मानव स्वभाव का कायाकल्प कर दे।

और सम्भवतः अहिंसा ही वह रसायन है।

अहिंसा पर प्रायः अव्यावहारिकता का आरोप लगाया जाता है, किन्तु उत्तर में कहा जा सकता है कि 'जहाँ चाह वहाँ राह'। पहले ही कहा जा चुका है कि अहिंसा ही क्यों, किसी भी विश्वशान्ति संबंधी योजना को कार्यान्वित करने के निमित्त दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होती है। बापू की इच्छा थी कि भारत को स्वराज्य प्राप्त हो और यहाँ शान्ति स्थापित हो। उन्होंने अहिंसा को कार्यरूप में परिणत करके दिखा ही दिया। और भी संसार में बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने युद्ध में भाग न लेने की शपथ खाई है। उनको संगठित कर एक महत्वपूर्ण अन्तरराष्ट्रीय अहिंसक सेना की स्थापना की जा सकती है। विश्व शान्तिवादी सम्मेलन के सदस्य यदि इस ओर ध्यान दें तो अहिंसा विश्व के रक्त-मंच को रंग-मंच का रूप देने वाली सिद्ध हो सकती है। अहिंसात्मक संग्राम में अपेक्षित सहनशीलता और अनुशासन का वर्णन लोग बहुत बढ़ा-चढ़ा कर करते हैं। अपने "वार ऐण्ड नॉन-रेजिस्टेंस" नामक निबंध में बर्ट्रैंड रसेल ने भली भाँति प्रमाणित किया है कि ये गुण हिंसात्मक युद्ध में भी उतने ही अपेक्षित हैं जितने कि अहिंसात्मक युद्ध में। सर्वसाधारण संस्कारतः आक्रमणकारी के साथ युद्ध करके प्राणों तक का उत्सर्ग कर डालते हैं। वे ही भाव अहिंसात्मक युद्ध के पक्ष में भी काम आ सकते हैं। आवश्यकता केवल अहिंसा की सफलता और औचित्य में विश्वास उत्पन्न करने की है।

संसार हिंसा की परीक्षा तो सैकड़ों बार ले चुका है, क्या वह सर्वथा मटियामेट होने के पूर्व अहिंसा को भी एक अवसर देगा ?

★

यदुनन्दन

क्या ये उपेक्षित ही रहेंगे ?

कहते हैं दुनियाँ प्रकृति के पथ पर हैं—संस्कृति-सम्यता विकासोन्मुख हैं। लेकिन वस्तुतः हम सोचें तो क्या यह बातें सही हैं ? हम प्रगति के नाम पर और नीचे की ओर तो नहीं लुढ़कते जा रहे हैं ? समाज कितना ढोंगी हो गया है। धर्म और जाति-भेद के नाम पर नहीं हो रहा है ! आदमी जैसे आदमी को निगल रहा है ! ऐसा नैतिक ह्रास किसी काल या युग में और भी कभी हुआ था ऐसा नहीं लगता।

अपने देश को ही देखें तो स्वतंत्रता को लगभग पाँच वर्ष हो गए। इस बीच में हमने क्या हासिल किया ? क्या हम सचमुच प्रगति के पथ पर हैं। एक लम्बी साँस लेकर रह जाना पड़ता है भविष्य में प्रगति के भरोसे !

पिछड़े वर्गों को समान धरातल पर लाने के लिए सरकार और गैर-सरकारी संस्थाएँ प्रयत्न कर रही हैं। समय और द्रव्य लगाया जा रहा है। क्या प्रगति संतोषजनक है ? क्या सरकार और संस्थाओं को जनता का सहयोग मिल रहा है ? कर्मचारी कार्यकर्त्ता उस लगन से काम कर रहे हैं जिससे सफलता साध्य हो ?

शहर देहात में सब कुछ प्रायः वैसा ही चल रहा है। गरीबी, और बेरोजगरी ज्यों-की-त्यों हैं। 'अछूत' अभी बहुत कुछ अछूत ही हैं। बेमारी अब नहीं रही ऐसा नहीं कहा जा सकता। जहाँ सौ घर हरिजनों के हैं दस्तखत करने वाला एक भी नहीं ! जो दूसरों की गन्दगी साफ करते हैं वह खुद गन्दगी में रहने को मजबूर हैं !

युग-युग के उपेक्षित यह पिछड़े लोग क्या उपेक्षित ही रहेंगे ? उनमें सुधार कैसे लाया जा सकता है ? उन्हें अधिकाधिक शिक्षित करना क्या समाज का फर्ज नहीं ? अत्यन्त परिश्रम करने वाले यह लोग भूखों रह जाते हैं, उन्हें पहनने को पूरा वस्त्र नहीं मिलता, गन्दगी और घोर अभाव उनके चिर-साथी हैं। क्या समाज का यह कर्त्तव्य नहीं कि वह अपने अत्यन्त उपयोगी अंग, मेहनत के बल पर जीने वाले इन लोगों को इतना तो दे कि वह सुखमय नहीं तो काम चलाक जीवन तो व्यतीत कर सकें ? प्रगति अगर है तो सर्वतोमुखी होकर ही वह प्रगति कही जा सकती। धूप और चाँदनी की तरह प्रगति का सुख सभी समान रूप से भोगें तभी वह प्रगति है। अगर उपेक्षित उपेक्षित ही रह जायँ और प्रगतिशील और भी प्रगतिशील हो जायँ तो प्रगति प्रगति नहीं कही जा सकती।

स्वामी विद्यानन्द

हमारा कर्त्तव्य

अस्पृश्य जातियों—पंचमों की उत्पत्ति का इतिहास प्राचीन समय के कुछ लोगों की स्वार्थपरता, धन और आधिपत्य की लालसा का इतिहास है। इसी लिए वह पढ़ने-लिखने—वेदादि के अध्ययन से वंचित किये गए, उनमें ऊँच-नीच की भावना पैदा की गई। यह सरासर अन्याय था क्योंकि वेद के ज्ञान का भंडार ईश्वर के अंश हर स्त्री और पुरुष के लिए समान रूप से उपलब्ध होना चाहिए था। वर्णों का निर्माण आदमी की वृत्ति और विचार को ध्यान में रखकर किया गया था। बाद में एक परम्परा-सी बन गई और लोगों का समुदाय का समुदाय वर्णों में विभाजित कर दिया गया। चाहे आदमी का गुण-दोष कुछ भी हो वह अपने वर्ण में बना रहने लगा। यह वर्णों के सृष्टिकर्त्ताओं के मन्तव्य का उल्लंघन था। ऋगवेद में लिखा है कि ईश्वर की सृष्टि का प्रत्येक मनुष्य द्विज है। अगर गीता की ही मानी जाए तो हरेक आदमी एक दूसरे का भाई है। लेकिन इन तमाम बातों को ताक पर रखकर आदमी अपने स्वार्थ के लिए एक दूसरे में विभेद करने लगा और यह भेद-भाव आज भी मौजूद है। सच्चा धर्म जाति, उप-जाति, रंग तथा ऊँच-नीच का पृष्ठपोषण नहीं कर सकता। धर्म का अर्थ ही एकता की स्थापना है—विभेदों की सृष्टि नहीं। सच्चा धार्मिक पुरुष वही है जो सब को समान दृष्टि से देखे। चाहे कोई तीर्थाटन करे, पूजा-पाठ या दान-प्रदान करे लेकिन अगर वह उसको प्यार नहीं कर सकता जो उसके आस-पास है तो वह अदृश्य ईश्वर को कैसे प्यार कर सकता है—कैसे पा सकता है! घृणा से मनुष्य पूर्णकाम नहीं हो सकता। मनुष्य का कर्त्तव्य स्वाध्याय करना और प्राप्त ज्ञान से दूसरों का फायदा पहुँचाना है। उसका यह काम नहीं कि वह प्राप्त ज्ञान को अपने तक ही सीमित रखे या कुछ लोगों को ही उससे लाभान्वित करे तथा दूसरों को उसकी झाँकी भी नहीं लेने दे। धन्य हैं महात्मा गाँधी, ठक्कर बापा और ऋषि दयानन्द कि उन्होंने लोगों को झकझोर कर जगाया। हम जो अपनी सभ्यता का अभिमान करते थे—परछाईं के पीछे दौड़ रहे थे। हमारी सभ्यता अपनी आत्मा को खो चुकी थी। अपनी आत्मा को फिर से पाने के लिए हमें प्राणी मात्र में एक ही विभूति का प्रकाश देखना पड़ेगा। हम सुख या स्वतंत्रता के तब तक अधिकारी नहीं बन सकते जब तक हम कुछ लोगों को अज्ञान और अंधकार में रखे रहेंगे। यह तो वैसा ही होगा जैसे कागज के नाव पर नदी पार करने की चेष्टा। हिन्दू-समाज अंध-विश्वास और जाति-भेद के कारण जर्जर हो गया है। हिन्दू-समाज और हमारा देश आर्यावर्त अपनी खोई हुई गरिमा को फिर भी प्राप्त कर सकते हैं यदि देश के सभी आदमी एक-दूसरे को भाई-भाई मानने लग जायँ—ईश्वर को सबों का परमपिता और मानव-भ्रातृत्व की स्थापना को अपने जीवन का लक्ष्य मान लें।

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

★

आशा सिंह

एक आदर्श विवाह

बात शायद सन् १९४५ या '४६ की है। सेवाग्राम में हरिजन सेवकों की एक छोटी-सी सभा हुई। इस सभा में महात्मा गांधी ने हरिजन सेवक की व्याख्या की। बोले—मैं तो उसे ही पूरा हरिजन सेवक मानूंगा, जो अपनी लड़की की शादी किसी हरिजन से करे।

कुछ ही दिनों के बाद गांधी जी मद्रास गये। वहां उनकी मुलाकात प्रो० गोपराजु रामचन्द्र राव से हुई। श्री राव ने अपनी बड़ी पुत्री मनोरमा का विवाह श्री अर्जुनराव से करने का प्रस्ताव गांधी जी के सम्मुख रखा।

श्री रामचन्द्र आन्ध्र प्रदेश के कृष्णा जिला के रहने वाले कुलीन ब्राह्मण थे और अर्जुन थे हरिजन। गांधीजी खूब खुश हुए। बोले—ठीक है, पर लड़की अभी छोटी है, एक-दो साल तो रुकना ही होगा। तब तक मनोरमा तो कस्तूरबा-तालीमी-केन्द्र में शिक्षा ले और अर्जुन जाये सेवाग्राम—जहां उसे शिक्षा दी जायगी।

और इस तरह मनोरमा बहन गयी कस्तूरबा-केन्द्र में और अर्जुन गये सेवाग्राम, जहां उन्होंने ८ महीने सफाई का काम किया, ६ महीने काका कालेलकर के पास हिन्दी पढ़ी, ८ मास तक अनन्तराम जी उन्हें उर्दू की शिक्षा देते रहे; ६ महीने तक आश्रम की रसोई-घर का इन्तजाम किया और फिर पाखाना सफाई, कताई, धुनाई इत्यादि करके आश्रम-विद्यापीठ की समाज़-विद्या में विशारद हो गये। गांधीजी उनकी प्रगति, सीखने की लगन और स्वभाव आदि देखकर खुश हुए।

और इस बीच मनोरमा बहन कस्तूरबा-तालीमी-केन्द्र में प्रसूति-कार्य की शिक्षा लेती रहीं।

आन्ध्र में इस विवाह की खूब चर्चा हुई। कुछ लोगों ने इसे नापसन्द किया और रामचन्द्रजी को अनेक प्रकार से धमकी भी दी गयी। दूसरे लोग पहले तो खुश हुए, पर एक-दो साल बीत जाने पर भी जब विवाह नहीं हुआ, तो इसे ढोंग बताया। कुछ होना-जाना नहीं है वरन् प्रचार का एक अच्छा साधन है, ऐसा मानकर वे रामचन्द्र जी की बुराई करने लगे।

लेकिन रामचन्द्र राव पक्के आदमी थे। १९४७ के अक्टूबर महीने में वे गांधी जी से फिर मिले और विवाह की बातचीत प्रारंभ की। एक अड़चन आ खड़ी हुई। रामचन्द्र जी अपने नाम के बावजूद भी अनीश्वरवादी थे। उन्होंने गांधीजी से कहा कि इस विवाह में 'ईश्वर' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं

होगा। मैं ईश्वर को विवाह का साक्षी नहीं बनाना चाहता।

गांधीजी ने कहा - ठीक है, ईश्वर और सत्य में कोई अन्तर नहीं। ईश्वर के स्थान पर 'सत्य' शब्द का प्रयोग तो तुम्हें नहीं अखरेगा?

रामचन्द्र जी मान गये, पर उन्होंने 'सप्तपद' की सफाई मांगी। गांधीजी ने प्रोफेसर की इस शंका का भी समाधान किया। बोले—'सप्तपद' से सब प्रकार के रचनात्मक कार्यक्रम ही समझे जायें और इस तरह विवाह की बातचीत पूरी हुई।

उसी महीने में सेवाग्राम में रहनेवाले आंध्र के पुराने हरिजन कार्यकर्त्ता श्री प्रभाकर से—जिनकी देख-रेख में अर्जुनराव की शिक्षा-दीक्षा हो रही थी—इस विवाह पर गांधीजी ने पत्र-व्यवहार किया। एक पत्र में उन्होंने लिखा—

अर्जुनराव की शादी अप्रैल मास में भले रखे। मैं कहां रहूँगा, सो तो ईश्वर ही जानता है। अगर मेरे सान्निध्य में ही करनी है तो जिधर मैं हूं, वहीं हो सकती है। सेवाग्राम आने की संभावना बहुत कम है। आज का ज़हर हमें कहां ले जायगा, उस पर सब निर्भर है।

यह वह समय था जब देश में साम्प्रदायिकता का नंगा नाच हो रहा था। राष्ट्रपिता क्षुब्ध थे, पर वे अर्जुन को भूले नहीं थे।

२५ नवम्बर '४७ को दिल्ली से ही श्री प्रभाकर को उन्होंने दूसरा पत्र लिखा—

अप्रैल मास तो मेरी नजर से बहुत दूर है। जब नजदीक आयेगा तो कह दूंगा कि साथ में किसको आना चाहिए।

पर बापू के जीवन में वह अप्रैल मास कभी नजदीक नहीं आया। ३० जनवरी को ही हत्यारे की गोली ने मनोरमा तथा अर्जुन के विवाह में बापू की उपस्थिति की प्रत्येक संभावना का अन्त कर दिया।

पर शरीर से चाहे उपस्थित न रहे हों, १३ मार्च १९४८ को देश के अनेक नेताओं के आशीर्वाद के साथ श्रीमती गोपराजु मनोरमा का श्री रावरि अर्जुनराव से सेवाग्राम आश्रम में जो विवाह हुआ उसमें बापू की आत्मा अवश्य उपस्थित थी। पूज्य ठक्कर बापा तथा जवाहरलाल जी भी वहां मौजूद थे।

एक आदर्श विवाह के रूप में हम आज इसकी चर्चा करते हैं, पर हमारी आंखें तो उस दिन की ओर लगी हुई हैं, जब ऐसे विवाह प्रत्येक दिन की कहानी रहेंगे, और इससे हमें कुछ भी आश्चर्य नहीं होगा।

★

स्व० अमृतलाल वी० ठक्कर

वी० आर० शिन्दे

अनेक वर्षों तक लकवे का शिकार रह कर श्री वी० आर० शिन्दे अभी हाल ही में स्वर्ग सिधारे हैं। पिछले १५ वर्षों से बीमार होकर चारपाई पकड़ने के कारण आज की जनता उन्हें बहुत ही कम जानती है।

मेरे चार गुरुओं में श्री शिन्दे एक थे। वे मेरे पिता के समान ही थे। जन-कल्याण के विषय में मैं जो कुछ सीख सका हूं, उन्हीं के चरणों में बैठ कर। आयु में मुझसे छोटे होने पर भी राष्ट्र-कल्याण के कार्यों में वे मुझसे कहीं आगे थे। दलित वर्गों की भलाई के लिए बम्बई की ओर होने वाले कार्यों के तो वे जनक थे ही, अन्य स्थानों में भी (पंजाब और उत्तर-प्रदेश को छोड़ कर) वे ही इसके अगुआ थे।

व्यावहारिक कार्यों का प्रथम पाठ मैंने श्री शिन्दे से ही पढ़ा। १६०६-७ के लगभग जब मैं बम्बई म्युनिसिपैलिटी की नौकरी करता था, मेरा काम शहर के बाहर कूड़ा-कर्कट उतरवाने का था। वहां दो तीन सौ माहर और मांग भंगियों द्वारा टट्टी उठाये जाने वाले कार्य से भी घृणित कार्य करते थे। इन्हीं लोगों के बच्चों के लिए स्कूल चलाने की शिक्षा श्री शिन्दे ने मुझे दी थी। बम्बई शहर के इन नीच कहे जाने तथा गन्दा काम करने वालों के लिए जितनी हो सके उतनी सुविधायें प्राप्त करने की भी मुझे शिक्षा मिली। १८८८ के बम्बई म्युनिसीपल एक्ट की किसी विशेष गलती के कारण जब मेरे द्वारा चलाये गये एक स्कूल को बम्बई कारपोरेशन से सहायता नहीं मिल सकी, तो श्री शिन्दे ने कारपोरेशन के ही किसी दयालु सदस्य के द्वारा अर्थ की व्यवस्था करवा दी।

समय बीतता गया। श्री शिन्दे को कार्यकारी मंत्री बनाकर हरिजन-सेवा के पथ पर कुछ कार्यकर्त्ताओं के साथ श्री एन० जी० चन्दावरकर आगे बढ़ते चले जा रहे थे।

पर इन दलितों के प्रति उनका भी कुछ कर्त्तव्य है, इस पर न तो उस समय की भारत-सरकार तथा न प्रान्तीय सरकारें ही ध्यान दे रही थीं। जन-सेवा के कार्यों का अगुआ तथा अन्य प्रान्तीय सरकारों के लिए उदाहरण-स्वरूप मद्रास-सरकार के मजदूर-विभाग का तो उस समय प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था। ईश्वर को धन्यवाद है कि यह विभाग अपने जन्म के पश्चात् उन्नति ही करता रहा। इसने प्रति वर्ष उपेक्षितों के लिए १०-१२ लाख रुपये खर्च किये। यद्यपि यह रकम कुछ अधिक सराहनीय नहीं है—यह तो सरकार की आमदनी के एक प्रतिशत से भी कम है—फिर भी दूसरी सरकारें तो और अधिक साधन रहते हुए भी इतना खर्च नहीं करतीं।

मतैक्य न होने के कारण काफी अरसे के बाद दलित-वर्ग-मिशन के सभापति तथा मंत्री ने आपस में संबंध-विच्छेद कर लिया, परन्तु श्री शिन्दे मराठी क्षेत्र के बम्बई, पूना, धारवार तथा नागपुर में अपना सेवा-कार्य चलाते ही रहे। १६०८ में काठियावाड़ के एक छोटे-से राज्य में हुई एक छोटी सी सभा में मुझे बोलने को उन्होंने बाध्य किया और जब मैं गुजराती में भाषण दे चुका तो उन्होंने मेरा काफी उत्साह बढ़ाया था, यह मुझे आज भी याद है।

१६२० के बाद श्री शिन्दे सक्रिय नहीं रहे। उसके बाद तो हिन्दू जाति से अस्पृश्यता हटाने के लिए गांधी जी ने देश-व्यापी हरिजन आन्दोलन आरंभ किया। पर वह कहानी ही दूसरी है।

श्री शिन्दे को रुपया कुछ नहीं के बराबर मिलता था, फिर भी अदम्य उत्साह से वे अपना सेवा कार्य चलाये जाते थे। अन्त तक अपने छोटे परिवार के साथ वे गरीबी में ही जीवन बिताते रहे। अभी तक जीवित उनकी विधवा बहन ने भी सेवा-कार्य की ही शिक्षा प्राप्त की थी। गरीब शिन्दे अपने पुत्रों को अच्छी शिक्षा भी नहीं दे सके। पर जीवन के अन्तिम काल में उनके एक पुत्र ने ही उनका भरण-पोषण किया।

आज की हमारी पीढ़ी श्री शिन्दे के विषय में बहुत कम जानती है। दूरदर्शी शिन्दे भारतीय जनता के छठे भाग—५ करोड़ हरिजनों के प्रति किये गये अन्याय का प्रतिकार करने में सदा उच्च सेवा-भाव से उस समय लगे रहे जिस समय समाज-सेवा के लिए—और विशेष कर हमारे दलित भाइयों की सेवा के लिए—कार्य-कर्त्ताओं का शायद ही कोई संगठन था। नयी पीढ़ी के सामाजिक क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं के लिए उनका जीवन एक प्रेरणा बने तथा ईश्वर उनकी आत्मा को शांति दें।

(१६४४ में लिखित)

पर ध्यान रखो, यदि तुम इस आध्यात्मिकता का त्याग कर दोगे और इसे एक ओर रखकर पश्चिम की जड़वाद पूर्ण सभ्यता के पीछे दौड़ोगे, तो परिणाम यह होगा कि तीन पीढ़ियों में तुम एक मृत जाति बन जाओगे, क्योंकि इससे राष्ट्र की रीढ़ टूट जायगी। राष्ट्र की वह नींव जिसपर इसका निर्माण हुआ है नीचे धंस जायगी और इसका फल सर्वांगीण विनाश होगा।

—विवेकानन्द

विनोबा भावे

स्त्रियों की जिम्मेदारी

एक जमाना था जब हम सुनते हैं कि गार्गी, मैत्रेयी और सुलभा जैसी स्त्रियों के पास ज्ञान प्राप्त करने के लिए पुरुष जाते थे। तामिल में भी औवैयार जैसे नाम मशहूर हैं। लेकिन बीच के जमाने में जब से हिन्दुस्तान में गुलामी आई; स्त्रियों का कार्यक्षेत्र बहुत संकुचित हो गया। लेकिन गांधीजी ने जब अपने ढंग से स्वराज्यका आन्दोलन शुरू किया, तो पुरुषों के जितना ही मान उन्होंने स्त्रियों को भी दिया और उनसे पुरुषों की बराबरी का काम लिया। आजकल दुनिया में समता का बोलबाला है। कहते हैं कि स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी में काम करने के लिए तैयार करना है। कवि भारतीयार ने भी "सरिनिहर्समान माह" का आदर्श बताया है। लेकिन स्त्रियाँ पुरुषों की बराबरी करें, सिर्फ इतना ही बस नहीं। क्योंकि पुरुषों की बुद्धि का तो दिवाला निकल चुका है। पचीस साल में वे दो महायुद्ध लड़ चुके हैं और आज भी उनकी लड़ाई की तैयारी चल रही है। स्त्रियाँ भी उनकी तरह पलटनें तैयार करेंगी तो वह बराबरी किसी काम की नहीं होगी। इसलिए स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी नहीं करनी है, बल्कि आगे आकर पुरुषों का बिगाड़ा हुआ काम सुधारना है, उनको लगाम देना है, उन्हें संयम में रखना है। पुरुषों को संयम में रखने का अर्थ है अहिंसा का प्रचार। और गांधीजी ने स्त्रियों से यही आशा रखी थी।

दुनिया हिंसा कर-करके थक गई है, थक जानेवाली है। उसके बाद अहिंसा को रास्ता मिलेगा और तब स्त्रियों को काफी काम करना होगा। समाज-व्यवस्था का आधार जब तक हिंसा का था, स्त्रियाँ पुरुषों की बराबरी नहीं कर सकती थीं; क्योंकि शारीरिक शक्ति में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक बलवान होते हैं। लेकिन जब समाज-व्यवस्था का आधार अहिंसा का होगा, तब पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक बलवान साबित होंगी और तब सच्चे अर्थ में वे दुनिया की माता बनेंगी। गुरु भी वे ही होंगी।

स्त्रियों में जो गुण होते हैं, उनमें प्रेम और संयम तो होता ही है, साथ ही निर्भयता भी होनी चाहिए। निर्भयता के बगैर सच्ची अहिंसा नहीं आ सकती। वह शक्ति स्त्रियों को अभी सिद्ध करनी है। भयभीत मनुष्य में दूसरे कितने ही गुण हों, तो भी उनकी कोई विशेष कीमत नहीं। निर्भयता के साथ ही दूसरे गुणों का प्रकाश होता है। स्त्रियों में संकोच होना चाहिए ऐसा माना गया है, और वह ठीक भी है। लेकिन संकोच के साथ निर्भयता भी होनी चाहिये, तभी संकोच शोभा देता है। संस्कृत कवियों ने स्त्रियों को भीरु कहा है और भीरुता को स्त्रियों का एक गुण माना है। लेकिन यह गलत खयाल है। भीरुता गुण नहीं, दोष है। इसलिए स्त्रियां निर्भयतापूर्वक देहात में काम करेंगी, तो गांधीजी की आशा सफल होगी।

क्षय-निवारण के साधन

यह सिद्ध हो चुका है कि अन्य रोगों की तरह क्षयरोग का भी निवारण हो सकता है, और यह भी एक साधारण छूत का रोग है, जो कीटाणुओं से पैदा होता है। यह जन्म के बाद ही लगता है, गर्भस्थ शिशु को क्षयरोग नहीं हो सकता, और रोग हो जाने के बाद भी उसका बचाव और इलाज कठिन नहीं है। यह बात सर्वसाधारण को अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि जितनी ही अधिक इस रोग के विषय में जानकारी बढ़ेगी, उतना ही अधिक इस रोग के फैलने में बाधा होगी। यदि जनता जान जायगी कि यह रोग किस प्रकार फैलता है, तो इसे रोकने का उपाय सहल हो जायगा।

क्षयरोग के कीटाणु रोगी के शरीर या उससे निःसृत होनेवाले द्रव्यों में पाये जाते हैं, जैसे कफ़, मवाद, मलादि में। रोगी का इधर-उधर थूकना इस रोग के फैलने का सबसे बड़ा कारण है। रोगी को इस बात की जानकारी होनी चाहिए, और उसके थूकने के लिए एक चिलमची अलग रखी रहनी चाहिए। रोगी की अनवरत सुश्रूषा से ही इस रोग की वास्तविक रोक-थाम की जा सकती है।

भारत में क्षयरोग आजकल वृद्धिपर है। समय-समय पर प्रकाशित होनेवाले आँकड़े हमें रोगियों की वास्तविक संख्या नहीं बतला सकते, क्योंकि कई रोगी तो बिना डाक्टरी परीक्षा के ही रह जाते हैं, और कई, जिनकी डाक्टरी परीक्षा होती भी है, अधिकतर बिना इलाज के ही रह जाते हैं।

हमारे शरीर में प्रायः क्षय के कीटाणु रहते हैं, शारीरिक शक्ति तथा कीटाणुओं में निरन्तर संघर्ष होता रहता है। जहाँ शारीरिक शक्ति बलवती होती है, वहाँ इन कीटाणुओं का वश नहीं चलता ; परन्तु शक्ति का ह्रास होने पर शत्रु कब्जा कर बैठता है और शरीर आक्रमणकारियों का क्रीड़ास्थल हो जाता है। यह संघर्ष बहुत लम्बा होता है, और स्वास्थ्य धीरे-धीरे ह्रास की ओर जाने लगता है। इसीलिए हमारे शरीर में सर्वदा बाहर के आक्रमणकारी रोग-कीटाणुओं से बचने की क्षमता होनी चाहिए। जिन कारणों से शरीर निर्बल या क्लान्त होता है, वे सब कारण क्षय की वृद्धि करनेवाले होते हैं अतः उनसे बचना चाहिए।

अकाट्य प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया गया है कि क्षय की छूत जन्म के बाद ही शरीर में आती है। हिसाब लगाया गया कि इंलैण्ड में कीटाणु-वाहक बच्चोंका अनुपात इस प्रकार बढ़ता है :—

पहले वर्ष में	५ प्रतिशत
दूसरे ,,	१४ ,,
तीसरे ,,	३३ ,,
चौथे ,,	३८ ,,
पाँचवें ,,	५१ ,,

इसी प्रकार ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों अनुपात भी बढ़ता जाता है। शहरों में वयस्क कीटाणु-वाहकों का अनुपात ६८ प्रतिशत होता है और गाँव में ७० प्रतिशत तक।

श्वास और भोजन सबसे प्रमुख मार्ग होते हैं, जिनसे क्षय के कीटाणु शरीर में प्रवेश करते हैं। कभी-कभी क्षय के टीके से भी कीटाणु प्रबल हो जाते हैं। शरीर में प्रवेश करने के बाद कीटाणु श्लेष्मा में मिल जाते हैं। यहाँ पर रोग के विष और वाहक की निरोध-शक्ति में संग्राम होता है, जिसका परिणाम कमजोरी, वजन घटना, परिश्रम के बाद तापमान बढ़ना, मन्दाग्नि, निद्रा में बेचैनी इत्यादि होता है। इस संग्राम में यदि रोग के कीटाणु विजयी हो जायँ, तो वे रक्त-प्रवाह में मिल जाते हैं और शरीर में कहीं उपनिवेश बसा लेते हैं। यहाँ फिर संग्राम होता है। यदि परिस्थिति वाहक के अनुकूल हो, तो कीटाणु धीरे-धीरे मर जाते हैं, केवल व्रण का दाग रह जाता है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति की निरोध-शक्ति कम हो, तो कीटाणु विजयी होते हैं, और वह क्षय द्वारा आक्रान्त हो जाता है।

क्षय के निवारण के लिए व्यक्ति की शैशवावस्था से ही प्रबन्ध करना अत्यावश्यक है। उसके शरीर को पूर्ण रूप से स्वस्थ रखने के उपाय करने चाहिए और उसकी नैसर्गिक निरोध-शक्ति को अधिकतर बलवती बनाना चाहिए। ताजी हवा और अबाध धूप ऐसी दो बड़ी शक्तियाँ हैं, जिनकी सहायता से व्यक्ति उपर्युक्त दोनों वस्तुएँ स.ज हीं प्राप्त कर सकता है। अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि इन दो शक्तियों का प्रभाव मनुष्य के चमड़े पर पड़कर भी शरीर की भीतरी शक्तियों को उत्तेजित करता है, उन्हें प्राणदायिनी स्फूर्ति देता है।

बच्चे को बन्द कमरे के घिरे हुए और दूषित वायुमण्डल में रखने का अर्थ है उसे जुकाम तथा अन्य श्वास रोगों के प्रति निर्बल बना देना, और इन रोगों का आक्रमण क्षय की भूमिका है। बहुत से घरों में बच्चों को घिरे हुए कमरों में—विशेषतया रात में—रखने की प्रथा है। माता-पिता अपने बच्चों को ऐसे रखकर निश्चिन्त हो जाते हैं, मानों रोगों के कीटाणु खुली खिड़कियों से ही प्रवेश पाते हों! किन्तु इन रोगों से बचाव तभी हो सकता है, जब माता-पिता यह जान जायँ कि वे अपनी सन्तानों को घिरे हुए कमरों में बन्द करके उन्हें धीरे-धीरे मृत्यु-मुख में ढकेलने का कारण स्वयं बन रहे हैं। आम तौरपर माता-पिता सोचते हैं कि खुली हवा और धूप में घूमने से बच्चों का रंग काला हो जायगा; किन्तु क्या कभी उन्होंने यह भी सोचा कि इनसे बचाकर रखे गए बच्चे बड़ी सरलता से क्षय के कीटाणुओं के शिकार हो जाते हैं? कई घरों में खिड़कियाँ इसलिए बन्द रहती हैं कि सूर्य की किरणों से घर की सजावट की वस्तुएँ खराब होती हैं। उन गृहस्थों को यह सीखना अत्यन्त आवश्यक है कि

मानव-जीवन उन वस्तुओं से कहीं अधिक मूल्यवान है।

बच्चे के शारीरिक विकास के लिए धूप-स्नान तथा वायु-स्नान उसके जन्म के थोड़ी देर पीछे ही आरम्भ हो जाने चाहिए। आरम्भ में ये स्नान कुछ मिनट के लिए होने चाहिए और फिर नियम के अनुसार क्रमशः मात्रा बढ़ानी चाहिए। पहले हमारी माताएँ जानती थीं—और गाँवों में कहीं-कहीं शायद अब भी जानती हों—कि नवजात शिशु के निरावरण शरीर के लिए धूप और ताजी हवा कितनी लाभप्रद होती है। धूप और हवा का निरन्तर और अबाध संसर्ग बच्चे की निरोध-शक्ति को प्रबल बना देता है और उसके शारीरिक विकास को अधिक स्वाभाविक कर देता है। बलवान शिशु अन्धकार से उत्पन्न होनेवाले समस्त रोगों पर विजय प्राप्त करता है और क्षय भी उसके पास नहीं फटक सकता। दैनिक धूप-स्नान बच्चे को कुछ देर के लिए कपड़े की कई तहों से बचाए रखता है, जो शिशु को कष्टकारी होने के अतिरिक्त अति अस्वास्थ्यकारी भी है। बच्चे को बहुत से कपड़े पहनाना अत्यन्त हानिकारक होता है और बहुत से रोगों को निमंत्रण देता है। स्विट्जरलैण्ड में मैंने बच्चे देखे, जो नंगे बदन धूप में खेलते रहते हैं, तो भी जुकाम तथा अन्य श्वास रोगों से बिल्कुल मुक्त हैं। और उनके शारीरिक विकास का तो कहना ही क्या। जब ठंडे देशों में लोग कम से कम कपड़े पहनना लाभप्रद समझते हैं, तो भारत-जैसे गर्म देश में इतने अधिक कपड़े पहनने का क्या अर्थ है, समझ में नहीं आता।

बच्चे के खान-पान की जितनी देखरेख यूरोप और अमेरिका में होती है, उतनी भारत में नहीं। इस उपेक्षा का फल अत्यन्त हानि-प्रद है, और समस्त देश में हम कठिनता से ऐसा कोई घर पायँगे, जो अपने बच्चों के पूर्ण स्वस्थ होने और उनके पेट के रोगों से मुक्त होने पर गर्व कर सके। कई माताएँ अपने बच्चों को अपना दूध पिलाने तक के विषय में असावधान होती हैं। वे भूल जाती हैं कि दाँत आने से पूर्व माँ का ही दूध बच्चे का सबसे उत्तम भोजन है। किन्तु जब माँ की शारीरिक अवस्था बच्चे के पोषण का भार उठाने में असमर्थ हो, तो शिशु को गाय का दूध देना उत्तम होगा। स्मरण रहे कि शिशु की आयु के अनुसार गाय के दूध में जल की मात्रा न्यूनाधिक करके ही उसे पिलाना चाहिए, क्योंकि खालिस दूध पचाने में शिशु को कठिनाई होती है।

दुग्धपान क्षय के निवारण में बहुत सहायता करता है। अमेरिका में अनुभवों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि जितना ही अधिक दुग्धपान होगा, उतना ही क्षय के दूर जाने की सम्भावना है। यह भी कहा जाता है कि गत महायुद्ध के बाद जर्मनी और आस्ट्रिया में दूध की कमी के कारण क्षय रोग की बहुत वृद्धि हुई। पिछले कुछ वर्षों में उन देशों में दुग्धपान पर अधिक ध्यान दिए जाने से क्षय के रोगियों की संख्या कम हो गई है। इन देशों के उदाहरण हमें दुग्धपान की आवश्यकता पूर्णरूप से बतलाते हैं। क्षय के रोकने में दूध रामबाण है। निरन्तर

के ठोस प्रयोगों द्वारा इंगलैण्ड, फ्रांस, अमेरिका, न्यूजीलैण्ड, जापान प्रभृति देशों ने यह सिद्ध कर दिखलाया है कि दूध किसी भी आयु के मनुष्यों के लिए एक आवश्यक खाद्य-वस्तु है --विशेषतया शिशुओं के लिए, क्योंकि दूधसे उनकी हड्डियों की गढ़न में मजबूती आती है और उनका शारीरिक विकास स्वाभाविक रीति से होता है, जिससे क्षय और अन्य ऐसे ही भीषण रोगों से वे बच जाते हैं।

हमारे स्कूल भी क्षय के फैलाने में बड़े सहायक हैं। अनावश्यक घिरे हुए तथा गर्म कमरे, उन्हीं दम घुटनेवाले कमरों में लम्बे-लम्बे थका देनेवाले घण्टों की पढ़ाई विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त हानिकारक है और उनकी दुर्बलता तथा निरोध-शक्ति के ह्रास का कारण है। यही दुर्बल शिशु क्षय के कीटाणुओं के शिकार बनते हैं। बालकों की वृद्धि के लिए दौड़-धूप और व्यायाम आवश्यक है। व्यायाम की कमी शरीर के अवयवों को शिथिल बनाती है और क्षय की सम्भावना बढ़ा देती है। लड़कियों में भी स्कूल में बन्द रहने के परिणाम-स्वरूप रक्त की कमी, कोष्ठबद्धता और ऋतु-दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जो उन्हें न केवल दुर्बल बना देते हैं, बल्कि आयु-भर उनका पीछा नहीं छोड़ते। हाई स्कूल और कालेज की लड़कियाँ लेक्चर छूट जाने के डर से ऋतुकाल में भी पढ़ने जाकर अपने को भारी क्षति पहुँचाती हैं। इस काल में लड़कियों को पूर्ण विश्राम करना चाहिए। शिक्षा के अधिकारियों को भी इस ओर ध्यान देना चाहिए।

जहाँ मौसिम अनुकूल हो, वहाँ पढ़ाई खुली हवा में होनी चाहिए। इसके लिए स्विट्जरलैण्ड के डाक्टर रोलिए के 'धूप-स्कूल' की प्रणाली पर भारत में भी बहुत से स्कूल खुलने चाहिए। यह क्षय-निवारण के क्षेत्र में बड़े महत्व का कार्य होगा। इसके अतिरिक्त नगर से दूर खुले स्थानों में छुट्टियाँ बिताने की परिपाटी भी चलानी चाहिए। इससे स्वास्थ्य-लाभ के अतिरिक्त प्रकृति-निरीक्षण की रुचि भी बढ़ेगी। बालकों का शारीरिक विकास करने के लिए जहाँ सम्भव हो, वहाँ चलते-फिरते क्लास भी होने चाहिए। नगरों में ऐसी श्रेणियां सार्वजनिक पार्क में किसी विशाल वृक्ष की छाया में या नदी के किनारे जुटनी चाहिए। गांवों में तो इसके लिए अनेकों उपयुक्त स्थल मिल जायँगे। स्कूल में और घरपर बालक के फेफड़ों के विकास की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्राणायाम, सीधा चलने आदि से छाती चौड़ी होगी, फेफड़े मजबूत होंगे और क्षय की आशंका मिट जायगी।

क्षय-निवारण के लिए भोजन का महत्व तो सभी अवस्थाओं में रहता है। भोजन का पहला सिद्धान्त यह होना चाहिए कि वह मात्रा में और गुरुता में न्यूनाधिक न हो। बहुत लोग यह भूल जाते हैं कि खाना जीने के लिए होता है, न कि जीना खाने के लिए। तरुण शरीरों को अन्न, हरा शाक, फल और दूध अत्यन्त आवश्यक हैं। मांसाहार भारत जैसे गर्म देश में बिलकुल आवश्यक नहीं है। ऋतुओं के अनुसार भी भोजन में परिवर्तन होना चाहिए, यथा जाड़े में घी अधिक मात्रा में खाना चाहिए और गर्मियों में शाक और फल। मादक द्रव्य घोर अनिष्टकर हैं—विशेषतया शराब पीनेवाले क्षय का सामना नहीं कर सकते।

स्कूल के समय का विभाजन ऐसा होना चाहिए कि उसमें विद्यार्थियों को दो-तीन घंटे विश्राम मिल सके। स्कूलों की सब श्रेणियों में पुस्तकों, चित्रों, सिनेमा-चित्रों और

व्याख्यानों द्वारा क्षय-निवारक प्रचार होना चाहिए।

विद्यार्थियों में क्षय-निवारण के बारे जो-कुछ कहा गया है, वही वयस्क लोगों के लिए भी लागू है। उनके लिए भी क्षय-निवारण के वही चार नियम हैं :—

(१) स्वच्छ हवा और ताजी धूप।
(२) उचित और पर्याप्त भोजन।
(३) नियमित व्यायाम।
(४) पर्याप्त विश्राम।

हमारे देश में क्षय की वृद्धि का एक बड़ा कारण यह भी है कि रोगियों को अलग रखने की व्यवस्था नहीं होती। निस्सन्देह इसका मुख्य कारण निर्धनता है; किन्तु अज्ञान भी बहुत हद तक जिम्मेवार है।

जहाँ रोगियों के लिए अस्पतालों की व्यवस्था होनी चाहिए, वहाँ उन बहुसंख्यक लोगों के लिए भी कुछ प्रबन्ध होना चाहिए, जो रोगी नहीं हैं; किन्तु किसी कारण से ऐसी दुर्बल अवस्था में हैं कि उनके रोगी हो जाने की सम्भावना है। ऐसे सम्भावनीय रोगियों के लिए भी उचित स्थानों पर आवास-गृह होने चाहिए। इन आवास गृहों में वे स्वास्थ्य-प्रद जीवन-यापन करेंगे और समय-समयपर उनकी डाक्टरी परीक्षाएँ होंगी, जिनसे उनके स्वास्थ्य अच्छे होने का पता लगता रहेगा; किन्तु ऐसी संस्थाओं के नाम के साथ क्षय के नाम का कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। उससे साधारण जनता के मन में सन्देह तथा भय बैठ जायगा, और वे इन संस्थाओं से लाभ उठाने से वंचित रह जायँगे।

क्षयरोग-निवारक आन्दोलन का संचालन एक केन्द्रीय संस्था द्वारा होना चाहिए जिसकी शाखाएँ देश भर में फैली हुई हों। संस्था का कार्य निम्नलिखित प्रकार से होना चाहिए :—

(१) क्षय-निरोध के लिए देश-भर में व्यापक और अनवरत आन्दोलन हो। इसके लिए चलती-फिरती स्वास्थ्य-प्रदर्शनी भी काम में लाई जा सकती है। मोटरलारी पर जुटाई हुई यह प्रदर्शनी सारे देश में घूमकर नक्शों, चित्रों, फोटो, आँकड़ों और छोटी-छोटी पुस्तिकाओं द्वारा स्वास्थ्य-प्रचार कर सकती है। डाक्टरों और विशेषज्ञों द्वारा व्याख्यान का भी प्रबन्ध हो सकता है। देहातियों, स्त्रियों और बच्चों के लिए विशेष व्याख्यानों का प्रबन्ध हो, जिनमें रोचकता का ध्यान रखा जाय। जनता के सम्पर्क में आने का और उन्हें स्वास्थ्य-रक्षा के लिए सतर्क करने का यही उत्तम साधन होगा।

(२) चिकित्सा द्वारा रोग मुक्त किए गए मरीजों के संरक्षण-केन्द्रों की स्थापना। केम्ब्रिज की पेपवर्थ सेटलमेन्ट हमारी मार्ग-दर्शक हो सकती है।

(३) सम्भावनीय रोगियों के लिए केन्द्रों की स्थापना।

(४) सब प्रकार के क्षयरोगियों की खोज करके उन्हें इलाज के लिए उपयुक्त स्थानों पर पहुँचाना। यह काम चलती-फिरती प्रदर्शनी के सुपुर्द किया जा सकता है।

(५) शहरों की गरीब बस्तियों की सफाई और धुएँ अथवा धूल का इलाज।

(६) मद्य-सेवन का निरोध।

(७) क्षय-निवारण के लिए आवश्यक कानूनों का निर्माण। —संकलित

★

नगेन्द्र नारायण सिंह

मसूरी से टिहरी

मसूरी गांधी चौक के दशहरे की रोशनी देखकर जब अपने होटल में पहुंचा तो बगल के कमरे से श्री परमानन्द ढुढ़ियाल ने आकर कहा कि वे कल यहां से ४० मील दूर टिहरी (गढ़वाल) किसी कार्यवश पैदल ही जा रहे हैं। उन्होंने मुझे भी साथ चलने का निमंत्रण दिया। पर्वत-प्रदेश की पैदल यात्रा और वह भी उसी प्रदेश के रहने वाले एक शिक्षित नवयुवक के साथ—मैं यह लोभ संवरण नहीं कर सका और उनका साथ देने का निश्चय कर लिया।

तारीख ११ अक्टूबर की सुबह। नियमानुसार सबेरे ही उठकर अपने कमरे की सफाई तथा साथ लगी टट्टी और स्नान-गृह की धुलाई के पश्चात् नहा-धो कर मैं तैयार हो गया। साथ ले जाने वाली अनिवार्य वस्तुओं को एक हैंड-बैग में रखकर हमने सुबह ९ बजे प्रस्थान किया।

जहां रात का महत्त्व अधिक है ऐसी मसूरी के लिए ९ बजे सुबह अभी सबेरा ही था। अभी तो नगर की सफाई ही की जा रही थी और सड़कों की बगल में बरतनों की व्यवस्था होते हुए भी इधर-उधर फेंकी हुई पीक के दाग बेचारे भंगी रगड़-रगड़ कर छुड़ा रहे थे। लैन्डोर बाजार पार करते-करते १० तो बज ही गये। इस समय तक नगर-पालिका की सीमा पार कर हम जब्बरखेत पहुंच चुके थे। यहां पर आलू लदे खच्चरों का तांता बंधा देखा जो दस आने फी खच्चर चुंगी देकर मसूरी शहर में प्रवेश के लिए खड़े थे। आलू यहां के पहाड़ियों का मुख्य भोजन है, पर ये उन गरीबों को नसीब न होकर मसूरी में आये सैलानियों की सेवा में पहुंचाये जाते हैं। ऐसी व्यापार-व्यवस्था किस काम की!

ग्यारह बजते-बजते हम दोनों मसुरौना पहुंचे। रास्ता चलते-चलते थोड़ी भूख लग आई थी। एक छोटी-सी दूकान पर रुक कर मावा खाया। पानी मांगने पर दूकानदार ने मावा खाकर पानी पीना हानिकर बताया। हम विश्वास कर गये। इतने में दो यात्री और वहां आये और पानी मांगा। पर दूकानदार ने साफ इन्कार कर दिया। उनके चले जाने पर मैंने कहा—पानी पिलाना तो धर्म ही नहीं, मनुष्योचित व्यवहार भी है। तुम्हें पिला देना चाहिए था। दूकानदार ने उत्तर दिया कि पानी का खड्ड यहां से दूर है और इस तरह पनशाला चलाने में उसे १०) तो हर महीने बैठ ही जायेंगे। पर मैं बोला—यात्री ही कितने चलते हैं? सिवा कुछ खच्चरों तथा साग-सब्जी वालों के और इधर से गुजरता ही कौन है? और फिर इस सर्द प्रदेश में प्यास का भास ही

कितना होता है ? अतः दो-चार भाइयों को यदि पिला ही दिया तो उसमें जाता क्या है ? पर बिना कोई उत्तर दिये दूकानदार अपना हुक्का एक ओर रख मावा के गट्ठों को मसूरी भेजने के लिए खच्चरों पर लादने लगा। मैंने सोचा—गांव नगरों के लिए ही जीता है और जो भी उपजाता है नगर के उपयोग के लिए ही दे देता है, फिर पीछे स्वयं चाहे भूखों ही क्यों न मरे। आज के जमाने में हम पैसा की तराजू पर हर चीज तौलते हैं। पहले के समय में पैसे का त्याग करके ही नहीं, बल्कि व्यय करके भी लोग धर्म करते थे, पर अब तो पैसा पैदा करने के लिए धर्म-कर्म सभी छूटते जा रहे हैं। अब तो हम पैसा खर्च भी करते हैं तो नाम और यश के लिए ही; कुछ परोपकार के लिये नहीं। और तमन्ना रखते हैं स्वर्ग की !

छोड़ा नहीं खुदी को,
दौरे खुदा के पीछे।
आसां को छोड़ बन्दे
मुश्किल को ढूंढते हैं ॥

बारह बजे सुआखोली पहुँच कर थोड़ी सांस ली। यों तो चढ़ाई का प्रारंभ शुरू से ही था, पर उसका अनुभव सुआखोली से अधिक होने लगता है। मैं मैदान का रहने वाला, इतने में ही काफी थक गया था। आगे तो और भी चढ़ाई थी। मेरे पहाड़ी मित्र ने मेरी परेशानी देखी तो मेरा हैंडबेग मुझसे ले लिया। आगे चल कर उन्होंने मेरे कन्धे से ऊनी और सूती चादरें भी ले लीं। मैंने कुछ हल्का अवश्य प्रतीत किया। सामान अपने दोस्त पर लदा देख बहुत लज्जित होता था, पर मेरे लिए शायद दूसरा चारा भी नहीं था।

आगे हम बुराँसखंडा पहुँचे। यहाँ बुराँस वृक्षों की बहुतायत है, और इन्हीं वृक्षों के कारण इस जगह का नामकरण हुआ है। कहते हैं कि इस वृक्ष के पत्तियों का इतना तेज असर होता है कि अगर पकाने के समय छोटी मछली में डाल दिये जायं तो उसके कांटे तक गल जायं।

बुराँसखंडा से टिहरी की राह कुछ अधिक साफ मिलती है, फिर भी मार्ग कुछ इतना कंकरीला-पथरीला है कि सचमुच पहाड़ का चलना पहाड़ हो जाता है और यही कारण है कि इधर वाणिज्य-व्यवसाय कुछ नहीं के बराबर होता है। दो-चार मील चलें तो कहीं किसी व्यक्ति से भेंट हो जाये। दुख ही नहीं लज्जा का विषय है कि इन सड़कों के सुधार की ओर न तो पहले कभी टिहरी रियासत का ध्यान गया और न अब तक भारत-सरकार का। धन्य हैं वे पहाड़ी जो ऐसी राह चलते हैं। एक ओर तो ऊँचे-ऊँचे पर्वत और दूसरी ओर पर्वत का भयानक ढलान ही नहीं, बल्कि एकदम खड़ी खाई जिधर देखते ही होश हिरण हो जाए। एक पग इधर या उधर और फिर सैकड़ों फीट नीचे पहुँचते देर नहीं। आजतक कभी ऐसी दुर्गम राह से गुजरा नही था। मैं तो राम-राम करता जा रहा था।

आगे चले तो एक कोल युवक से भेंट हुई। कोलों का शुमार परिगणित जातियों में होता है। उससे पता चला कि छूआछूत का रोग पहाड़ियों को भी बुरी तरह लगा हुआ है। कुंए तो यहां देखने में आते नहीं, पर सवर्ण भाइयों ने इन अछूत कहे जाने वालों से अपना पानी का झरना तक अलग रखा है। गढ़वाली हिन्दू मुर्ग पालते और खाते हैं, पर इन कोलों से छूत मानते हैं। कैसी विडम्बना है!

दिन भर में मुश्किल से हम १५ मील चल पाये थे। सिन्धु तट से ६५०० फीट पर बसी मसूरी से चढ़कर संध्या के ६ बजे हम ८००० फीट ऊँचे देवदार के घने जंगलों के बीच धनोल्टी पहुँचे। वहाँ एक चाय की दूकान थी जिसका दूकानवाला मेरे मित्र का पूर्व परिचित था। हम दूकान के पास थक कर बैठ गये। छावनी के बाहर शीत और ठंढ थी। हम थके-मांदे वहीं पर बैठे रहे। छावनी के भीतर चायवाला मजे में आग सेंक रहा था। बाहर हम ठंढ खा रहे थे, पर हमें भी भीतर बुला ले यह शिष्टाचार यहाँ कहाँ!

वहाँ से चाय पी कर हम धनोल्टी के छोटे से धर्मशाला में पहुँचे। धर्मशाला खच्चरों की लीद से भरा था। किसी तरह एक सरकारी कर्मचारी के यहाँ जगह पायी। उसने खाट, कम्बल, अंगीठी सब दिये। मैं बहुत ज्यादा थका था। सिर्फ थोड़ा दूध पी कर सोने की तैयारी करने लगा।

सोने के पहले एक मजेदार मुकदमे की कार्रवाई देखी। यह मुकदमा विवाह-विच्छेद का था (जो इन पहाड़ियों के लिए कोई नयी बात नहीं) और उस सरकारी कर्मचारी के पास फैसले के लिए आया था। २४-२५ वर्ष की एक पहाड़िन थी, विवाहिता, पर अब वह किसी दूसरे के साथ बैठना चाहती थी और इसीलिए वह पहाड़िन, उसका पति तथा उसका प्रेमी तीनों आये थे। पति को इसके लिए कोई एतराज नहीं था। हां, उसका कहना था कि प्रेमी उसे १०००) रु० दे दे, क्योंकि विवाह के समय उसने ५००) रु० तो पत्नी के पिता को दिये थे, और ५००) रु० अन्य आयोजनों पर खर्च हुआ था। मुकदमे का फैसला मिनटों में हुआ। वह इस तरह कि 'बेला ज़र इश्क़ टें-टें'। न वह हजार रुपये दे सका, न अपनी चहेती को घर बिठा सका। यहां की कुछ ऐसी रीति है कि एक स्त्री के जितने विवाह होते हैं, उसका मूल्य उतना ही बढ़ता जाता है।

धनोल्टी से १२ अक्टूबर की सुबह ६ बजे हम रवाना हो गये। इस अंचल में खेती कुछ अधिक मात्रा में होती है। पर पहाड़ की खेती ही क्या! उस ढलान पर सौ-सौ डन्डों की सीढ़ियों जैसे लम्बे-सँकरे खेतों में अन्न उपजाना क्या कोई आसान काम है! कन्धों पर हल रखे और हाथ में बैलों की डोर थामे ये पतली सीढ़ियां चढ़ना-उतरना धन्य हैं ये परिश्रमी पहाड़ी!

धनोल्टी से एक घंटा में हम उस पहाड़ के निकट पहुँचे जिसकी ९००० फीट ऊँची चोटी पर अति प्राचीन सुरकंडा देवी का

मंदिर है। हम बहुत थक चुके थे और फिर यह ऊँचाई तो हमारे वश के बाहर की बात थी। अतः हम नीचे से ही प्रणाम कर आगे बढ़े।

नौ बजे कद्दूखाल पहुंचे। इसी के नीचे की ओर उनियाल गांव है जहाँ से टिहरी राजा को राजच्युत कर प्रजातंत्र की स्थापना का प्रथम आन्दोलन प्रारंभ हुआ था। पर आज राह में तथा उस गांव में भी जिसे देखा सब असन्तुष्ट थे और राजा के राज्य को ही अच्छा बता रहे थे।

मैंने उनमें से एक से कहा—तुम्हारे ऊपर न जाने कितने राजकर लगा करते थे, जैसे रोड टैक्स, कस्टम ड्यूटी, प्रोफेशनल टैक्स, जियाजी कर, पिछले कितने प्रकार के नजरानों की वसूली, कुलियों के ऊपर टैक्स इत्यादि; अब तो उन सबसे बरी हो। और इसके अतिरिक्त भी नयी-नयी कितनी सुविधायें मिली हैं। ये सब पसन्द नहीं क्या?

उन लोगों ने कहा—नया शासन तो और भी झंझट खड़ा करता है। पहले तो तकलीफ थी तो सुनवाई भी होती थी, अब तो सुनवाई भी नहीं होती। और अगर होती है तो सिर्फ पैसेवालों की। अमला तो पहले भी लेते थे, पर अब जितना सता कर, न बढ़ा कर। मैंने कहा—इसके सिवा और भी कुछ? यों तो शिकायतें कहां नहीं हैं, थीं, या रहेंगी? तब वे बोले—हम तो आज की सोचते हैं। और यदि कल की भी कहें तो कहना पड़ता है कि गो मुसीबतें थीं हज़ार, लेकिन वह ज़िन्दगी भी बुरी नहीं थी।

११ बजे हम कानाताल पहुंचे। सेब के बगीचे यहां बहुतायत से हैं। एक-एक पेड़ के फल की आमदनी सालाना ५००) तक की है। यहां का एक सरकारी कर्मचारी मेरे मित्र का परिचित ही नहीं वरन् उनके साथ काम करने वाला भी निकला, अतः भोजन की उसके यहां ही ठहरी। पहाड़ी लोग चावल अधिक खाते हैं, इसलिए हमें भी चावल ही मिला। भोजन के बाद जब हमारे साथी ने पैसा देना चाहा, तो उसने एक हल्के 'नहीं' के साथ सवा रुपया स्वीकार कर लिया! ऐसी रही हमारी पहाड़ की खातिर-दारी!

वहां से हम आगे बढ़े तो देवदारु तथा चीर के घने जंगल मिले जिसे पार करने में दो घंटे लग गये। इनको कौड़िया का जंगल कहते हैं। चीर के वृक्ष की हवा यक्ष्मा के रोगियों के लिए लाभप्रद कहा गया है। यदि मार्ग सुविधाजनक होता तो यहाँ एक अच्छा खासा सैनाटोरियम बन सकता था। देवदारु की उपयोगिता तो किसी से छिपी नहीं। यहाँ सेब के भी बाग हैं। पहाड़ी सेब कुछ तुर्श होते हैं, इसलिए काश्मीरी से कुछ सस्ते बिकते हैं। यहां के जंगल वृक्षों से भरे हैं। बांझ, बुरांस और भालू के प्रिय भमोरे अत्यधिक मात्रा में पाये जाते हैं। इन पहाड़ों में फर्न की तो बात पूछो नहीं। जिन फर्नों से हम इतने चाव से अपने गमले और बंगले सजाते हैं तथा ग्रीन-हाउस बनाते हैं, वे यहां यों ही झाड़ियों की तरह उगे

मिलते हैं। कौड़िया के बीच शिकारियों तथा सरकारी कर्मचारियों के लिए अच्छे बंगले बने हैं। यहाँ जंगली जानवर राह चलते आस-पास ही मिल जाते हैं। तीतर, चकोर तथा जंगली मुर्ग की यहाँ बहुतायत है। इधर पानी के कई झरने भी राह में मिले। इन झरनों के पानी में पत्थर के कण मिले होते हैं, अतः जब तक ये कण नीचे बैठ न जायं, पानी नहीं पीना चाहिए।

बाल-का-खाल तथा काफला-पानी नामक स्थानों से होता हुआ ६ बजे सुबह का चला ६ बजे संध्या में बेरगनी चट्टी पर पहुँचा। इस जगह की ऊँचाई लगभग ४००० फीट रह जाती है, अतः यहां खेती कुछ अधिक मात्रा तथा व्यवस्था में होती देखी। खेत के मेढ़ पत्थरों से बंधे थे।

पहाड़ की चढ़ाई जितनी कठिन है, उतराई उससे थोड़ी ही कम। मेरी यात्रा का यह दूसरा दिन था और ३४ वां मील। कल १५ मील चला था और आज १६ मील। टिहरी यहां से सिर्फ ६ मील और रह गयी थी, पर—

किस्मत पर उस
मुसाफिरे बेकस की रोइये।
जो थक गया हो,
सामने मंज़िल के बैठ के॥

सचमुच मैं थक कर चूर हो रहा था। मेरे लिए ये ६ मील सौ मील हो रहे थे। मैं आगे बढ़ने से लाचार हो गया। पर मेरे साथी का टिहरी पहुँचना आज आवश्यक था। अतः मुझसे पूछ कर वे अपनी राह बढ़े। मैं एक बनिया की दूकान पर कुछ खा कर सो रहा। लेकिन हमारे चलने और एक पहाड़ी के चलने में कितना अन्तर है! जिस मार्ग को मैंने १२ घंटे में तय किया और फिर थक कर आगे नहीं जा सका, उसी मार्ग को हमारा धनोल्टी का मेजबान सिर्फ ६ घंटे में तय कर फिर ६ मील आगे टिहरी भी उसी रात चला गया। मसूरी के दो पहाड़ी जो वहां 'सीजन' कमाने गये थे, अब उसके अन्त होने पर अपनी कमाई की गठरी सर से बांध कर पीठ पर लादे टिहरी से भी दो दिन आगे का रास्ता तय कर रहे थे। वे उस रात मेरे साथ ही टहरे थे। बोझ से उनकी पीठ छिल गयी थी फिर भी वे बढ़ते ही जाते थे। कैसी सहन शक्ति और कितना साहस था उनका!

१३ अक्टूबर को सबेरे सात बजे (मेरी यात्रा का तीसरा और अन्तिम दिन) बेरगनी से टिहरी के लिए अकेला ही रवाना हुआ। आज चार मील की उतराई कहीं-कहीं तो इतनी सँकरी थी कि दिल दहल जाता। यद्यपि दो दिन पहाड़ी रास्तों से अभ्यस्त हो चुका था, फिर भी पतले रास्ते के एक ओर ऊंचे-ऊंचे पहाड़ और दूसरी ओर दुर्गम खाइयां होश ठिकाने लगा रही थीं। चार मील की उतराई में दो घंटे लग गये और मार्ग में केवल दो मनुष्यों से भेंट हुई। राम-राम करते कुम्हार-की-दूकान अथवा अठूर ग्राम। में उतरा टिहरी यहां से दो मील रह जाती है तथा राह भी एकदम समतल है।

मेरी यात्रा में कोई वैसा गांव नहीं पड़ा जिसे जाकर देख सकूं। कारण, कि इधर के गांव या तो पहाड़ की चोटियों पर बसे होते हैं, या फिर नीचे खाइयों में। रास्ते के किनारे तो कम ही बसे मिलेंगे। अतः अठूर को

ही—जो एक प्रकार से समतल पर ही बसा है—जाकर देखा। परिगणित जाति में गिने जाने वाले शिल्पकारों की बस्ती देखी। इनमें से कुछ लोग दर्जी का काम भी करते हैं। कुछ दरवाजों पर गाय-भैंस भी देखी, पर

धकतर लोग गरीब ही होते हैं। गांव की चढ़ाई-उतराई के रास्ते संकीर्ण कटीले, गंदे और बदबूदार थे। गांव में पानी के झरने तो थे, पर पतली धार वाले, जिन पर घड़ों का जमघट देख अपने यहाँ के छोटे शहरों की नल पर पानी भरने की भीड़ याद आयी। यदि इन झरनों के पास पानी जमा होने का हौज बन जाय तो लोगों को कुछ सुविधा हो। गरीब पहाड़ी न तो नहाने-धोने के पाबन्द होते हैं, न साफ-सुथरे कपड़े पहनने के ही। कारण है पहाड़ों पर पानी का अत्यन्त अभाव। स्त्रियां गहनों से लदी थीं। कान बालियों के भार से झुके जा रहे थे और नाक बुलाकों से। गला-बांह इत्यादि का तो पूछना ही क्या। मैंने कई भाई-बहनों से पूछा कि इस प्रकार गहनों से जकड़े रहने से क्या लाभ? सबों ने एक स्वर से परम्परा की दुहाई दी। कितना भी समझाया, पर कोई असर नहीं। हां, ऐसी लड़कियां जो अभी इस बन्धन में नहीं बंधी हैं, कुछ समझने की कोशिश अवश्य करती हैं। पर इन्हें समझावे कौन!

दस बजे दिन में टिहरी पहुँचा। श्री परमानन्द डुढ़ियाल मेरी इन्तज़ार में खड़े थे।

टिहरी कभी गढ़वाल की राजधानी थी, पर अब तो सिर्फ एक जिला का सदर मात्र है। जितने भी प्रतापी राजा यहाँ के राजवंश में हुए, सबने अपनी-अपनी अलग राजधानी बसाई—जैसे कीर्तिशाह ने कीर्तिनगर, प्रताप-शाह ने प्रतापनगर तथा नरेन्द्रशाह ने नरेन्द्र नगर। टिहरी भागीरथी और भिलङ्ना के संगम पर बसी है। ऊँचाई लगभग ३००० फीट। नगर में प्रवेश गंगा पर झूला-पुल पारकर किया जाता है। पुल के पास धारा के बीच दो जुटे हुए पत्थर हैं। किम्वदन्ती है कि ये शिव-पार्वती के प्रतीक हैं और गंगा के प्रवाह के विरुद्ध गंगोतरी की ओर बढ़ रहे हैं। जब ये अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँच जायेंगे तो प्रलय होगा। पता नहीं वे दोनों पत्थर कब अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचेंगे! यहाँ का राजप्रासाद एक ऊँची पहाड़ी पर बसा है तथा उसके साथ आम, लीची, अमरूद, केवला इत्यादि के बाग लगे हैं। यहाँ मछुओं की भी अच्छी-खासी बस्ती है, पर उन्हें गंगा में मछली मारना मना है। लड़के-लड़कियों के लिए इन्टर कालेज, स्कूल, अस्पताल, कचहरी सब कुछ हैं। यहाँ का कोई विशेष व्यवसाय नहीं, न लोग ही विशेष शिक्षित या शिष्ट हैं। कांग्रेस के पदाधिकारियों तथा हरिजन सेवकों से मिला, पर कोई हाल-पुर्सा नहीं। संध्या समय मैं हरिजन बस्ती देख रहा था और ये लोग फुटबाल खेल रहे थे। कवि ने ठीक ही कहा है :—

बेबस दुखी जनों के तू बीच में खड़ा था
मैं स्वर्ग देखता था झुकता कहाँ चरण में।

परीक्षितलाल मजमुदार

सरदार की हरिजन सेवा

सन् १९२३ के अक्टूबर मास की एक सुबह सरदार अहमदाबाद से वेड़छा (नवसारी के पास एक छोटा स्टेशन) आ रहे थे, तब मैं उनको लेने के लिए स्टेशन पर गया था। वे वेड़छा के नजदीक अब्रामा गांव के हरिजन आश्रम के वार्षिक समारंभ के अध्यक्ष होनेवाले थे। गाड़ी खड़ी होते ही पूछा— "तू यहां कहां से?" मैंने जवाब दिया— "विद्यापीठ का अभ्यास पूरा करके और बाद में नागपुर सत्याग्रह से छूटकर अब मैं अन्त्यज-सेवा-मंडल में दाखिल हुआ हूं।" उसके पहले सरदार ने मुझे गुजरात विद्यापीठ के एक विद्यार्थी तथा विद्यार्थी-पंचायत के मंत्री के नाते तथा स्व० आचार्य गिदवानी के घर पर देखा होगा। बस इतना ही परिचय था। अब्रामा के इस सम्मेलन में अन्त्यज-सेवा-मंडल के प्रमुख श्री ठक्कर बापा भी आये थे। दोपहर को वहां के एक सज्जन के घर पर सरदार, ठक्कर बापा तथा अन्य कुछ सेवकों को भोजन का निमंत्रण था। वहां से वापिस पैदल लौटते समय ठक्कर बापा फिक्र करते हुये सरदार से कह रहे थे कि अंत्यज सेवा-मंडल के लिए कुछ नये सेवकों की जरूरत है और एक नये सेवक के रूप में मेरा जिक्र भी किया। उस समय सरदार ने ही मेरा परिचय दिया था कि मैं गुजरात विद्यापीठ का एक स्नातक हूं। दूसरे साल ही मुझे अंत्यज-सेवा-मंडल का मंत्री बनाया गया। नियमानुसार मैंने प्रान्तीय समिति के दफ्तर में संस्था के खर्च का बजट भेजा और दरियाफ्त किया कि क्या समिति की मीटिंग में मुझे हाजिर रहना होगा। दफ्तर से जवाब मिला—'कोई जरूरत नहीं।' बाद में मुझे पता चला कि दफ्तर को सरदार की स्थायी सूचना थी कि गुजरात की हरिजन-सेवा का तमाम अंदाजपत्र हमेशा के लिए बगैर चर्चा के मंजूर किया जाया करे। इस तरह १९३२ तक—जब हरिजन-सेवक-संघ की स्थापना हुई—हर साल बाईस हजार रुपये का बजट मंजूर हुआ करता था।

१९३६ में हरिजन-सेवक-संघ पर कुछ आर्थिक संकट आया। मैंने वर्धा जाकर पूज्य गांधीजी के पास सहायता मांगी। पूज्य गांधीजी ने स्वयं अहमदाबाद जाकर २९ हजार रुपये इकट्ठा कर देने की जिम्मेदारी ली और एक अपील लिख देकर मुझे आगे रवाना कर दिया। परन्तु इतने में पूज्य गांधीजी का स्वास्थ्य खराब हो गया। उस समय ठक्कर बापा वहां गये थे। उन्हें बापू की तबीयत चिन्ताजनक मालूम हुई। वे अहमदाबाद गये और सरदार को जल्दी वर्धा पहुंचने की सलाह दी। इस सम्बन्ध में ठक्कर

बापा ने अपनी तारीख ६-१-'३६ की डायरी में लिखा है—

"मौन छूटने के बाद सात बजकर तीस मिनट पर गांधीजी के साथ बातें की। उन्होंने मुझसे सरदार को यह बताने के लिए कहा कि अगर २६ हजार रुपया इकट्ठा न हुआ, तो मरने पर भी मुझे शान्ति प्राप्त न होगी। बापू की तबीयत ठीक नहीं है, बीमारी गम्भीर है। मैं मगनवाड़ी गया। महादेव को सलाह दी कि बापू का स्वास्थ्य ज्यादा खराब है, इसलिए उन्हें बापू के नजदीक अधिक रहना चाहिये। रात को दस बजकर १५ मिनट पर भुसावल जाने के लिए रवाना हुआ।"

सरदार ने यह आदेश मिलते ही डेढ़ दिन में अहमदाबाद तथा बम्बई के मित्रों से छत्तीस हजार रुपयों का वचन लेकर मुझे फेहरिश्त दे दी और वर्धा के लिए निकल पड़े।

सन् १९४२ में सूरत में एक हरिजन छात्रालय शुरू करने का विचार ठक्कर बापा ने किया। परन्तु शुरू में दो हजार रुपया मिल जाये, तभी काम उठाया जा सकता था। इस सम्बन्ध में बापा ने सरदार को एक पत्र लिखा। सरदार ने तुरन्त ही पहली किस्त का एक हजार रुपया भेज दिया और छात्रालय शुरू हो गया।

खेड़ा जिले में सार्वजनिक प्राथमिक स्कूल में हरिजन बालकों को दाखिल करने का जब प्रश्न खड़ा हुआ, तब कुछ गांवों ने हो-हल्ला मचाया। सरकारी कानून के मुताबिक हरिजन बालकों को उसमें दाखिल न करने से स्कूल बन्द करने का प्रश्न खड़ा हुआ। वहां के एक अगुआ को इस तरह स्कूल बन्द होने में दोष मालूम हुआ, इसलिए वह चालू रहा। इससे हरिजन सेवक फ़िक्र में पड़े कि सरकारी कानून से मिलनेवाला लाभ हाथ से चला जा रहा है। आखिर उन्होंने सरदार से, जो उस समय बम्बई में रहते थे, मदद मांगी। सरदार ने लिखा-पढ़ी की। कुछ समय के लिए दो गांव के स्कूल बन्द हुए। इसका आसपास के देहातों पर योग्य असर हुआ और हरिजन बालकों के स्कूल-प्रवेश की अड़चन दूर हो गई।

दोहद-भील-सेवा-मंडल की तरफ से मीराखेड़ी भील-आश्रम चलता है। उसको भी सरदार ने कितने वर्षों तक सहायता दी। अनेक प्रकार की चिन्ता तथा काम होते हुए भी जब-जब वे अहमदाबाद आते, तब साबरमती आश्रम के लोगों से मुलाकात जरूर करते थे। साबरमती आश्रम के अन्तिम मुलाकात के समय आश्रमवासियों से उन्होंने कहा था— "पाप की गठरी छोड़ने का यह स्थान है, इसकी पवित्रता संभालनी चाहिये।" इस तरह डूबते का सहारा तथा मित्रों की प्रेरणा-मूर्ति सरदार वल्लभभाई की मृत्यु हमारे लिए बहुत बड़ी हानि है। परमात्मा हमें सरदार के बताये हुए मार्ग पर चलने का बल दे।

★

वियोगी हरि

पुण्यश्लोक बापा

"बापा, इधर आप काफी दुर्बल दीखते हैं, कितने कमजोर हो गये हैं! कृपाकर अब यह बाहर बहुत घूमना छोड़ दीजिए, अब तो आप यहीं पर आराम कीजिए। बैठे-बैठे यहीं से कार्यकर्त्ताओं को प्रेरणा और आदेश देते रहिए"—लम्बी यात्रा से थके हुए जर्जरितकार्य ठक्कर बापा को जब इस तरह विश्राम लेने की सलाह दी जाती है, तब वे कमर सीधी करके, सीना तानकर सदा यही उत्तर देते हैं—"अगर आपकी यह सलाह मैं मान लूँ, तो जल्दी मर जाऊँगा। विश्राम तो मरण है। मैं तो काम करते-करते ही मरना चाहता हूँ, खटिया पर पड़े-पड़े नहीं। शरीर क्षीण हो गया यह तो जराधर्म है, पर मेरा मन कहाँ दुर्बल हुआ है।"

अस्सी वर्ष के इस उत्साही नौजवान को फिर और अधिक नेक सलाह देने की हिम्मत नहीं पड़ती। आँखें करीब-करीब जवाब दे चुकी हैं। हृद्रोग तीन-चार बार आक्रमण कर चुका है। आहार बहुत कम हो गया है। किन्तु कार्यशक्ति घटी नहीं, बल्कि कुछ बढ़ी ही है। इधर कई नये-नये काम हाथ में ले लिये हैं। जब से ठक्कर बापा विधान सभा के सदस्य चुने गये, तब से तो उनकी कार्य शक्ति और भी सतेज और सबल हो गई है। नित्य नियम से समय पर सभा-भवन में पहुँच जाना, सभा की समाप्ति तक वहाँ उपस्थित रहना और एक-एक धारा, उप-धारा और संशोधन को पढ़वाकर ध्यान से सुनना तथा विचार करना यह उनका रोज का धन्धा बन गया। हरिजन सेवक-संघ के तथा आदिम-जाति-सेवा-संघ के प्रिय कार्य को तो कैसे छोड़ा जा सकता है? बीच-बीच में शरणार्थियों को ऋण दिलाने वाली कमेटी की बैठकों में तो जाना ही चाहिए और करतूरबा-ट्रस्ट के कार्य से भी विरत अभी कहाँ हुए। फिर गांधी-स्मारक-निधि में भी तो रस लेना ही चाहिए। हाँ, बुन्देलखण्ड-लोक-सेवक-मण्डल नाम की भी एक संस्था अभी हाल में स्थापित की है। दलितों और पिछड़ी हुई जातियों की सेवा-सहायता करने का और भी कोई भार सिर पर आ पड़े, तो बापा ना करनेवाले नहीं। इस कर्मयोगी की तृष्णा का कोई पार है!

हम साथ रहनेवाले बापा की शुष्क दिन-चर्या को देखकर कभी-कभी सोचने लगते हैं, कि भला यह भी कोई जीवन क्रम है! सुबह ६॥ बजे से रात के १० बजे तक दिनभर वही चक्की चलती रहती है। जाग्रत अवस्था में इस कमठ पुरुष का एक क्षण भी तो व्यर्थ नहीं जाता। कभी तो कोई दफ्तर के कागज, रोकड़बही या अखबार पढ़कर सुना रहा है,

तो कभी आप कागज-पत्रों के जवाब लिखा रहे हैं। क्या मजाल कि किसी पत्र का जवाब लिखाना दूसरे दिन पर छोड़ दिया जाय। लेखा-जोखा रोज का रोज पूरा करना, यह बापा का स्वभाव बन गया है। डायरी लिखना तो वे कभी चूकते ही नहीं। जो कुछ भी लिखते थे, या अब लिखाते हैं उसमें तथ्यों और अंकों के चौकसपने का पूरा ध्यान रखते हैं। इसमें उनको सत्योपासना का यथार्थ दर्शन होता है। बापा की जो दिनचर्या हमें ऊपर से शुष्क या नीरस दिखाई देती है, उनकी दृष्टि में वह अत्यन्त मधुर और सरस है, क्योंकि उसमें उनका जीवन एकाकार हो गया है। शिक्षणकाल को छोड़कर शायद ही कभी उन्होंने ललित साहित्य पढ़ा होगा। जन-गणना की बड़ी-बड़ी जिल्दें, कमेटियों या कमीशनों की रिपोर्टें, और दफ्तर की सिर खपानेवाली फाइलें, यही उनका प्रिय साहित्य है।

पर इसका यह गलत अर्थ न लगाया जाये कि बापा का हृदय सर्वथा शुष्क है। नहीं, उनके स्फटिक-जैसे हृदय में करुणा और भक्ति की शुभ्र धारा बहती हुई मैंने देखी है। पवित्र करुणा से ही उनके अन्तर में लोकसेवा की भक्ति-भावना उद्भूत हुई है। बापा कभी-कभी अपने रस में जब, "मन मेरा लागा यार फकीरी में" अथवा "मो सम कौन कुटिल खल कामी" यह भक्ति-रसपूर्ण पंक्तियाँ गा उठते हैं, तब कौन उन्हें शुष्कहृदय कहने का साहस करेगा ?

असल बात तो यह है कि जिसने अपने अन्तर को स्वार्थपूर्ण सुख-दुख से खाली कर दिया हो और उसे लोक-वेदना और लोक-सेवा से आकंठ भर लिया हो, उसके जीवन-रस का दर्शन वे लोग भला कैसे पा सकते हैं जो ऐहिक सुखों में ही रस-लाभ करने के अभ्यस्त हैं ?

बापा ने भी, पूज्य बापूजी की ही भाँति, करुण-साधना में संपूर्ण जीवन-रस को शोधा है। करुणाकुल दृष्टि से ही हम बापा के जीवन-रस का दर्शन-लाभ कर सकते हैं। स्वभावतः वे अपने ही रंग में सबको रंग लेना चाहते हैं। मेरा परिचय देते हुए बापा कैसे पुलकित होकर कहा करते हैं—"इन्होंने क्या अच्छा किया, जो साहित्य का आराधन छोड़कर उद्योगशाला का काम हाथ में ले लिया।" मेरे कई मित्र बापा की इस कद्र-दानी, या कहिए, नीरसता पर खीज उठते हैं। पर वे नहीं जानते कि बापा का अपना साधना-साहित्य कितना रसपूर्ण है और उनका सरस हृदय कितना करुणा-विगलित है। मैं तो अपना परिचय सुनकर लज्जित हो जाता हूँ, कि न तो मैं अपने मित्रों के अर्थ में 'साहित्यिक जीव' बन पाया और न बापा की मनोभिलाषा का 'जन-सेवक' ही। "दो में एकहु तौ न भई।"

एक बार गान्धी जी ने एक पत्र में बापा को लिखा था—"जहाँ-जहाँ भीड़ पड़ती है, तहाँ, बापा तुम गरूड़वेग (अथवा, पवनवेग) से दौड़ जाते हो," इस वाक्य में बापा के

सारे जीवनोद्देश्य का निचोड़ आ जाता है। देश का एक कोना भी नहीं छोड़ा उन्होंने। जन-सेवा की प्यास से व्यथित ऐसे-ऐसे बीहड़ स्थानों में बापा गये, जहाँ शायद ही कभी कोई लोकनेता गया हो। इस कल्याण-मार्ग के यात्री से देश का केवल एक भाग छूट गया था, और वह था बुन्देलखण्ड। गत वर्ष मुझे एक यात्रा के बीच से पत्र लिखा—"तुमने कितनी ही बार बुन्देलखण्ड की गरीबी और दुरवस्था का वर्णन मुझसे किया है। मरने से पहले भारत के उस अँधेरे हिस्से को भी मैं देख लेना चाहता हूँ। तुम्हें साथ चलना होगा।"

पिछली गर्मियों में बुन्देलखण्ड की यात्रा का प्रोग्राम बना। तेरह दिन के भीतर हमें खास-खास स्थान घूम लेने थे। छतरपुर के अच्छे जन-सेवक पं० रामसहाय तिवारी ने हमारा यात्राक्रम तैयार किया। नगरों में तो हम गये ही, दूर-दूर के देहातों में भी, आग उगलनेवाली लुओं में, उबड़-खाबड़ रास्तों से हम बापा को ले गये।

सबेरे से लेकर साँझ तक, दोपहरी के दो-तीन घंटे विश्राम छोड़कर, जीप गाड़ी में हमारी लम्बी-लम्बी यात्रा रोज होती थी। जर्जरित शरीर, जीप की सवारी, तेज लू और कंटकाकीर्ण पथरीला दुर्गम मार्ग। भगवान् से हम नित्य मनाते थे कि इस वृद्ध लोक-कल्याण यात्री को कहीं कुछ हो न जाये। बुन्देलखण्ड की वह सब गरीबी और असहाय अवस्था जगह-जगह बापा ने अपनी आँखों से देखी—नंग-धड़ंग अधपेट बूढ़ों और बच्चों को देखा; इस मँहगाई के ज़माने में भी पाँच-पाँच, सात-सात आने और सड़कों पर दस-दस, चौदह-चौदह आने सरकारी दरों की मजदूरी पर, स्त्री-पुरुषों को काम करते देखा; महुए की डुब्री; बिरचुन और कोदों-बसारा की रोटियाँ खाते हुए देखा।

रेल से ८० मील दूर के एक जंगली गाँव में कुछ चमारों से जब बापा ने पूछा कि 'तुम अपने बच्चों को स्कूल में भेजते हो या नहीं' तो उनमें से एक अधेड़ चमार बड़े जोर से हँस पड़ा, पीठ से लगे हुए अपने खाली पेट को दिखाता हुआ। उसके अट्टहास्य में प्रताड़ना थी, अवहेलनापूर्ण व्यंग था और हमारे अज्ञान पर रोष था। बोला, "हमाये मौंड़ा भूखन मर रये, और जे डुकर बाबा पढ़बे की बातें पूँछन आये।" उसकी भीषण हँसी का कारण तो बापा समझ ही गये थे। मैंने जब उसके बुन्देलखण्डी शब्दों का आशय समझाया, तो बापा के नवनीत-जैसे हृदय को भारी चोट लगी। उन्होंने कहा, "सचमुच मेरा ऐसा पूछना असंगत था। इस अत्यंत पिछड़े और गरीब भू-भाग को देखकर बापा का हृदय रो उठा। यात्रा के अन्त में "बुन्देलखण्ड-लोकसेवक-मण्डल" बनाने का उन्होंने संकल्प किया और इस सेवा कार्य का अल्पारंभ भी कर दिया। अपने एक लेख में उन्होंने लिखा कि "जब हरिजी बुन्देलखण्ड की गरीबी का वर्णन

किया करते थे तो उसमें मुझे कुछ अतिशयोक्ति-सी मालूम देती थी। पर मैंने अपनी आँखों से वहाँ जो देखा वह तो उस वर्णन से भी अधिक भयंकर था।"

बुन्देलखण्ड के भोले-भाले कृतज्ञ निवासियों ने अपने भाग्य को सराहा और पुलकित होकर बापा के चरणों पर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाई। बापा की पवित्र करुणा-धारा से भारत का यह अत्यंत पिछड़ा भूभाग भी अछूता न रहा।

और, बापा का राष्ट्रभाषा प्रेम। जब से मैं बापा के संपर्क में आया, अर्थात् १६३२ के साल से, तभी से उनके सामने भी और पीठ पीछे भी उनके अँग्रेजी-प्रेम का कठोर आलोचक रहा। हरिजन-सेवक-संघ के दफ्तर में अँग्रेजियत को देख-देखकर मेरा दम घुटता रहा। यद्यपि यह मैं जानता हूँ कि बुढ़ापे में हिन्दी सीखकर दफ्तर का सारा काम-काज चलाना बापा के लिये बड़ा कठिन है। मगर हिन्दी का कभी बापा ने विरोध नहीं किया। लेकिन पिछले दिनों तो उनका अनुपम हिन्दी-प्रेम देखकर मेरा मस्तक श्रद्धा से झुक गया। विधान परिषद ने जहाँ बहुत बुरी तरह से राष्ट्रभाषा हिन्दी को टालते रहने और विकृत करने का दुराग्रह पूर्वक प्रयत्न किया, वहाँ बापा ने उस कर्दम से अपने आपको सर्वथा निर्लिप्त रखा! हिन्दी के अच्छे-अच्छे सेवक भी भँवर में जा फँसे। पर बापा ने टंडन जी का बराबर साथ दिया। हिन्दी-संसार भी आज इस तपोधन ऋषि के चरणों पर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाये।

आज १७ बरस से मैं पूज्य बापा के साथ रह रहा हूँ। पहले-पहले जब आया, तब बहुत डरता था, क्योंकि सुन रखा था कि वे स्वभाव के बड़े कड़े हैं। और बहुत हद तक यह सही भी है। पर मैंने तो उनका स्वभाव सदा कोमल और सरल ही पाया। उनका स्नेहभाजन बनते मुझे देर नहीं लगी। उनका अन्तर मैंने स्फटिक-सा पाया। मैं तो अपना अहोभाग्य समझता हूँ, जो इतने वर्षों से पुण्यश्लोक बापा के चरणों के निकट बैठने का मुझे मंगल अवसर मिल रहा है।

बापा दीर्घायु हों—यश तो उनका जगत् में अजर-अमर हो ही चुका है। —१६४६ में लिखित 'अभिनन्दन ग्रंथ' से

"......डरकर जो हिंसा नहीं करता वह तो हिंसा कर ही चुका है। चूहा बिल्ली के प्रति अहिंसक नहीं। उसका मन तो निरन्तर बिल्ली की हिंसा करता रहता है। निर्बल होने के कारण वह बिल्ली को मार नहीं सकता। हिंसा करने का पूरा सामर्थ्य रखते हुए भी जो हिंसा नहीं करता है वही अहिंसा-धर्म का पालन करने में समर्थ होता हैं। जो मनुष्य स्वेच्छा से और प्रेम भाव से किसी की हिंसा नहीं करता वही अहिंसा धर्म का पालन करता है। अहिंसा का अर्थ है प्रेम, दया, क्षमा। शास्त्र उसका वर्णन वीर के गुण के रूप में करते हैं। यह विरता शरीर की नहीं, बल्कि हृदय की है।"

—महात्मा गांधी

राधाकृष्ण

उराँव

हिन्दी में आजकल बहुत से नूतन शब्दों का निर्माण हुआ है। उन शब्दों के बीच नृतत्व नाम का शब्द भी इसी प्रकार का है। अंगरेजी में जिसे एनथ्रापोलौजी कहते हैं, उसीको हिन्दी में नृतत्व विद्या कहा जाता है। इस विद्या के जानकार लोग चेहरा-मोहरा, डीलडौल, ढाँचा, आँख, नाक, खोपड़ी की बनावट आदि का अध्ययन करके उसकी जाति और नस्ल का पता बतलाते हैं। उस नृतत्व विद्या के जानकार लोगों का कहना है कि उराँव जाति मुंडा, हो, सन्ताल आदि कोलारियन जातियों से पृथक द्राविड़ नस्ल से हैं।

यह जाति किसी समय भारत में अपना सानी नहीं रखती थी। कहा जाता है कि सिन्धु नदी से लेकर सरस्वती नदी तक ये फैले हुए थे तथा इनकी सभ्यता अपने समय में सर्वोपरि थी। इस जाति की पुरानी बातों का पता बतला सकना कठिन है। जिस समय से आर्यों का इतिहास आरम्भ होता है उस समय तक द्राविड़ों के इतिहास का अन्त हो चुका होता है। यों कहीं कभी खुदाई हुई तो शायद कभी कोई बात निकल आई। अभी हाल-हाल तक लोग इस बात का अनुमान करते थे कि यह जाति हमेशा से जंगली रहती चली आई है। पर जब मोहेन्जोदारो और हरप्पा की खुदाई हुई, बहुत-सी बातों का पता चला, तब इस जाति के इतिहास का पासा पलटा। वहाँ की खुदाई के समय जब इतिहासज्ञों ने द्राविड़ जाति की सभ्यता का चरम उत्थान देखा तो आश्चर्य से चकित रह गये। उनके नगर-निर्माण के कौशल को देखकर बड़े-बड़े इंजीनियर दाँतों तले ऊंगली दबाने लगे। उनकी सभ्यता किसी समय अपने चरम विकास पर थी। वे शिव और शक्ति का पूजन करते थे, भाँति-भाँति के आभूषणों का शौक उन्हें था, वे तरह-तरह के चित्र बनाया करते थे। इससे उनकी विकसित रुचि का पता चलता है। पता चलता है कि वे उस अन्धकारमय युग में भी कितने अधिक प्रकाशित थे। उनका जीवन और उनका समाज कितना सुखी तथा सम्पन्न था। हाँ, एक समय था जब यह द्राविड़ जाति उन्नति के शिखर पर आसीन थी। पता नहीं कि वह इतिहास का कौन-सा युग रहा होगा। सभ्य संसार के पास आज जो विभूतियाँ हैं वे उन्हें उस युग में भी प्राप्त थीं। कला-कौशल, इंजीनियरिंग और शिल्प में ये पारंगत थे। आज तक प्राचीनकाल की जितनी सभ्यताओं का पता चला है उनमें यह जाति किसी प्रकार भी किसी से कम नहीं थी। वह उस जाति का स्वर्णयुग

रहा होगा जब सिन्धु नदी के किनारे ये सिंहों का आखेट किया करते होंगे, सरस्वती नदी के तीर पर इनकी हरीभरी खेती लहलहाया करती होगी, इनके मन्दिरों में दीप सजाये जाते होंगे और पूजा-अर्चना से दिशायें गूंज जाती होंगी। पता नहीं कि वह कौन-सा समय होगा जब द्राविड़ जाति की सुन्दरियाँ अपने वीणाविनिन्दित स्वर से गाकर अपने हर्ष और विषाद को प्रकट करती होंगी। और आज यह भी पता नहीं कि किस राग और रागिणी में बंध कर उनका स्वर निकलता होगा और मूक स्तब्ध क्षितिज में फैल जाता होगा। यह भी पता नहीं कि उस जाति के इतिहास का स्वर्णयुग कब और कैसे शुरु हुआ और किस प्रकार वह दिन भी आया जब उनकी सभ्यता धूमिल होकर सभ्य जगत से अगोचर होकर जंगल-जंगल भटकने लगी। आज जो इतिहास है और उससे जितना भी प्रकाश निकल पाता है उस प्रकाश की एक किरण भी द्राविड़ जाति के उज्ज्वल युग तक नहीं पहुँच पाती।

इतिहास हमें यह भी नहीं बतलाता कि किस शक्ति को लेकर इनका उत्थान हुआ था और किस शक्ति को खो देने पर इस जाति का पराभव हो गया। क्रमशः इस जाति के वे दिन भी आये जब ये वन और जंगलों में भटकते हुए दिखलाई देने लगे। उस समय का इनका इतिहास क्या रहा, घटनाएँ क्या हुईं, कौन-कौन से परिवर्तनों ने इस जाति के जीवन को मुग्ध किया, कितनी शाखाओं-प्रशाखाओं में यह जाति विभक्त हुई, यह सब कह सकना कठिन है। यह भी कहना कठिन है कि अन्य जातियों के साथ इस जाति का मेल-जोल और संसर्ग हुआ या नहीं। यदि हुआ तो किस रूप में हुआ, किस प्रकार हुआ, यह सब बातें इतिहास के दीप की दीप-शिखा की कालिख के समान अन्धकार में जा चुका है। न पुराण इस पर प्रकाश डालते हैं और न इतिहास ही कुछ बतला सकता है। पर यह भी ठीक है कि प्राचीन-काल में आर्यों के साथ इनका सम्पर्क रहा होगा। अनार्य जातियों के साथ का, संसर्ग का, सम्पर्क का उदाहरण पुराणों में अनेक हैं। श्री रामचन्द्र जब जंगलों में गये तो उन्हें अनार्य जातियों का सहयोग मिला। उस समय की बातों को पढ़ने से जान पड़ता है कि अनार्य जातियों के बीच आर्य जातियों के धार्मिक विश्वास का प्रभाव पड़ चुका था और वे भिन्न दृष्टि से नहीं देखे जाते थे। शबरी नामक सन्यासिनी का जिक्र रामायण में आया है। भीम हिडिम्बा से और अर्जुन उलूपी से विवाह करते हुए दिखलाई देते हैं। पर यह तो समस्त अनार्य जाति की बात हुई। उनमें कौन-से लोग द्राविड़ नस्ल के थे और कौन लोग दूसरे प्रकार के अनार्य थे यह बतला सकना कठिन है। और दूसरी बात यह भी है इन पुराणों की घटनाओं में सचाई कितनी है यह भी है बतला सकना कठिन है। यह भी तो हो सकता

है कि असम्भव घटनाओं से भरी हुई पुराण की वार्त्ता सारी की सारी झूठ भी हो, पर इसकी कसौटी ही क्या है जिस पर इसकी सचाई को जाँचा जा सके।

सबसे पहले उराँव जाति के लोग शाहाबाद जिले के रोहतासगढ़ में बसे हुए दिखलाई देते हैं। उस काल में इनका सम्पर्क, मेल-जोल तथा शत्रुता अन्य जातियों से थी। उनके गढ़ का भेद शत्रुओं को मालूम नहीं था। पर एक ग्वालिन शत्रुओं को गढ़ का गुप्त भेद बतला देती है तथा साथ-साथ यह भी कहती है कि उराँव लोगों के बीच 'सरहुल' का त्यौहार बहुत ही महत्त्व का होता है। उस अवसर पर ये सुरा पीकर मतवाले बने रहते हैं। यदि उस समय गढ़ पर चढ़ाई हो तो मैदान मारना असम्भव नहीं होगा। और शत्रु ठीक सरहुल के दिन गढ़ पर चढ़ दौड़े। उस समय पुरुष सुरा पीकर मस्त थे, पर उराँव सुन्दरियों ने अपना आपा नहीं खोया था। वे होश में थीं। पुरुषों को अक्षम देख कर नारी जाति गढ़ की रक्षा के लिए आगे बढ़ीं। उन लोगों ने पुरुषों के वेश में अपने को सजाया। हाथ में तलवार और भाले लिये और शत्रुओं से भिड़ गईं। भीषण संग्राम के बाद देखा गया कि शत्रुओं के हौसले पस्त हो चुके थे। चढ़ाई छोड़ उन्हें अब जान बचाने की सूझी। मैदान छोड़ वे भाग निकले। इस प्रकार स्त्रियों ने अपनी जाति और समाज की रक्षा की। मगर फिर शत्रु सतर्क हुए, फिर चढ़ाई हुई, फिर स्त्रियों ने मोर्चा लिया, फिर शत्रु पराजित हुए, फिर भागे, और फिर चढ़ाई की। इस प्रकार रोहतासगढ़ पर तीन-तीन बार चढ़ाई हुई और तीनों बार स्त्रियों ने गढ़ को बचाया। अपनी इन तीन विजयों की स्मृति में उराँव जाति की स्त्रियाँ आज भी अपने शरीर पर तीन जगह रेखाओं के गुदने गुदवाती हैं।

उराँव जाति के लोग बंगाल-उड़ीसा से लेकर समस्त छोटानागपुर में फैले हुए हैं। मध्य प्रदेश में भी इस जाति के लोग मिलते हैं। इनका समाज सुगठित है। इनके यहाँ नारी गृहलक्ष्मी नहीं मानी जाती। उसे वहाँ साथी का हक हासिल है। वह सभी क्षेत्रों में अपने पुरुष का साथ देती है। अगर उराँव स्त्री घर का काम करती है तो वह खेत और जंगलों में भी अपने पति का साथ देती है। पति हल जोतता है तो स्त्री रोपनी करती है, खेत को काटती है, ओसाती है, फिर अन्न से घर को भर देती है। हमारे यहाँ तो पुरुष और स्त्री का समाज ही अलग दिखलाई देता है। पर उराँव जाति में ऐसा कोई प्रसंग ही नहीं उठता कि वहाँ पुरुष और नारी की भिन्नता किसी भी क्षेत्र में दिखलाई जा सके। शाम को जब वे नृत्य और गीत के लिये अखरा में जाते हैं तो स्त्रियाँ भी नृत्य और गीत का समान भाव से आनन्द लेती हैं।

उराँव जाति की आबादी वाले गाँवों के बाहर की ओर आप एक धुमकुरिया घर

भी अवश्य पावेंगे। वह एक ऐसा स्थान है जहाँ कुआंरे लड़के और लड़कियाँ रहा करती हैं। समाज का अनुशासन उनका वहीं उसी बचपन से आरम्भ हो जाता है। वे तभी से समाज के अनुशासन को कठोरता से पालन करना शुरू कर देते हैं। उराँव विद्वानों का कहना है कि धुमकुरिया ही हमारा वह तपोवन है जहाँ हम ब्रह्मचर्य के साथ रहते हुए भावी जीवन की शिक्षा लेते हैं। इसी आदर्श को मन में रख कर एक उराँव ने राँची नगर के पास धुमकुरिया नामक विद्यालय की स्थापना की है जहाँ रख कर लड़के तथा लड़कियों को मैट्रिक तक की शिक्षा दी जाती है।

कहा जाता है कि पहले उराँव जाति के पुरुष यज्ञोपवीत धारण किया करते थे, पर जब अहिन्दू जातियों का आक्रमण हुआ और इन्हें उससे कष्ट उठाना पड़ा तो यज्ञोपवीत धारण करने की परम्परा का इनके यहाँ अन्त हो गया। पर चोटी (चुन्दी) तो ये आज भी रखते हैं। लड़के ही नहीं, इनके यहाँ लड़कियों के सिर पर भी चोटी रखी जाती है। फिर जब लड़कियाँ बढ़ने लगती हैं तो चोटी के बदले अपने सिर के समस्त केशों को बढ़ने देती हैं। उराँव लड़कियों को गाने का बहुत शौक है और उराँव लड़कों को बांसुरी बजाने का। फलतः आप जब वहाँ के जंगलों में घुसेंगे तो आपको एक ही साथ सारंगी के समान स्वर में लड़कियाँ गाती हुई दिखलाई देंगी और लड़के बांसुरी बजाते हुए। जब तक उराँव लड़के या लड़की की शादी नहीं होती तब तक वे छूआछूत नहीं मानते। पर विवाह हो जाने के बाद वे किसी भी जाति का छुआ हुआ अन्न नहीं खाया करते, चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो। इनके यहाँ विवाह में कन्या के यहाँ ही लड़का वाला जाता है और विवाह के लिये लड़की देने की प्रार्थना करता है। कन्या का मूल्य भी चुकाना होता है, चाहे उस मूल्य को नकद मुद्रा देकर चुकाया जाय अथवा गाय या बैल तथा अनाज के रूप में। यह चीज पहले से ही तय कर ली जाती है। इस अवसर पर जो वर या कन्या पक्षवालों में बातचीत होती है वह बहुत ही मनोरंजक होती है। ऐसे समय लोग बहुधा वाक्चातुरी से काम लेते हैं अथवा अन्योक्ति से। जैसे वरपक्ष के लोग लड़की के मूल्य के बारे में बातचीत करने के लिये गये हुए हैं। पर वे सीधी बात न कह कर कहेंगे कि अजी साहब, आपके छप्पर पर मैंने एक बड़ा बढ़िया कुम्हड़ा देखा है। आप उसे हमें देंगे?

कन्यापक्ष वाले इसका उत्तर देंगे कि क्या आप उसे ले सकेंगे?

जवाब मिलेगा—क्यों नहीं, मुझे तो वह कुम्हड़ा बहुत पसन्द है। दाम चाहे आप जो ले-लें।

फिर इसके बाद मोल भाव होने लगता है। वरपक्ष वाले दाम कहते जाते हैं और कन्यापक्ष के लोग उस दाम को अस्वीकार

करते जाते हैं। तब बहुत देर के बाद किसी तरह सौदा पटता है। यह बातचीत बहुधा भादो के महीने में होती है। आश्विन के महीने में विवाह प्रायः एक दम तय कर लिया जाता है। फिर जब अगहन के महीने में धान कट जाते हैं तब उसी समय विवाह हुआ करता है। बारात में पुरुष जाते हैं तो स्त्रियाँ भी जाती हैं। जिनकी खेती-बारी ज्यादा है, घर में लड़का नहीं, वे अपने यहाँ घर पर जमाई रखते हैं। जब बारात गाँव में पहुँचती है तब तक कन्यापक्ष के युवक विचित्र प्रकार की तैयारी करते हैं। कोई तो घास की पोशाक बनाता है और कोई अपने शरीर को रंग लेता है। फिर दोनों पक्ष के लोग नाचते हुए एक दूसरे दल के सामने हो जाते हैं। कन्यापक्ष के युवक और युवतियाँ बीच में चली जाती हैं। मगर वधू छिपी हुई रहती है। तब वर समाठ लेकर उसे तीन बार खोज कर निकालता है और अपने दल में लाता है। जब तीसरी बार वधू फिर भाग कर कन्यापक्ष में चली जाती है तब दोनों दलों में एक आवेश-सा उत्पन्न हो जाता है और वे धक्का-मुक्की करने लगते हैं। एक नकली लड़ाई होती है जिसमें किसी को भी चोट नहीं आती। इसी झगड़े के बीच कन्यापक्ष का कोई युवक आता है और वर को ही उठा ले भागता है। तब बाराती और सराती में सन्धि स्थापित होती है। दोनों दलों में हंसी-मजाक चलने लगता है। एक दूसरे के शरीर में रंग या उबटन लगाते हैं, परिछन होता है, फिर विवाह कर दिया जाता है। इस विवाह के अवसर पर पुरोहित आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्त्रियाँ स्वयं विवाह-संस्कार सम्पन्न करती हैं।

जब वर लड़की को लेकर अपने घर में जाता है तब एक दिन के बाद कन्यापक्ष के लोग भी वर के घर पर जाते हैं और खूब आदर-सत्कार पाते हैं।

उराँव जाति में मुर्दे को जलाने की प्रथा है। पर बरसात के दिनों में जो मरता है उसकी लाश को जलाने के बदले गाड़ दिया जाता है। फिर जब बरसात बीतती है, अगहन-पूस का महीना आता है, तब एक बार फिर उसकी लाश को उखाड़ा जाता है। और उसे जलाया जाता है। इस प्रथा को 'हड़बोड़ा' कहते हैं।

ईश्वर को उराँव भाषा में धर्मेस कहते हैं। प्रेतात्माओंकी पूजा का प्रचलन भी इस जाति में प्रचुर रूप से है। इस जाति के बीच आठ प्रकार की पूजाओं का प्रचलन है--बैइखेर, पाट, सरना, देशवाली, दरहाडिया, नकटी देवी, मंडप, तथा कदलेटी।

सरहुल उराँव जाति का सबसे प्रमुख त्योहार है। यह त्योहार वसन्त ऋतु के समय मनाया जाताहै। ये होली का त्योहार भी मनाते हैं तथा उसे फगुआ कहते हैं। उस समय जंगल में जाकर ये शिकार खेलते हैं। भादो के महीने में करमा का त्योहार

आता है। अगहन में ये नयाखानी मनाते हैं। उस समय नये अन्न का भोजन करते हैं। दीवाली के दिन ये लक्ष्मी-पूजा का त्योहार मनाते हैं और अपनी गाय को ही लक्ष्मी कहकर उसकी पूजा करते हैं। बरसात के दिनों में ये हरियाली पूजा भी करते हैं। भादो के अन्त तथा आश्विन के आरम्भ में इनके यहाँ जितिया का त्योहार भी मनाया जाता है। यह त्योहार जीवित-पुत्रिका-व्रत से सम्बन्ध रखता है।

जाड़ों के मौसिम में ये एक प्रकार का मेला लगाते हैं जिसे 'जतरा' कहा जाता है। उस समय गाँव-गाँव के लोग अपना अपना झंडा लेकर गाते-नाचते जतरा में इकट्ठे होते हैं और खूब नाच-रंग रहता है। उराँव लोगों के मुड़मा गाँव में लगने वाला जतरा बहुत प्रसिद्ध है। इस जतरा में भाग लेने के लिये पचासों मील से चलकर लोग आते हैं।

नये युग में यह जाति भी अब आगे बढ़ रही है। हालांकि आर्थिक समस्या को इस जाति ने अभी तक हल नहीं किया है, पर शिक्षा-दीक्षा के मामले में यह जाति बहुत ही तेजी से आगे बढ़ रही है। प्रान्तीय सरकारें इस जाति के युवकों को स्कालरशिप दिया करती हैं। इनके लिये अलग से छात्रावास खोले जा रहे हैं। अब वह समय बहुत निकट है जब हम आगे बढ़ी हुई जातियों के साथ हाथ में हाथ मिलाकर आगे बढ़ते हुए उराँव जाति के लोगों को देख सकेंगे। उराँव भाषा को 'कुड़ुख' कहा जाता है। इस भाषा में किताबें भी तैयार की जा रही हैं। इनमें कई तो बिहार-सरकार की पाठ्य-पुस्तक-समिति द्वारा मंजूर भी की गई हैं और उन पुस्तकों की पढ़ाई होती है। दवले कुजूर नामक एक कवि हैं जो इस भाषा में बड़ी सुन्दर कविताएँ लिखते हैं। एक मासिक-पत्र का प्रकाशन भी होता है। उस पत्र का नाम 'धुमकुरिया' है। श्री अह्लाद टिर्की इस पत्र के सम्पादक हैं। अभी अप्रैल या मई के महीने में एक उराँव साहित्य सम्मेलन भी राँची में मनाया गया था। —'आदिवासी'

एक दिन मुझे यह बात समझमें आयी कि अब तो वामन अवतार प्रकट हो गया है—तीन कदम जमीन मांग रहा हूं। पहला कदम यह कि लोगोंको दरिद्रनारायण को अपना एक लड़का समझकर भूमिहीनों के लिये दान देना चाहिए। दूसरा कदम यह होगा कि लोगों को गरीबों की सेवा में लग जाना चाहिए और तीसरा कदम यह कि गरीबों की सेवा करते-करते स्वेच्छा से गरीब ही बन जाना चाहिए। यदि स्वेच्छा से यह कर सकोगे, तो बलि राजा के समान बलिदान (बलवानका दान) होगा और हिन्दुस्तान का मसला हल हो जायगा।

—विनोबा भावे

सुशीला नय्यर

दीनबन्धु बापा

जब से पहली अक्तूबर १९५० को मैं हिन्दुस्तान लौटी थी, बापा के दर्शनों की इच्छा थी। मगर बापा भावनगर अपने भाई के पास थे। वहां जाना न हो सका। उनकी सेहत की खबरें अच्छी न थीं। आखिर मैंने कस्तूरबा ट्रस्ट के सलाहकार मेडिकल बोर्ड की मीटिंग के बाद बम्बई से हवाई जहाज द्वारा उनसे मिलने जाने का निश्चय किया। १९ तारीख को भावनगर में उनके दर्शन हुए। वे बहुत दुर्बल हो गए थे। एक तरह से मृत्युशय्या पर पड़े थे। मगर अपने सेक्रेटरी से "सरदारनां भाषणों" पुस्तक सुन रहे थे। कुछ दिन पहले श्री शान्ति-कुमार भाई के नाम बापा का पत्र था, जिसमें उन्होंने बापू और सरदार के पास जाने की बात लिखी थी। मैंने कहा : बापा, बापू गये, सरदार गये, अब आप भी जाने की बात करते हैं। यह तो कुछ ठीक नहीं। और आपको तो अभी सरदार काका की जगह कस्तूरबा-ट्रस्ट का प्रमुख चुना गया है। सरदार काका तो दूसरे भी बहुत कामों में पड़े थे, सो उनका बहुत समय नहीं लिया जा सकता था, मगर आप से तो हम बहुत मार्ग दर्शन की आशा रखते हैं।

मैं वाक्य पूरा भी नहीं कर पाई थी कि बापा बोल उठे : "सरदार काका तो सरदार काका ही थे, उनका स्थान कौन ले सकते है? ६०० हाकिमों को उन्होंने बैठा दिया।" आवेश के कारण वे हांफने लगे। फिर बोले : "नहीं, मुझे प्रमुख बनाना ठीक नहीं, मृत्युशय्या पर पड़े इन्सान को प्रमुख बनाकर क्या होगा?" मगर कस्तूरबा-ट्रस्ट के ट्रस्टियों और हिन्दवासियों के मन में बापा के प्रति इतना मान था कि भले न थोड़े दिनों के लिए, मगर बापा को ट्रस्ट का प्रमुख बनाना उनको ट्रस्ट की शोभा बढ़ानेवाली चीज लगी। करीब एक हफ्ता बापा प्रमुख रहे, अब फिर वह स्थान खाली है।

बापा ने जो सरदार के विषय में कहा था, वह बापा को भी उतना ही लागू होता है। बापा का स्थान कौन ले सकता है? बापा सच्चे अर्थों में दीनबन्धु थे। इंजीनियर की तालीम पाने के बाद उन्होंने हाकिम बनने की जगह मूक दीन-दुखियों का सेवक बनना पसन्द किया और अपने जीवन का एक-एक क्षण उस सेवा के लिए अर्पण किया। मुझे तो १९४६ में मसूरी में पता चला कि बापा इंजीनियर थे। वहां वे बापूजी से मिलने गये और पहाड़ों में से काटी हुई एक सड़क देखने की इच्छा प्रकट की। मुझे आश्चर्य हुआ, बापा को सड़क देखने का शौक क्यों? तब बापू ने बताया : "बापा तो बहुत अच्छे

इंजीनियर थे, और यह सड़क इंजीनियरी का एक कारनामा समझी जाती है। बापा ने दीन-दुखियों की सेवा में अपना धन्धा भी फेंक दिया है।" मुझे यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि बापूजी की सेवा और उनके कार्यक्रम के प्रति बेहद आकर्षण होते हुए भी, अगर उसके लिए मुझे डॉक्टरी का धन्धा छोड़ना पड़ता तो बहुत करके मैं वह न कर पाती। मगर बापा को तो हरिजनों, भीलों और अन्य दलित और पीड़ित जनों की सेवा से पूरा सन्तोष मिल जाता था। यहां तक कि भावनगर में मुझे पता चला कि मृत्यु से थोड़े ही समय पहले वहां की पिछड़ी हुई जातियों की करुण कथा सुनकर बापा ने आग्रह पूर्वक उन के घर इत्यादि देखने की इच्छा प्रकट की थी। उनकी सेवा और देखरेख करनेवाले उनका आग्रह देखकर उन्हें 'ना' न कह सके। कुर्सी में बिठाकर उन्हें मोटर तक लाये और उन जातियों के रहने के मुहल्लों में से उन्हें घुमाया। सचमुच ही बापा का स्थान कौन ले सकता है? बापू रूपी सूर्य के इर्दगिर्द जो नक्षत्र-मंडल इकट्ठा हो गया था, उनमें से एक बड़े से बड़ा चमकदार नक्षत्र पूज्य ठक्कर बापा थे। उनकी चमक, उनका तेज प्रकाश-दायक था, चकाचौंध करनेवाला नहीं। बापा की पुण्यस्मृति रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं के लिए हमेशा प्रकाशदायक होगी। बापा के प्रति हमारा प्रेम और भक्ति प्रकट करने का एक ही तरीका है— जो काम बापू और बापा अधूरे छोड़ गये हैं, उन्हें पूरा करने में लीन हो जाना। उनमें सर्वप्रथम है अस्पृश्यता का जड़मूल से नाश और आदिवासियों की उन्नति।

जहां मन निर्भय है और मस्तक हमेशा ऊँचा रहता है;
जहां ज्ञान स्वच्छन्द है;
जहां छोटे घरेलू दीवारों से संसार टुकड़ों में बंट नहीं पाया है;
जहां शब्द सत्य की गहराई से निकलते हैं;
जहां अविराम अन्तर्द्वन्द्व पूर्णता की ओर अग्रसर होता है;
जहां बुद्धि की निर्मल धारा प्राचीन रूढ़ियों के मरुप्रदेश में सूख नहीं जाती है,
जहां मस्तिष्क तुम से परिचालित होकर विस्तृत विचार और कार्य की ओर अग्रसर होता है —
वहां, उस स्वतंत्रता के स्वर्ग में, मेरे पिता! मेरे देश को जागरित करो।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

गांधी घर की योजना

गांधी घर सम्बन्धी कार्यक्रम तीन श्रेणी में विभक्त होगा :—

१—समग्र सेवा केन्द्र। २—व्यापक केन्द्र और ३—औद्योगिक केन्द्र।

१—**समग्र सेवा केन्द्र** :—जैसा कि इसके पूर्व की कमिटियां बतला चुकी हैं गांधी घर गांव के समग्र उत्थान के केन्द्र बनेंगे। इन केन्द्रों को ग्राम उत्थान के गांधीजी द्वारा बतलाये गये रचनात्मक कार्यक्रमों के आधार पर एक दो या अनेक कामों को हाथ में लेना नहीं है बल्कि उन्हें ग्राम उत्थान की समग्र योजना को कार्यान्वित करना है। ग्राम उत्थान का कार्यक्रम बतलाता है कि इस कार्यक्रम के विभिन्न अंगों को विश्रृंखलित रूप में लेकर इस काम को थोड़ा बहुत कर डालने का जो प्रयत्न होता है उससे ग्रामीण जनता के जीवन और स्थिति के सुधार में ठोस लाभ नहीं हो पाता। यदि हमें ग्रामीण जनता के जीवनस्तर को समुन्नत बनाना है तथा शोषण और अपव्यय का अन्त करना है तो ग्रामीण जीवन को इस प्रकार से नियोजित करना होगा कि जन-बल और धन के रूप में जो स्थानीय साधन उपलब्ध हों उनका पूरा-पूरा सदुपयोग हो। ऐसा किये बिना यह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। इस प्रकार के नियोजन के लिये यह आवश्यक है कि मोटा-मोटी निम्न आधार पर विस्तारपूर्वक पैमाइश करके यह लेखा तैयार किया जाय कि स्थानीय साधन क्या और किस परिमाण में उपलब्ध हैं :—

१—मनुष्य और मवेशी की बेकारी का परिमाण।

२—लाभप्रद होल्डिंग की व्यवस्था करके इस प्रकार कृषि सुधार करने की गुंजाइश कि कम जन-शक्ति से ही काम चल जाये तथा स्थानीय साधनों के उपयोग द्वारा स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के आधार पर आर्थिक व्यवस्था में संशोधन की गुंजाइश।

३—लोगों को युक्ताहार प्राप्त हो जावे इस उद्देश्य से कौन-कौन अन्न उपजाया जाये इसका नियोजन।

४—कृषि कार्य में लगने वाले श्रम की न्यूनतम मजदूरी के आधार पर कृषि के पैदावार की कीमत।

५—आयात-निर्यात तथा उसके परिणाम-स्वरूप व्यपार की अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्थिति को ध्यान में रखते हुये क्षेत्र के स्वावलम्बन की स्थिति।

६—ग्रामोद्योग का अर्थशास्त्र, यह मान कर कि सुधरे हुए औजार, आर्थिक सहायता, और कच्चे माल की पूरी सुविधा उपलब्ध है।

यदि हम रचनात्मक कार्यक्रम को सर्वोदय कार्यक्रम के रूप में गांवों में ले जाना चाहते हैं तो उसे इसी प्रकार की समग्र योजना का आधार लेना होगा। पौष्टिक भोजन तत्व की दृष्टि से तथा वस्त्र, घर, शिक्षा, चिकित्सा आदि आराम की सुविधाओं की दृष्टि से ग्रामीण समाज के जीवनस्तर की वर्त्तमान स्थिति कैसी है और ५ वर्षों के अन्त में उसे हम कैसा बना देना चाहते हैं इन दोनों बातों का निर्देश इस योजना में होना चाहिये। इस प्रकार की योजना बनाने और उसे कार्यान्वित करने के लिये सुयोग्य कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता होगी जो कृषि, पशुपालन, भोजन और स्वास्थ्य, उद्योग धंधा सहकारिता संगठन आदि विषयों में निपुण हों।

समग्र ग्राम केन्द्रों का एक बुनियादी कार्यक्रम यह होगा कि खेती की उपज को बढ़ाकर खाद्य समस्या को हल करने का प्रयत्न किया जाये।

प्रति एकड़ वर्त्तमान उपज कितनी होती है, इसका अन्दाज करके उपज के परिमाण को एक निश्चित अवधि के भीतर इन उपायों द्वारा एक निश्चित मात्रा में बढ़ाने का निश्चय कर लेना चाहिये जैसे कि खेत की मिट्टी कटने नहीं पावे और सुरक्षित रहे, सिंचाई का अधिकाधिक प्रबन्ध हो। किसानों को खाद और अच्छे बीज दिलवाने का अधिकाधिक प्रबन्ध हो और कृषि की अच्छी व्यवस्था हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थानीय प्राकृतिक साधनों के सदुपयोग द्वारा भूमि सुधार के कार्यक्रम को पूरा करना पड़ेगा। लेकिन इन सब बातों से भी ज्यादा जरूरी यह है कि योजना तैयार करने में स्थानीय लोग सहयोग दें। वास्तव में प्रयत्न तो यह करना चाहिए कि स्थानीय लोग ही आवश्यकतानुसार बाहरी सहायता लेकर अपने क्षेत्र के सम्बन्ध में स्वयं सोचने और वहां का उत्पादन बढ़ाने के लिए योजना तैयार करने के काम में लग जायें।

यह स्मरण रहे कि कार्यक्रम को सामाजिक दृष्टिकोण से तथा स्थानीय परिस्थिति को ध्यान में रखकर ही पूरा करना चाहिए न कि किसी पूर्व निश्चित धारणा के अनुसार। पूर्व धारणा के अनुसार किया गया काम अवसर, स्थानीय परिस्थिति और जनता की तात्कालिक आवश्यकताओं और मांगों से बेमेल हो जाया करता है। दूसरे शब्दों में दृष्टिकोण भाव रूप होना चाहिए जिसका उद्देश्य यह हो कि सभी साधनों को एकत्रित करके सम्पत्ति का उत्पादन बढ़ाया जाए और जनता की रहन-सहन की दशा में सुधार किया जाए न कि केवल ग्रामोद्योगों तक ही ध्यान बंधा रह जाए। कहने का तात्पर्य यह है कि ग्रामोद्योगों के अलावा भी अन्य प्रकार के काम करने का अच्छा क्षेत्र है जैसे कृषि-सुधार और ग्राम-नियोजना जिसमें अच्छी सड़कें, मनोरंजन के लिए मैदानों, घर और कुंआ बनवाने का काम शामिल है। ग्रामीण जनता के बीच भूमि-सेना का निर्माण

करके ये सभी कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। ये काम ऐसे हैं जिनसे स्थानीय जनता के हिताहित का सीधा सम्बन्ध होगा और जनता इन्हें उत्साहपूर्वक करेगी।

इन सारे कामों के करने में इस बात पर विशेष जोर रहना चाहिए कि हम इनके द्वारा ग्राम सुधार कार्य का सफल प्रयोग और जनता को शिक्षित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार के प्रयोग के जो परिणाम निकलेंगे उनसे गाँवों की बर्बादी और शोषण को रोकने के विज्ञान का निर्माण करने से सहायता मिलेगी। आज की स्थिति यह है कि जो लोग सम्पत्ति पैदा करते हैं वे अपने परिश्रम के फल का उपयोग नहीं कर पाते और जो पैदा नहीं करते हैं उन्हें उपभोग की सामग्री खूब प्राप्त हो जाती है। यह विज्ञान इसके रहस्य का पता लगायेगा तथा ऐसी स्थिति लाने में जो कारण सहायक होते हैं उनका विश्लेषण करके यह निर्धारित करेगा कि वे कारण किस हद तक इस परिस्थिति के लिए उत्तरदायी हैं और इन कारणों के दूर करने के उपाय सुझायेगा, जिसके फलस्वरूप मूल उत्पादकों की रहन-सहन काफी अच्छी हो जाएगी और उन्हें विकास का अवसर प्राप्त हो सकेगा। प्रयोग और विज्ञान निर्माण के सिलसिले में लोगों को इन कारणों का ज्ञान हो जायगा और अपने दुखों के कारणों को दूर करने के लिए वे कुछ ठोस काम करेंगे। यह प्रयोग इस प्रकार संचालित होना चाहिए तथा उसके परिणामों का इस प्रकार से प्रचार होना चाहिए कि कार्यनीतिक विचारधारा और सरकारी नीति निर्धारण पर उसका प्रभाव पड़े।

समग्र-सेवा-केन्द्रों की योजना स्वभावतया प्रयोगों के आधार पर ही बनती और विकसित होती जायगी। स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रयोग के कुछ चुने हुए केन्द्र ही होंगे। और ऐसे केन्द्रों का चुनाव इस बात को ध्यान में रखकर करना होगा कि इसके लिए अनुभवी और सुयोग्य कार्यकर्त्ता उपलब्ध हैं या नहीं और इससे अधिक यह कि स्थानीय जनता में इस काम के लिए उत्साह तथा उसका सहयोग प्राप्त है या नहीं। पर जहां संभव हो, समग्र-सेवा-केन्द्र खोलने के पूर्व व्यापक और औद्योगिक केन्द्र खोलकर उसकी तैयारी की जा सकती है।

२ व्यापक केन्द्र :—व्यापक केन्द्रों के कार्यक्रम में निम्नलिखित काम रखे जा सकते हैं :—

१ - सर्वधर्मीय सामूहिक प्रार्थना।
२—स्वावलम्बन के लिए कताई।
३ - मिश्रित खाद बनाना।
४—हाथ कूटा चावल।
५ मगन चूल्हा।
६ – प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्त पर प्राथमिक उपचार।
७—शान्ति सेना।
८—भूमि सेना।

व्यापक-केन्द्र वर्त्तमान या नवीन रूप में लिए गये कार्यकर्त्ताओं द्वारा खोले जा सकते

हैं। वर्त्तमान कार्यकर्त्ताओं को उपरोक्त कामों का ज्ञान थोड़े समय के प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त कर लेना चाहिए। ऐसे प्रशिक्षण की व्यवस्था किसी उपयुक्त संस्था में की जा सकती है। केन्द्रों का काम हाथ में लेने के पहिले नये कार्यकर्त्ताओं को नियमित रूप से दो वर्षों तक उस क्षेत्र की प्रशिक्षण संस्था में शिक्षा प्राप्त करना होगा।

३—**औद्योगिक केन्द्र** :—दो वर्ष का प्रशिक्षण समाप्त हो जाने पर चुने हुए ग्रामोद्योगों की प्रक्रियायों तथा उनके विक्रय के सम्बन्ध में और भी शिक्षा लेनी होगी। इस प्रकार कार्यकर्त्ताओं द्वारा औद्योगिक केन्द्र खोले जायेंगे जिसमें 'निधि' की ओर से मकान, साधन-सरंजाम तथा कच्चे माल के स्टौक के रूप में आवश्यक पूंजी लगानी होगी। ऐसे कार्यकर्त्ताओं को १०० रुपये मासिक वेतन पर नियुक्त किया जायेगा। उनके वेतन का क्रम ७५ रुपया-५ रुपया-१५० रुपया होगा।

केन्द्र का चुनाव :—एक केन्द्र का कार्यक्षेत्र लगभग १० गांवों के समूह का होगा। केन्द्र का चुनाव करते समय प्रधानतः यह ध्यान में रखना चाहिए कि वहां पर गांधी-घर की स्थापना के लिए अनुकूल वातावरण है या नहीं याने इस कार्य के लिए स्थानीय कार्यकर्त्ता उपलब्ध हैं या नहीं। इसके प्रतीक रूप में गांधी-घर के निर्माण के लिए उस क्षेत्र की ओर से आवश्यक जमीन गांधी-स्मारक-निधि को दान में मिलना चाहिए और इसके अलावे निर्माण के खर्च का पचमांश भी श्रम, वस्तु या नकद रूप में मिलना चाहिए। गांधी-घर के निर्माण तथा उसके निर्वाह के लिए जो दान मिले उसके साथ कोई ऐसी शर्त्त नहीं लगाई जानी चाहिए जो निधि के उद्देश्य से असंगत हो या किसी प्रकार से इसकी कार्य-योजना में बाधक या हस्तक्षेपकारक सिद्ध हो।

प्रकाशक—श्रीनगेन्द्र नारायण सिंह, मंत्री, बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना

मुद्रक—वैशाली प्रेस, पटना–४

'अमृत' के नियम

१. 'अमृत' प्रतिमास प्रकाशित होगा।

२. इस का वार्षिक मूल्य ५) और एक प्रति का आठ आना है।

३. पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या लिखने की कृपा करें।

४. 'अमृत' में जन-जीवन, विशेषतः हरिजनों, आदिवासियों तथा अन्य उपेक्षित वर्गों के कल्याण-संबंधी स्वस्थ एवं सुरुचिपूर्ण रचनाओं का विशेष स्थान होगा। यह रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की व्यावहारिक कठिनाइयों तथा उनके निराकरण सम्बन्धी सुझावोंका स्वागत करेगा।

५. 'अमृत' में अश्लील तथा भद्दे विज्ञापन नहीं लिए जायेंगे।

भारत के प्रत्येक कोने में एजेन्टों की आवश्यकता है। एजेंसीके नियमके लिए मैनेजर, 'अमृत' बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना-४ को लिखें।

तार :—'सेवकसंघ' पटना। फोन :—पटना २१४६।

·बापा की पुण्य-स्मृति में—

अमृत

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

बी० एम० दास रोड :: पटना-४

निरा अज्ञान

लाला लाजपतराय पंजाब के शेर थे। वह चले गये। मैं उनका मित्र था। मैं अक्सर उनसे मजाक किया करता था कि तुम हिन्दी कब बोलोगे और देवनागरी कब लिखोगे? वह जवाब देते थे कि यह होनेवाला नहीं है। वह आर्यसमाजी थे। उनके घर में हमेशा हवन होता था। उर्दू के वे बड़े विद्वान थे। शीघ्रता से लिख सकते थे। घंटों तक उर्दू में और अंग्रेजी में बोल सकते थे। पर हिन्दी नहीं जानते थे। उनके साथ बात करते समय मुझे चुन चुनकर अरबी-फारसी के शब्द इस्तेमाल करने पड़ते थे। ऐसा नहीं है कि मुसलमान मेरे ज्यादा दोस्त हैं और हिन्दू कम। मेरे पास सब समान हैं। जो मेरे लड़के-लड़की माने जाते हैं, वे उतने ही मेरे प्यारे हैं जितने कि देश के दूसरे लड़के-लड़की। धर्म हमें यही सिखाता है। यह सीधी बात है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मैं दो बार सभापति बना था। वहाँ भी मैंने अंग्रेजी का विरोध किया था। लोगों ने तालियाँ बजाई थीं। आज मैं जब उर्दू का पक्ष लेता हूँ, तो कम हिन्दू नहीं हो जाता। जो उर्दू का द्वेष करते हैं और अंग्रेजी का पक्षपात करते हैं, वे कम हिन्दू हैं। अंग्रेजों के जमाने में भी मैं वही बातें करता था। मैं न तो अंग्रेजों का दुश्मन हूँ और न अंग्रेजी का। मगर सब चीज अपनी-अपनी जगह पर अच्छी लगती है। अंग्रेजी दुनिया की, व्यापार की भाषा है, हमारी राष्ट्रभाषा नहीं। अंग्रेजी राज्य तो यहाँ से गया, लेकिन अंग्रेजी भाषा का और अंग्रेजी सभ्यता का असर नहीं गया। यह बड़े दुःख की बात है। पत्र लिखनेवाले भाई मद्रास को जानते नहीं। यहाँ के बनिस्बत वहाँ ज्यादा लोग अंग्रेजी जानते हैं। मगर मैं बहुत दिनों पहले जब मद्रास गया था, तब महात्मा नहीं बना था। तांगेवाला मेरी अंग्रेजी नहीं समझा, मगर मेरी टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी समझकर वह मुझे नटेसनजी के घर पर ले गया था।·····················

ता० १६. १२. ४७ —महात्मा गांधी

प्रकाशक—श्रीनगेन्द्र नारायण सिंह, मंत्री, बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना
मुद्रक—वैशाली प्रेस, पटना-४

आगत

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

वर्ष – एक
अंक – दस

मई, १९५२

सम्पादक
नगेन्द्रनारायणसिंह
गिरीन्द्रनारायण, मोहिनीमोहन

वार्षिक – ५)
एक प्रति – ।।)
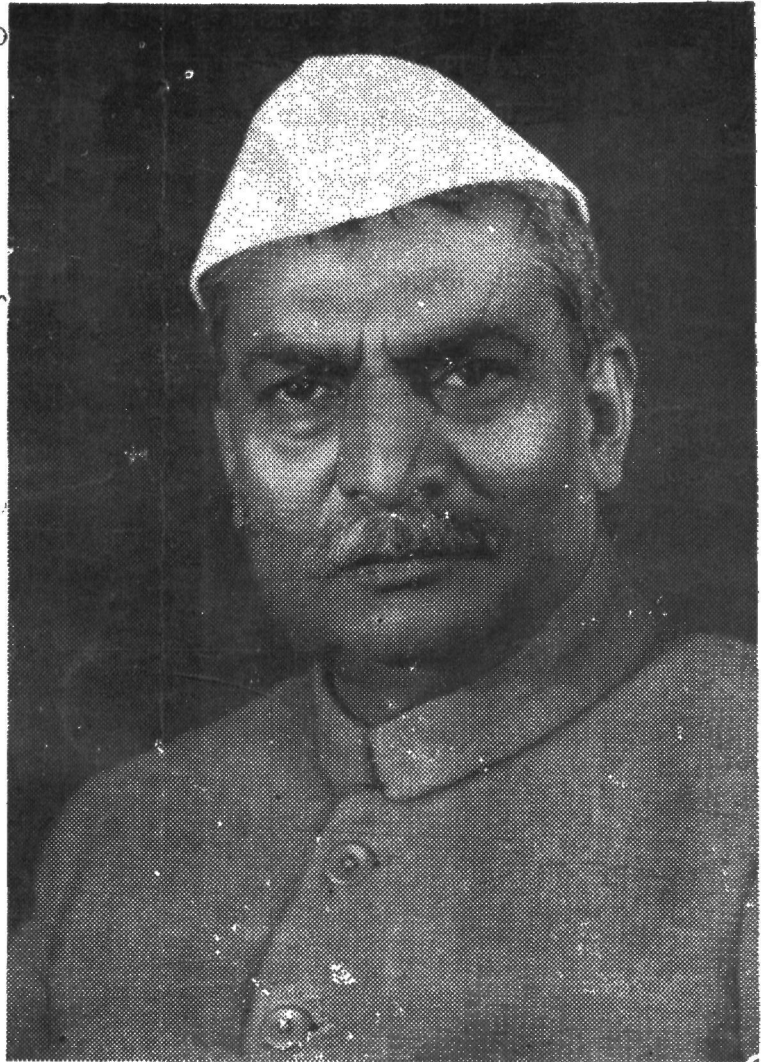
नवनिर्वाचित राष्ट्रपति

इस अंक के लेख और लेखक

वर्ष एक

आरती

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

अंक दस

पटना, मई १६५२

महात्मा

वे अपने हजारों गरीब और कंगाल देशवासियों की झोपड़ियों के दरवाजों पर उन्हीं के जैसे कपड़े पहनकर गये और वहां रुके। वे उन्हीं की भाषा में उनसे बोले। आखिर गांधी में लोगों ने जीते-जागते सत्य के दर्शन किये। वे केवल पुस्तकों में से उद्धरण पेश नहीं करते थे, बल्कि जो कुछ कहते उसके अनुसार जीवन भी बिताते थे। इसी कारण से भारत की जनता द्वारा दिया हुआ महात्मा नाम उनका सच्चा नाम है। उनकी तरह दूसरा किसने यह महसूस किया कि सारे हिन्दुस्तानी मेरे ही अभिन्न अंग हैं? जब प्रेम भारत के दरवाजे पर मूर्त रूप लेकर आया, तो वह दरवाजा पूरा खोल दिया गया। गांधी की पुकार पर भारत ने नई महत्ता का विकास किया, जैसा कि प्राचीन काल में एक बार उसने किया था, जब भगवान बुद्ध ने सारे प्राणियों के प्रति समभाव और दया रखने का सत्य घोषित किया था।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

श्रम की प्रतिष्ठा

मजदूरों के पैदा किये हुए अन्न, वस्त्र, और नित्य की आवश्यकताओं के अन्य सभी सामानों से समाज का काम चलता है। इस उपकार के बदले अपने इस उपयोगी अंग—मजदूरों का—समाज आभार मानता, या उचित पारिश्रमिक उनको देता हो, ऐसा नहीं।

हमारे शहरों के मजदूर गन्दे-भद्दे अनैतिक वातावरण में रहने के लिए बाध्य हैं! पोषक तत्वों से पूर्ण भोजन की तो बात ही क्या, भर-पेट खाना भी उनको मुहाल है।

शहरों के अन्दर या बाहर, भारतीय खानों, कल-कारखानों के मजदूरों की हालत बहुत ही खराब है। मिलों की माया में फँसकर यह अपनी आत्मा और देह—अपना सर्वस्व, खो रहे हैं। मिल खड़े किये जाते हैं इसलिए नहीं कि लोगों को काम मिले, आराम मिले। श्रम पर जीवन को अवलंबित करने वालों के श्रम के हक को छीन कर ही कल-कारखाने बनाये गए हैं। गाँवों के स्वच्छ नैतिक वातावरण में, जिस काम को सैकड़ों-हजारों आदमी मिलकर करते थे—सादगी और सहूलियत से अपनी जीविका चलाते थे, अब मिलों में, चन्द आदमी उसे थोड़े ही समय में पूरा कर देते हैं। मिलों के कारण श्रम की समस्या सुलझी नहीं, और उलझ गई, यह साफ है। श्रम की बचत से, पहले की तरह, पूंजी अब अनेक के पास नहीं, एक के पास जाती है। गाँवों से कला-कौशल विदा हो गई, लोग बेरोजगार हो गये, उनकी रोटी छिन गई यह अलग। बीभत्स भावरों और 'चालों' में, स्वल्प पारिश्रमिक पर रहने वाले कल-कारखानों के मजदूरों की हालत, उनकी दुर्दशा, उनके बीच रहकर ही देखी जा सकती है।

गाँव के खेत मजदूर भी जमाने की चक्की में पिसने से नहीं रहे। कम-से-कम मजदूरी और श्रम के बचाव-बचत की छूत वहाँ भी पहुँच गई है। जो बेजमीन हैं, उनको काम देने का, आराम देने का, खयाल पहले की तरह किसानों या जमींदारों को अब नहीं रहा। जमीन बढ़ी नहीं और जन-संख्या बढ़ गई। स्थिति इससे और भी नाजुक हो गई है। खेत मजदूरों को रोजाना काम-धन्धा नहीं मिलता। वर्ष के इन आधे दिन बेकारी और फाकाकशी में कटते हैं। इनकी रोजी का मसला, इनकी भूख की समस्या, सुधरने के बदले रोज-रोज बिगड़ती ही चली जा रही है।

कुल मिलाकर, सभी क्षेत्रों और वर्गों के श्रमिक—खास कर निम्नस्तर के मिल मजदूर और खेत मजदूर, जो अधिकतर हरिजन या पिछड़े वर्गों के होते हैं, घोर आर्थिक कठिनाइयों

की स्थिति से गुजर रहे हैं। देश के सभी वर्गों के लोग इसी स्थिति में हैं, ऐसा नहीं। कल-कारखानों के मालिक, रोजगारी, किसान, जमींदार सभी आराम में हैं। जिनके पसीने की कठिन कमाई के मीठे फल खा कर यह सुखी हैं, उन मजदूरों को ही नंगा-भूखा क्यों रहना चाहिए, इस ओर इनका ध्यान जितनी जल्दी जाय तो अच्छा।

इस संबंध में सरकार की ओर से कानून बनाये जा रहे हैं। जाँच-पड़ताल हो रही है, कि कम-से-कम कितना पारिश्रमिक मजदूरों को मिले। विनोबाजी देश-भर की पैदल यात्रा कर रहे हैं, कि किसान जमींदार बेजमीनों को छोटा भाई मानकर, अपनी जमीन का थोड़ा हिस्सा इनको भी दें। यह बेजमीन लोग अधिकतर मजदूर ही हैं; इस तरह, ऊपर से देखने में, इनका कल्याण संभावित नजर आ रहा है।

लेकिन, कानून की धारायें और विनोबाजी के प्रयत्न निष्फल साबित होंगे अगर लोगों का दृष्टिकोण नहीं बदलता, वह ऐसा नहीं मान लेते कि उत्पादन-जनित-सम्पत्ति में श्रमिकों का भी किसी-न-किसी रूप में कुछ हक होना चाहिए। कथित नहीं, वास्तविक हृदय परिवर्तन के बिना न तो विनोबाजी का अच्छा काम ही सफल होगा, न कानूनों को ही मान्यता प्राप्त होगी—ठीक उसी तरह, जैसे, कई उपयोगी और आवश्यक कानून लोगों की उपेक्षा और धाँधली के कारण आज बनकर भी विफल हो रहे हैं।

बापू के चले जाने के बाद, मैदान खाली समझकर जो मनमानी कर रहे हैं, समय की गति-विधि देखकर भी नहीं देख रहे, हम उन्हें क्या कहें। इनकी स्वार्थपरता और सख्तियों का नतीजा आगे चलकर मजदूरों के लाभ के लिए ही होगा यह हम जानते हैं, लेकिन, तब गान्धीजी के मध्यम मार्ग का नया रास्ता बन्द हो गया रहेगा।

इतिहास की पुनरावृत्ति से उसका एक नया, सुन्दर पृष्ठ खुलना कहीं अच्छा रहता।

—सम्पादक

स्व० अमृतलाल ठक्कर

बेड़िया जाति

अपने बुन्देलखण्ड (विन्ध्य-प्रदेश) के दौरे में मैं १ मई को सबेरे बिजवाड़ पहुँचा। इस कस्बे की आबादी १०,००० है। भंगी, बंसफोड़ और चमारों के महल्लों को देखने तथा एक हरिजन प्राथमिक स्कूल का मुआइना करने के बाद लोग मुझे अपनी पार्टी के साथ बेड़ियों के महल्ले में ले गए। यह जाति बहुत बड़ी नहीं है और इस ओर कुछ ही जगहों में पाई जाती है। इस महल्ले में १८ परिवार रहते हैं, जिनमें २१ मर्द, ३४ औरतें, ८ लड़के और १० लड़कियाँ, इस तरह कुल ७३ जीव हैं।

भंगी, चमार, बंसफोड़ वगैरा के महल्लों में तो मुझे उनकी रहन-सहन, काम-धन्धे, उनकी मजदूरी और सामाजिक हालत के बारे में जान लेने में कुछ भी कठिनाई नहीं हुई। लेकिन, इस महल्ले में वहाँ के मर्द-औरतों को इकट्ठा करने में ही कुछ समय लग गया। सबसे पहले औरतें ही आईं। मर्दों को इकट्ठा करने में कुछ कठिनाई भी हुई। उनके इकट्ठा हो जाने के बाद ८-१० आदमियों से पहला सवाल पूछा गया उनके धन्धे के बारे में। पहले तो हमें कहा गया कि वे सब रियासत की ओर से दी हुई जमीन जोतते हैं। लेकिन वह बात गलत निकली। फिर उन्होंने कहा कि उनके पास जोतने के लिए कोई जमीन नहीं है। उन्हें जो एक जमीन मय कुँए के दी गई थी, वह गाँव के जागीरदार के हाथ में चली गई है। फिर एक युवती ने सरकारी मुहर वाला एक दस्तावेज बतलाया, जिससे पता चला कि उसके बूढ़े पिता को, जो वहीं हाजिर था, पट्टे पर एक जमीन मिली थी। लेकिन वह जमीन भी जागीरदार ने उस परिवार से छीन ली है।

थोड़ी पूछताछ करने पर मुझे उनके धन्धे के बारे में किए गए सवाल का सही-सही जवाब मिला। एक बूढ़े ने निखालिसता से कहा—हम अपनी बहन-बेटियों की कमाई पर जीते हैं! मतलब कि उनकी वेश्या-वृत्ति से अपना जीवन चलाते हैं। आम तौर पर स्त्रियों में जो संकोच और लज्जा होती है, उनका इन औरतों में अभाव पाया और एक तरह की ढिठाई दिखी। उससे यही मालूम होता है कि वे मर्दों से ज्यादा हिम्मतवाली और चालाक हैं। वे ही उस छोटी-सी सभा में अगुआपन करती थीं। जब हमने उनपर अपनी जाति का धन्धा छोड़कर कोई सभ्य काम से जीविका चलाने के लिए जोर डाला, तो जिस युवती के पास जमीन का पट्टा था, उसने अपनी कहानी कही। उसने शिकायत करते हुए कहा—

'कुछ समय पहले मैं एक ब्राह्मण के लड़के से शादी करना चाहती थी। वह भी राजी था। लेकिन उस मामले की पुलिस में रिपोर्ट कर दी गई और थानेदार ने उस शादी को नामंजूर करके उस पर रोक लगा दी। मैं तो शादी करके पवित्र गृहस्थ जीवन बिताने के लिए तैयार थी, लेकिन सरकार माँ-बाप ने मुझे वह करने की इजाजत नहीं दी।' उसने आगे कहा—'मुझ जैसी और भी कई बहनें स्थिर गृहस्थ जीवन बिताने को तैयार हैं, लेकिन हम ऐसा कर नहीं सकतीं। इसमें हमारा जरा भी दोष नहीं है। हमें अपने परम्परागत जीवन को अपनाए रहने के लिए मजबूर किया जाता है। अगर आप हमारे लिए स्थिर जीवन के साधन जुटा दें और हमारे आदमियों को जीविका चलाने के लिए कुछ जमीन मिल जाय, तो हम भी समाज के और लोगों की तरह रहने को तैयार हैं।'

मेरे साथ आये हुए मित्रों ने, जिन में सरकारी और गैर-सरकारी दोनों तरह के लोग थे, साफ-साफ मंजूर किया कि पहली ही बार उन्होंने इस जाति को तथा उसकी गिरी हुई सामाजिक हालत को देखा है। उन्होंने कहा—'हम तो रोज अपना कोर्ट-कचहरी का, काँग्रेस-प्रजामंडल का, जलसों-आन्दोलनों का काम करते रहे हैं। यह समस्या हमारे सामने ही नहीं आई, जो कि हमारे मुहल्ले में ही है। और इसमें तो शक नहीं कि बेड़िया जाति की हालत हमारे समाज पर एक बड़ा कलंक है।'

३४ औरतों में करीब २५ औरतें वेश्या-जीवन बिताती हैं। क्या समाज-सेवक इन बहनों को ऊपर उठाने का काम अपने हाथों में नहीं लेंगे?*

कर्नाटक में भी औरतों की ऐसी ही एक जाति है। वह देवदासी कहलाती है। हमारे एक बड़े और अनुभवी हरिजन-सेवक श्री काका कररवानिस ने इन देवदासी लड़कियों को पढ़ाने का काम अपने हाथ में लिया और उन्हें बीजापुर शहर के साधारण हरिजन कन्या छात्रालय में भी भरती करवाया। उन्हें अपनी उस पढ़ाई में सफलता मिली है और १९३८ से १९४९ तक १० लड़कियों को सभ्य-समाज में प्रवेश कराया गया है। उनमें कुछ तो शिक्षिकाएं हैं।

---

*सन् १९४९ ई० में लिखे गए बापा के इस लेख में जिस समस्या पर प्रकाश डाला गया था वह आज भी प्रायः ज्यों-की-त्यों है। बिहार में ही बाउरी तथा कुछ अन्य जातियों की दशा, कम या अधिक, बेड़ियों की तरह ही है। यहाँ भी कोर्ट-कचहरियों, राजनैतिक दाव-पेंच, और जलसों से किसी को फुर्सत कहाँ है कि इधर ध्यान दे।—सं०

जी० के० चितालिया

ठक्कर बापा

सन् १९१२ ई० में भारत-सेवक-समाज की बम्बई शाखा का काम उस छोटे-से मकान में होता था जो श्री किशोर लाल मशरूवाला के पिता के किराए में था। श्री देवधर, श्री जोशी और दूसरे-दूसरे कार्यकर्त्ता भी उसी में रहते थे। प्रायः रोज शाम को, सर पर दक्षिणी तरीके की पगड़ी पहने एक वयस्क पुरुष अस्पृश्यता और उसके निवारण के संबंध में बातें करने आया करता। बातें अंगरेजी या मराठी में होतीं। वयस्क पुरुष जो आया करता था, उसे मन-ही-मन मैं महाराष्ट्री मानता था। लेकिन, एक दिन, जब श्री देवधर का पत्र लेकर खोजते-खोजते मैं एक मकान में पहुँचा तो वही वयस्क आदमी हँसता हुआ बाहर आया और बोला—पत्र मुझे दो। मैं ही हूँ अमृतलाल ठक्कर !

उन दिनों अमृतलाल ठक्कर बम्बई म्युनिसिपैलिटी के रोड-सुपरिन्टेन्डेन्ट थे। सुबह और दोपहर को वह अपने काम पर जाते और शाम को, जैसा कि कह चुका हूँ, अस्पृश्यता और उसके निवारण के संबंध में सोचते-विचारते और परामर्श करते थे। उसी समय उनकी तीव्र इच्छा थी कि वह भारत-सेवक-समाज में दाखिल हो जायँ, लेकिन उनके पिता जीवित थे और एक बड़े परिवार का पालन उनको करना पड़ता था। फिर भी, अपने वेतन से कुछ रकम निकाल कर भारत-सेवक-समाज के कोष में नियमपूर्वक देना वह नहीं भूलते थे। डा० देव भी ऐसा ही करते थे। दो वर्ष बाद, यह दोनों ही मित्र एक ही साथ भारत-सेवक-समाज में प्रविष्ट हो गए।

भारत-सेवक-समाज में दाखिल होने के समय अमृतलाल ठक्कर के सामने एक गहन समस्या थी। भारत-सेवक-समाज में शुरू शुरू लोग अस्थाई तरीके पर ही लिए जाते हैं। नौकरी छोड़ देने पर अगर वह स्थाई तरीके पर नहीं लिये गए तब ? लेकिन श्री गोखले अचल थे। अमृतलाल ठक्कर नौकरी छोड़ कर ही दाखिल हो सकते थे। और श्री ठक्कर ने इस्तीफा दे दिया।

ठक्कर बापा के भारत-सेवक-समाज में शामिल होते ही 'अस्पृश्यों' के जैसे भाग्य ही खुल गए। बम्बई के भंगियों को म्युनिसिपैलिटी का काम पाने के लिए दस्तूरी के रूप में बड़ी-बड़ी रकमें घूस देनी पड़ती थीं, जो पठानों या मारवाड़ियों से कर्ज में ली जातीं। ठक्कर बापा पहले से ही इस दिशा में काम कर रहे थे और बाद में तो उन्होंने बहुत कुछ किया—उन्हें ऋणमुक्त ही कर दिया।

भारत-सेवक-समाज में दाखिल होते ही ठक्कर बापा को गोकुल और मथुरा जाना पड़ा। अत्यधिक ओले पड़ने से वहाँ पशुओं के चारे का प्रश्न विकट हो उठा था। ठक्कर बापा ने कार्यकर्त्ताओं को सुगठित कार्यप्रणाली, सफाई, समय की पाबन्दी और कमखर्ची का सबक सिखाया। मुझ जैसे कई कार्यकर्त्ताओं को उस समय यह सब बहुत कठिन जान पड़ा था।

अस्पृश्यता-निवारण की ओर ठक्कर बापा का झुकाव उनके सार्वजनिक जीवन के

आरम्भ से भी पहले से था। भारत-सेवक-समाज में आने के कुछ ही दिन बाद भीलों के इलाका पंचमहाल की ओर वह आकृष्ट हुए और जमकर काम करने के लिए दोहद को अपना कार्य-केन्द्र बनाया। सौभाग्य से उन्हें श्रीकान्त भाई और सुखदेव भाई जैसे सुयोग्य सहयोगी भी मिल गए। भील-सेवा-मंडल के जरिये ठक्कर बापा ने ऐसा अच्छा काम किया कि उनका सुयश देश भर में फैल गया।

एक बार मंडल का काम देखने मैं दोहद गया था। मक्का की रोटियों पर मुझे रहना पड़ा! ठक्कर बापा के साथ आश्रम और स्कूल देख कर दूसरे दिन हमलोग गाँवों की ओर चले। कुछ रास्ता पैदल भी तय करना पड़ा। दोपहर हो गया था। हमलोग एक गाँव से दूसरे गाँव में जा रहे थे। मुझे बहुत प्यास लग गई। अगला गाँव अभी काफी दूर था। इसी समय हम एक छोटे-से पोखरे के पास पहुँचे। भैंस और दूसरे-दूसरे मवेशी उसमें पानी पाती थे। पानी गँदला था। मुझे पीने को कहा गया, लेकिन उस गन्दे पानी को पीने से मैंने तो साफ इनकार कर दिया। उसी समय ठक्कर बापा चुपचाप चिल्लू से पानी पी रहे थे और प्रसन्न नजर आते थे! निजी आराम-सुख के प्रति उदासीनता, ममत्व का त्याग, तथा वैराग्य का इससे अच्छा उदाहरण और कहाँ मिलेगा?

सन् १९१९ ई० में मैं काठियावाड़ में अकाल-पीड़ितों की सेवा कर रहा था। ठक्कर बापा ने अपना पूरा सहयोग दिया और हमें रास्ता बताया। सन् १९२६ ई० में गुजरात में बाढ़ का भयंकर प्रकोप हुआ और हरिजनों की सहायता के काम में ठक्कर बापा ने हमारी सहायता की। इस सहायता कार्य का परिणाम यह हुआ कि हरिजनों के घर पहले से भी अच्छे बन गए! मेरे और ठक्कर बापा के एक पढ़े-लिखे सवर्ण मित्र की बाढ़ से बहुत क्षति हो गई थी। मैंने उनकी सहायता के लिए ठक्कर बापा से अपील की। उन्होंने कहा—हमारे मित्र को सचमुच ही सहायता की जरूरत होगी। तुम तीन हिस्से दो, मैं अपना हिस्सा एक चौथाई दूँगा। इससे अधिक मैं नहीं दे सकता। मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि बची हुई रकम हरिजनों के ऊपर ही खर्च करूँगा। तथा-कथित सवर्णों के ऊपर इससे अधिक खर्च मैं नहीं कर सकूँगा।

दिल्ली में रहते हुए तिहत्तर वर्ष की अवस्था में ठक्कर बापा को बवासीर हो गया। कष्ट इतना हुआ कि उनको लगा मृत्यु अब आ पहुँची। उनके भाई डॉक्टर केशव लाल ठक्कर उस समय भावनगर जेल में थे। ठक्कर बापा ने भावनगर के दीवान को लिखकर उन्हें जेल से छुड़वाया। जब वह दिल्ली पहुँच गए, एक दिन, आधी रात को ठक्कर बापा खाट से एकाएक उठ बैठे, रोशनी जलाई और मेरे नाम एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें अपने किये हुए पिछले अपराधों के लिए क्षमा माँगी! ऐसे थे वह सरल-हृदय उदार!

ठक्कर बापा समस्याओं का अध्ययन करते और चुन कर अपना कार्यक्षेत्र निर्धारित करते थे। चालीस वर्षों तक दीन-दुखियों की सेवा ही जैसे उनकी साँस थी। वह एक सन्यासी थे जिसके वस्त्र चाहे रंगे हुए नहीं हों, लेकिन मन सेवा में रमा हुआ था—रंगा हुआ था। अधिकार और पद उन्हें कभी अपनी ओर नहीं खींच सके, न पैसा, न प्रशंसा।—ठक्कर बापा अभिनन्दन-ग्रन्थ।

तेबीता नमुश्रा तोरा

महात्मा गांधी

मैं उस वृद्ध पुरुष का वर्णन कर रहा हूं
जिसने एक बार फिर अपने देश को जिला दिया;
यद्यपि उसके अन्दर शारीरिक शक्ति अधिक नहीं थी
किन्तु वह शक्ति और कष्ट से कभी भयभीत नहीं हुआ।
वह भारत को स्वतंत्र देखना चाहता था,
उसकी गम्भीर विचार धारा स्वतंत्र थी,
वह बृटिश शासन से भारत को मुक्त करना चाहता था
उसने जैसा निश्चय किया वैसा ही कार्य भी किया;
किन्तु उसी के एक देशवासी ने उसकी हत्या की
*उसने जिसे स्वतंत्रता दी उसीने उस पर गोली चलाई।**

* श्री तेबीता नमुश्रा तोरा फिजी द्वीप के आदिम निवासी हैं। फिजी के आदिम निवासियों की बात तो दूर, भारतीय विद्यार्थियों को भी भारत का इतिहास पढ़ने का अवसर प्राप्त नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में महात्मा गांधी की मृत्यु के बाद वहां के एक आदिम निवासी द्वारा रचित यह गीत आश्चर्य का विषय है। —सं०

श्यामाचरण दूबे

आदिवासियों की समस्या

सन् १९४१ ई० की जन-गणना के अनुसार भारत की परिगणित जातियों और आदिवासियों की संख्या प्रायः २½ करोड़ है। यह इस देश के आदिम निवासियों की सन्तान हैं। यह वही हैं जिनकी चर्चा हमारे प्राचीन ग्रन्थों में अनार्य, दस्यु या निषाद के नाम से की गई। आर्यों के भारत में आने पर, मैदानों को छोड़कर यह पहाड़ों और जंगलों की निर्जनता में जा छिपे, ऐसा समझा जाता है।

वॉन आइक्सटेड के अनुसार भारत के तीन प्रमुख जाति समुदायों में दो इन आदिवासियों में पाए जाते हैं। श्री बी० एस० गुहा के अनुसार इन आदिवासियों में निग्रो, प्रोटो आस्ट्रेलायड और मंगोल, इन तीन प्रमुख जाति समुदायों के रक्त का मिश्रण मौजूद है। विभिन्न जातियों के संगमस्थल भारत में यह जातियां सदियों से एक दूसरे के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संपर्क में आती रही हैं जिनमें मैदानों के रहनेवाले आर्य भी शामिल हैं। इनकी छाप आर्यों पर और आर्यों की इन पर पड़ी, तथा इस पारस्परिक आदान-प्रदान का असर देश की सामाजिक और राजनैतिक विचार-धाराओं के विकास पर काफी तौर से पड़ा। आज भी, भारतीय समाज के विहंगम संगठन में, उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विकास में, अर्थात् जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलू में, विभिन्न जातियों के इस आदान-प्रदान और सम्मिश्रण के चिह्न साफ देख पड़ते हैं।

आसाम, बिहार, उड़ीसा, मध्य-प्रदेश और भारत के दक्षिणी भागों में आदिवासी काफी संख्या में बसे हुए हैं। देश के उत्तरी और पूर्वी कुछ अन्य हिस्सों में भी यह छिट-पुट पाए जाते हैं। विभिन्न शाखाओं, जातियों रीति-रस्म, रहन-सहन और बोलियों में बँटे हुए यह लोग भारत के निवासियों में अपनी निजी महत्ता और खास स्थान रखते हैं। सदियों के अन्तराल में इनमें कुछ जातियों में शारीरिक और कुछ में संख्या ह्रास के चिह्न स्पष्ट देख पड़ रहे हैं। कुछ जातियां अपने पड़ोसियों के कन्धे-से-कन्धे नहीं मिला पाईं, कुछ पड़ोसियों के निर्धन खेत-मजदूर बन गईं। लेकिन इनमें कुछ जातियाँ अब भी अपना गौरव कायम रखने में समर्थ हैं—विनाश के गर्त में वे नहीं गिरीं। इन तमाम जातियों की असंख्य समस्याएं आज हमारे असंख्य राष्ट्रीय प्रश्नों में एक जबर्दस्त चुनौती के रूप में उपस्थित हैं।

इन जातियों की अपनी निजी संस्कृति काफी गहराई तक गई हुई है, ऐसा निःसंकोच कहा जा सकता है। कहीं-कहाई प्राचीन

कथा-कहानियों में वर्णित अपनी परम्परागत मर्य्यादा को यह प्रसन्नतापूर्वक ढो रहे हैं—यह भी स्पष्ट है। रहन-सहन, रीति-रिवाज, सामाजिक संगठन, आर्थिक मामलों और धार्मिक विश्वासों में यह आपस में एक दूसरे से भिन्न हैं, लेकिन इनकी संस्कृति में प्रायः एक ही प्रवाह है। संस्कृति की एक ही धारा होने पर और उसका आधार बहुत सीधा-सादा रहने पर भी इनका एक दूसरे से भिन्न होना अचरज की बात नहीं, क्योंकि इनके जीवन का विहंगम संगठन परम्पराभूत है और यद्यपि अपरिवर्तनीय नहीं, फिर भी काफी कसा हुआ है। परिवर्तन अगर है भी तो उसकी प्रगति धीमी है—यह जल्दी में फेर-बदल कर लें ऐसा नहीं। एक तरह से अपनी ही दुनिया में रहते हैं यह, जिसमें अपने प्राचीन से इनका जो संबंध है वह परम्परा के द्वारा ही। इसमें कुछ गहराई हो या ऐतिहासिक छान-बीन की बेचैनी, सो नहीं। होते-हवाते सब कुछ मात्र पौराणिक कल्पना रह गई है, बस। प्राचीन के प्रति अटूट श्रद्धा रखनेवाले यह लोग काफी तरह से अपरिवर्तनवादी हैं ऐसा भी कहा जा सकता है, लेकिन इससे इनके जीवन की लड़ी का तारतम्य टूट गया हो ऐसा नहीं—वह अपने आप में प्रायः पूर्ण है। संस्कृति के अंग एक दूसरे के सहायक हैं। विदेशी संस्कृति प्रायः अग्राह्य होने से उसके लादे जाने पर इनकी प्रतिक्रिया काफी कठोर और कटु होती है।

अस्तु; आदिवासियों की समस्याओं को एक मान कर उन पर विचार संभव नहीं है। सांस्कृतिक आधार पर इनको श्रेणियों में बाँट कर ही ऐसा किया जा सकता है। श्री डी० एन० मजुमदार ने इनकी तीन श्रेणियाँ की हैं। एक, वह जो हिन्दुत्व के प्रभाव के बाहर हैं और वस्तुतः आदिवासी हैं। दूसरे, वह जिन्होंने हिन्दू रीति-रिवाज, विश्वास और प्रक्रियाओं को अपना लिया है—हिन्दुओं से हिल-मिल गए हैं—अपेक्षा-कृत अधिक संस्कृत हैं, लेकिन अभी हिन्दुओं में घुल-मिल नहीं गए। तीसरी श्रेणी में श्री मजुमदार उनको रखते हैं जो हिन्दुओं से घुल-मिल कर उच्च वर्णों से अलग, निम्नवर्णों में खप गए हैं।

श्री वैरियर एल्विन का इस संबंध में दूसरा ही मत है। सांस्कृतिक विकास के आधार पर वह इन्हें चतुर्वर्णों के अंतर्गत मानते हैं। लेकिन, आदिवासियों की समस्याओं पर पूरी तौर पर विचार करने के लिए जिस छान-बीन की जरूरत है उसे दृष्टि में रख कर मैं इन्हें पाँच श्रेणियों में रखना पसन्द करूँगा। एक, वह जो एकान्त-सेवी और अभी भी आधुनिक सांस्कृतिक मेल-मिलाप से दूर हैं। दूसरे, वह जो पास-पड़ोस के गाँववालों से हिल-मिल गए, अपनी आर्थिक व्यवस्था में फेर-बदल कर ली तथा अपने जातिगत शौर्य और सामाजिक संगठन को अभी तक सुरक्षित रखे हुए हैं। तीसरे, वह जो अपना जाति-

गत संगठन कायम रखते हुए भी (जो प्रायः हिन्दुओं के जाति-संगठन जैसा ही है) दूसरी जाति और धर्म के लोगों से भरे गाँवों में रहते हैं। चौथे, वह जो भाग्य-चक्र के चपेट में पड़कर अस्पृश्य करार दिये गए। और, पाँचवीं श्रेणी में मैं उन्हें रखता हूँ जो आदिवासी परम्परा के बावजूद अपनी आर्थिक और राजनैतिक महत्ता के कारण आज समाज में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

उल्लिखित सभी श्रेणियों के आदिवासियों की समस्याएँ आखिर हैं क्या? कोई समस्या है भी या नहीं? कुछ लोगों का मत है कि इस तरह की कोई समस्या नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि जो समस्याएं इनकी हैं वह तो गाँवों में रहने वाले तमाम लोगों की भी हैं और इसलिए खास आदिवासियों की दिशा में कुछ करने से अच्छा हो कि तमाम देहात के लोगों को ध्यान में रखकर ग्राम-सुधार और समाज-कल्याण का खाका तैयार किया जाय और उसके अनुसार काम हो। मेरा अपना खयाल है कि इस तरह की बात चाहे कुछ श्रेणी के आदिवासियों के हित के विरुद्ध नहीं भी हो, लेकिन वन-प्रान्तर और पहाड़ों की निर्जनता में रहने वालों तथा कुछ अन्य वर्ग के आदिवासियों के लिए यह सुझाव सही नहीं है, न यह बहुसंख्यक आदिवासियों के ही हित में होगा।

आदिवासी क्षेत्रों में रह कर काम करने वाले सर्वश्री शरत्चन्द्र राय, जे० एच० हटन, जे० पी० मिल्स, वैरियर एल्विन, हैमेन्डौर्फ इत्यादि नृ-शास्त्रविदों का मत है कि आदिवासियों की संस्कृति से दूसरी संस्कृतियों क अनियंत्रित सम्पर्क का फल अच्छा नहीं होगा। वे यह तो मानते हैं कि आगे चल कर आदिवासियों और देश के अन्य लोगों की सामाजिक और सांस्कृतिक एकता समान रूप से प्रस्फुटित और फलित हो, लेकिन इस संबंध में वे सतर्कता, समझदारी और धीरे-धीरे चलने की नीति ही ठीक मानते हैं।

आदिवासियों की समस्याओं में दिलचस्पी लेने वाले कुछ थोड़े लोग ऐसा भी सोचते हैं कि आदिवासी-समस्या थी तो, लेकिन ईसाई मत और पादरी साहबों ने उसे आसानी से सुलझा दिया। यह खयाल गलत है। वस्तुतः देखा जाय तो ईसाइयों ने इनकी समस्याओं को सुलझाया तो क्या और भी उलझा दिया। पर-धर्म को अपनाने का नतीजा यह हुआ कि लोग अपने परम्परागत जीवन से अलग होकर एक उस खिल्त-मिल्त दुनिया में जा पड़े जिसमें न तो उनको अपने पुराने विश्वासों को छोड़ना संभव नजर आ रहा है, न उस नयापन को निगलना जिसका नजारा उनके सामने है। फलस्वरूप कई जगहों में इनके दुख-दैन्य का अन्त नहीं। इनके जीवन में अब धर्म और रीति-रिवाजों का सामंजस्य नहीं रहा और इस धर्म-परिवर्तन को हम दुखद जातिच्युतता ही मान सकते हैं।

एक तरह के आन्दोलनवादी लोग

और हैं जिनका विश्वास अलगाव में है। यह चाहते हैं कि आदिवासी और हिन्दू हमेशा के लिए अलग रहें। वे यह भी चाहते हैं कि आदिवासियों का सबल, स्वतंत्र अलग संगठन हो और अपनी अलग संस्थाएं हों। अलगाव की इस तरह की प्रेरणा अंग्रेजी अमलदारी में दिये गए बढ़ावों का ही नतीजा है। महत्त्वाकाँक्षी आदिवासी नेताओं के लिए संकेत ही काफी हुआ। वे जातिगत स्वतंत्रता और देश के बँटवारा के फलस्वरूप स्वतंत्र प्रजातंत्र की माँग करने लगे। इस तरह के अलगाव की भावना के जो घातक परिणाम गुजरे हुए जमाने में हुए, उसको नहीं सोचा जा रहा है। न देश के नये संविधान की धर्म-निरपेक्ष नीति और प्रजातंत्र के मूल सिद्धान्तों की ओर ध्यान देकर सोचने-बोलने की ही कोशिश की जा रही है। आखिर अलगाव की बात से कुछ सहूलियतों की कल्पना ही की जा सकती है, सांस्कृतिक-सामाजिक अभिन्नता तो बहुत कुछ शक्ति और वस्तु-स्थिति प्रदान कर सकती है। समय बदल रहा है। वैज्ञानिक पठन-पाठन और औद्योगीकरण के फलस्वरूप विचारों में जो परिवर्तन अनिवार्य है उसका नतीजा मंगल-मय ही होगा।

अंत में, कुछ लोग ऐसे भी हैं जो मानते हैं कि आदिवासियों की अपनी अलग समस्याएं हैं जिनके निराकरण तथा आदिवासियों की सहायता और पुनर्वास के लिए स्वतंत्र योजनाओं और कार्यक्रमों की आवश्यकता है। लेकिन इस तरह सोचने वालों में भी दल हैं। कुछ लोग तो ऐसा चाहेंगे कि भली या बुरी, दूसरे समाज की जो भी चीज हो आदिवासियों की भलाई के विचार से उन पर लाद दी जाय। कुछ लोग मानते हैं कि यह ठीक नहीं, क्योंकि चाहे आशय पवित्र भी हो, लेकिन बिना सोचे-समझे इस तरह की हरकत का फल आदिवासियों के लिए बुरा होगा और लक्ष्य की प्राप्ति भी नहीं होगी। इस तरह के अविचार के बुरे परिणामों से बचने के लिए कुछ लोग चाहते हैं कि आदिवासी अभी अलग ही छोड़ दिए जायँ और सतर्कतापूर्ण सुधार उनमें क्रमशः धीरे-धीरे लाए जायँ तो अच्छा। नृ-शास्त्र-विद्, जो आदिवासियों को प्यार करते हैं और उनके जीवन और संस्कृति को नजदीक से देखते रहे हैं, आदिवासी जातियों का अलग-अलग वैज्ञानिक अध्ययन और उस अध्ययन के अनुरूप ही उनके सुधार और उनके भविष्य के लिए वैज्ञानिक योजनाओं का बनाया जाना ठीक मानते हैं। उनका कहना है कि इस अध्ययन से ही ठीक पता चलेगा कि आदिवासियों की किन जातियों में सामाजिक-सांस्कृतिक फेर-बदल की संभावना आसान है, किन में परिवर्तन धीरे-धीरे ही आ सकेगा।

मोटा-मोटी कहा जा सकता है कि ऊपर आदिवासियों की जिन पाँच श्रेणियों की चर्चा की गई है उनमें उपर्युक्त सामाजिक-

सांस्कृतिक फेर-बदल उनके क्रमगत बुद्धि विकास के अनुसार ही संभव होगा। जैसे, पाँचवीं श्रेणी के लिए अपनी खास कोई समस्या नहीं है। प्रथम श्रेणी वालों के लिए भी तत्काल कोई वैसी समस्या नहीं है ऐसा कहा जा सकता है। इसी तरह तीसरी श्रेणी वाले ग्रामीण हिन्दुत्व के अंग हैं और चौथी श्रेणी वाले भी प्रायः उसी हिसाब में हैं। हाँ, तीसरी श्रेणी वालों के लिए सर्वदेशीय स्तर पर विस्तृत सुधार-योजना की आवश्यकता है तथा चौथी श्रेणी वालों को अस्पृश्यता के कलंक से शीघ्र मुक्त करना जरूरी है। दूसरी श्रेणी के लोगों में जो सुधार या फेर-बदल लाए जायँ वह सावधानी से और इस तरह कि संबंधित लोगों को कष्ट नहीं हो। अच्छा हो कि उनकी संस्कृति में जो मूल बातें हों वह ज्यों-की-त्यों छोड़ दी जायँ और नई रोशनी के लाभ उनको ऊपर से उठाने दिए जायँ, हालांकि उनकी बुराइयों से उनका बचाया जाना भी आवश्यक है यह नहीं भूल जाना चाहिए। आज नहीं तो कल, लेकिन पहली श्रेणी वालों की यह समस्या भी हल करनी ही होगी।

यह सच है कि पुरानापन नयापन का पर्याय नहीं है, न सभ्यता का, फिर भी हमें सावधान होकर ही बढ़ना होगा कि जोश और जल्दीबाजी में पुरानी सभ्यता-संस्कृति की जड़ हो नहीं खुद जाए। पिछड़ापन की चुनौती भी हमें स्वीकार करनी है। देश के आदिम निवासी स्वतंत्रता के मूल रूप की राह देख रहे हैं। कई जातियाँ तो युगों की उपेक्षा या अन्य कारणों से मानो अपनी अंतिम साँस ले रही हैं। उन्हें बचाना हो तो कुछ करना है। नृ-शास्त्र का मानव विज्ञान इस संबंध में पथ-प्रदर्शन कर सकता है जैसा कि 'अमृत' के अगले अंकों में बताने की कोशिश की जाएगी।

···फिर अस्पृश्यता-निवारण की बात लीजिए। जब तक अस्पृश्यता रहेगी तब तक हमारे हृदय भी एक-दूसरे के लिए अस्पृश्य रहेंगे। और ऐसे अस्पृश्यों को अहिंसक स्वराज्य कैसे मिलेगा? हमारे जो भाई-बहन मैला साफ करने का काम करते हैं, उनके प्रति हम नफरत का ऐसा निर्दय व्यवहार करें यह हमारे देश का काला कलंक है। हम यदि अहिंसा और सत्य को मानते हैं तो हममें ऊँच-नीच या बड़े-छोटे के गलत भेद नहीं होने चाहिए। हमें मानना चाहिए कि अखिल जगत एक कुटुम्ब है और हमें इस एक कुटुम्ब के सदस्यों की तरह रहना चाहिए।

—महात्मा गांधी

स्वामी शिवानन्द

स्त्रियों की शिक्षा

वैसे तो आज की स्त्रियां इस बात को स्वीकार नहीं करेंगी, क्योंकि उन्होंने गृह-विज्ञान को परम्परावाद की संज्ञा देनी प्रारम्भ कर दी है, फिर भी मुझे अनुभव है कि हमारे भारत में ऐसी स्त्रियों की संख्या कोई कम नहीं, जो गृहविज्ञान को उचित न कहें। अभी भी बड़े-बड़े घरानों में यही प्रथा चली आती है; स्त्रियों को शिशुपालन से लेकर अन्य सभी गृह-परिचर्याओं में दक्ष होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, मेरा अपना विश्वास है, प्रत्येक स्त्री को कुछ सरल घरेलू दवाइयों का भी ज्ञान होना चाहिए। संक्रामक रोगों और उनके निवारण के उपायों का प्राथमिक ज्ञान होना भी आवश्यक है। इन कुछ विज्ञानों में दक्ष होकर स्त्रियां अपने परिवार को सुखी और नीरोग रख सकती हैं।

साथ-साथ स्त्रियों को जीवन के धार्मिक भाग की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। थोड़े-से आसन, प्राणायाम, भजन, कीर्त्तन, प्रार्थना इत्यादि का अभ्यास स्वयं भी करना चाहिए और दूसरों को भी उसके लिए उत्साहित करते रहना चाहिए। धर्म में नीति, सदाचार और संस्कृति शामिल है। सदाचार ही धर्म है; पवित्र जीवन बिताना ही धर्म है; अपने परिवार में अशान्ति लाने वाले कारणों का परिहार करना ही धर्म है और सदा ईश्वरपरायण रहना ही धर्म है—ऐसी तत्वपूर्ण शिक्षा से सज्जित होकर किसी भी देश की स्त्रियां आश्चर्यपूर्ण मानव सेवा कर सकती हैं। मानव सेवा का अर्थ यह नहीं कि वे खुले-आम निर्लज्ज और उच्छृंखल होकर निकल आवें—किन्तु मानव सेवा का अर्थ सच्चे शब्दों में है मानव के विशाल समुदाय को जाग्रत करना और उसे विकास, शान्ति और आत्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करना। याद रखो, यदि आप की सेवाएं मनुष्य को सुखी और शान्त और विकास के मार्ग का अनुगामी नहीं बना सकतीं तो उनका कोई भी मूल्य नहीं रह जाता। यदि स्त्रियां सच्चे मार्ग द्वारा अपने जीवन का नवीनतम अध्याय प्रारम्भ कर देंगी तो उनको नौकरी खोजने, न्यायालयों में जाने, सिनेमा और क्लबों में घूमने की न इच्छा ही रहेगी और न समय ही। अत्यन्त मार्के की बात तो यह है कि उनके बालकों पर उनके चरित्र का भारी प्रभाव पड़ेगा, जो उन नन्हों के जीवन का निर्माण कर सकेगा और जिन पर हमारे समाज का भविष्य निश्चित किया जा सकेगा।

यदि माता शिक्षिता है तो उसके बच्चे भी यथोचित रीति से शिक्षित होंगे। यदि वह धार्मिक विचारों और मतों की

अनुयायिनी है तो उसके बच्चे भी धार्मिक ही होंगे। यदि उसे सदाचार की शिक्षा मिली है तो वह अपने बच्चों के जीवन में सच्चरित्रता का जीवन लायगी ही। यदि उसको सदा सिनेमा और नौकरी और क्लबों का ही शौक हो तो हम कह सकते हैं कि उसके बच्चे क्या होंगे; और उनके जीवन का प्रवाह किस ओर को बहेगा यह आज हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। इसलिए उचित है कि स्त्रियों को लड़कपन से ही ठीक तरीके की शिक्षा दी जाय, जिससे वे अपने जीवन में महान कार्य करने योग्य बन पावें और माता के दृष्टिकोण से समाज के पुरुष-समुदाय में भी सच्चरित्रता का निर्माण करें; क्योंकि माता ही तो मनुष्य (पुरुष और स्त्री) की जननी है और उसके जीवन की प्रतिच्छाया पुरुष और स्त्री (लड़के और लड़की) दोनों पर समान रूप से पड़ती रहती है। माता के सच्चरित्र होने से, सत्यवादिनी, शान्त और गम्भीर, दीनजनवत्सल, अतिथिसेविका, परोपकारी और पतिपरायण होने से उसके बालक भी सुन्दर चरित्र वाले होंगे; समाज के नेता होंगे; पर-स्त्री को मा-बहन समझने वाले होंगे; मनुष्य-मनुष्य का नाता जानने वाले होंगे; बालिकायें समाज के आधार का निर्माण करने वाली होंगी तथा अपने कोमल जीवन को जननी जीवन के लिए तैयार करेंगी; जिससे वह जाति, उस जाति की सभ्यता आदर्श और शाश्वत रहे।

स्त्रियों को विलासप्रिय नहीं होना चाहिए (केवल स्त्री ही क्यों, पुरुष को भी विलास से दूर ही रहना चाहिए)। विलासिता में जीवन बिताने से स्त्रियां निर्बल तथा असहिष्णु हो जाती हैं और थोड़े-थोड़े कष्टों पर अपने जीवन को दुःखमय समझ लेती हैं। ऐसी विलासप्रिय स्त्रियों के बालक भी निर्बल और रोगी ही होंगे; जो कालान्तर में समाज के लिए भार-स्वरूप हो जायेंगे। जैसा हम आजकल देख रहे हैं आज हमारे देश में निर्बल और रोगियों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है, जिसका एकमात्र कारण है, हमारी अत्यधिक विलास-प्रियता और कठोरताओं को सहने के लिए आत्म-शक्ति की कमी। स्त्रियों को अपने जीवन का निर्माण कर, इस समस्या को सुलझाने में सहायता देनी होगी। उनको यह भी ध्यान देना चाहिए कि वे हमारे शास्त्रों का अध्ययन कर, उनके तत्वों को अपने बालकों के आगे रख सकें। यदि ऐसा होगा तो भारत के प्रत्येक बालक में हमारे शास्त्रों की मर्यादा अक्षुण्ण बन जायगी।

आजकल के विद्यालयों की शिक्षा में परिवर्तन होना तो कठिन ही है; अतः अपने बालकों को कुछ देर के लिए रोजाना सदाचार-शिक्षा देनी चाहिए और साथ-साथ उनको स्वावलम्बी बनने के लिए उत्साहित भी करना चाहिए। विलासप्रिय जीवन से उनके चित्त को फेरना चाहिए, जिससे वे बड़े होने पर किसी भी प्रकार की आपत्तियों को साहस और प्रसन्नता के साथ सह लें और इस जीवन-संग्राम में बड़ी ही चतुरता के साथ अपना-अपना काम करते रहें। मैं तो

कहता हूं कि क्या स्त्री और क्या पुरुष—चाहे वह कितनी ही उच्च शिक्षा-प्राप्त क्यों न हो, अपने घरेलू जीवन के निर्माण में चतुर अवश्य होना चाहिए। हो सकता है उनके लिए यह आवश्यक न हो कि वे नित्यप्रति घरेलू काम ही करें; परन्तु यह तो अनिवार्य है कि उनको अपने परिवार के निर्माण की कुशलता का समुचित ज्ञान होना चाहिए। यह ठीक नहीं कि वे स्वयं तो नाम मात्र के सामाजिक वातावरण में अपना जीवन निरर्थक करें और उनके घर की रखवाली उनकी नौकरानियां करें। ऐसी ही लड़कियों का जीवन भविष्य में दुःखमय होता देखा गया है। ऐसी ही लड़कियां जब मां बन जाती हैं तो परिवार की आय-व्यय की जांच के भी अयोग्य होकर, निरन्तर आर्थिक समस्या से आक्रान्त रहती हैं। यदि उनका पति उनके लिए आधुनिक साज के सामान नहीं ला पाता है तो वे दुःखित रहती हैं और अपनी आवश्यकताओं के पूर्ण न होने के कारण अत्यन्त कठिनाइयों का अनुभव करती हैं। तभी हम देखते हैं कि आजकल उनका जीवन अत्यन्त क्लेशकर हो गया है और उनका स्वास्थ्य भी मनुष्य जीवन के अनुपात के दृष्टिकोण से गिरता जा रहा है। यह है केवलमात्र सच्ची शिक्षा का अभाव। जो शिक्षा किसी भी स्त्री को देश की माता बना सकती है और जो शिक्षा किसी भी माता को आदर्श सन्तानों की जननी बना सकती है वह शिक्षा है सदाचार की शिक्षा। यह शिक्षा जीवन के पहलू पर प्रकाश डालने वाली तथा मानव के हृदय को सुन्दर और पवित्र बनाने वाली है—जिसके प्रभाव में उसके निकटतम आत्मीय (सन्तान) अपना जीवन बनाना सीखते हैं; परिवार बनाना सीखते हैं; समाज के निर्माण की कला को जानते हैं तथा राष्ट्र के नवनिर्माण में सफल हो पाते हैं। यह ठीक है कि यदि प्रत्येक स्त्री अपने-अपने कर्त्तव्य को ठीक तरह से जाने और तदनुसार कर्म करे—और तदनुसार ही अपने परिवार को भी व्यवहार करने पर बाध्य करे—तो हम निश्चयतः कह सकते हैं कि हमें पँचवर्षीय योजना और अन्य योजनायें नहीं बनानी पड़ेंगी, किन्तु जिस दिन मातायें अपना कर्त्तव्य जानेंगी और हम सन्तानों को हमारा कर्त्तव्य बतायँगी, उसी दिन निर्माण का कार्य आरम्भ हो जायगा और सम्भव है कि उसी दिन निर्माण भी हो जाय; क्योंकि माता ही किसी जाति अथवा राष्ट्र का मेरु-दण्ड है, जिस पर तत्कथित-जाति का जीवन-कलेवर खड़ा किया जा सकता है और जिसके बूते पर कोई भी जाति अपने को जीवित कहने का अभिमान रख सकती है।

राजकुमारलाल

छोटानागपुर में हिन्दू संस्कृति

छोटानागपुर में पाँच जिले हैं—राँची, हजारीबाग, पलामू, सिंहभूम और मानभूम। छोटानागपुर के महाराज रातुगढ़ में रहते हैं। ये नागवंशी हैं। इस राज्य की स्थापना लगभग दो हजार बर्ष पूर्व, विक्रम सम्वत् १२१ तदनुसार सन् ६४ ई० में हुई थी (राँची गजेटियर पृ० २४)। श्रीफणी मुकुट राय इस राज के संस्थापक थे। वर्त-मान काल में इस राज्य का विस्तार लगभग ८००० वर्गमील है। इसके पहले राज्य का विस्तार बहुत बड़ा था। रामगढ़ राज्य के आदि पुरुष श्री बाघदेव सिंघदेव थे। पहले ये महाराजा छोटानागपुर के यहां नौकरी करते थे। ये बड़े बहादुर थे और इन्होंने काशीपुर राज्य (मानभूम) और पलामू पर विजय प्राप्त की। इसके पूर्व महाराजा छोटानागपुर ने रामगढ़, गोला, पिलानी, खरसंवा और क्योंझर (उड़ीसा) आदि राज्यों पर कब्जा किया था (वेब्स्टर रिपोर्ट पृ० २१)। बादशाह जहांगीर ने शीरोपा में प्रगना शेरघारी इन्हें दिया था (वेब्स्टर रिपोर्ट पृ० २) इस प्रकार छोटा-नागपुर राज्य के अन्दर सारा छोटानागपुर डिवीजन, उड़ीसा का कुछ हिस्सा और गया का कुछ हिस्सा था। वेब्स्टर रिपोर्ट पृ० २२ से पता चलता है कि श्री प्रताप उदय नाथ साहदेव, मौजूदा महाराज के परदादा, श्री फणि मुकुट राय की ६१ वीं पीढ़ी में थे। राँची गजेटियर पृ० २० व २१ से पता चलता है मुन्डा वगैरह वनजातियों के आने के बहुत पहले यहां कर्ण स्वर्ण राज्य का विस्तार था जिसका स्मरण स्वर्ण रेखा नदी आज भी दिला रही है। प्लीनी ने लिखा है कि मुन्डा लोग पटने को ओर से इस अंचल में आये। उसके बहुत दिन बाद, उरांव लोग भी शाहाबाद जिला के रोहतास गढ़ के इलाके से आये (उरांव नामक पुस्तक पृ० २९)। उरांव और मुन्डा जाति के लोगों के आने के बहुत पहले यहां के निवासियों की सभ्यता और संस्कृति बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई थी। (राँची गजेटियर पृष्ठ २०, २१) सन् १५८५ ई० के पूर्व यहाँ के महाराज स्वाधीन थे, परन्तु अकबर बादशाह के समय से खेराज देना शुरु किया। इनके राज्य का शासन-प्रबन्ध अपने ढंग से होता था। बाहरी हस्तक्षेप नहीं था (रीडर रिपोर्ट पृ० १४)। सन् १७६९ ई० में इस ओर अंग्रेजों का आगमन हुआ। उनके आ जाने पर भी पुलिस वगैरह महा-राजा छोटानागपुर की ही रही। और यह अवस्था बहुत दिन तक रही। सन् १८०८ से अंग्रेजों ने अपनी ओर से पुलिस बैठाना

आरम्भ किया (राँची गजेटियर पृ० ३१); तो भी मि० रिके (बोर्ड रेवन्यू) की रिपोर्ट से मालूम होता है कि १८५५ तक छोटानागपुर महाराज की ओर से थाना वगैरह कई जगहों में था (सेटलमेंट रिपोर्ट पारा ६० व ६७)।

जिस प्रकार बंगाल के महाराज आदिसुर ने बंगाल के विकास और धर्म प्रचार के लिए कन्नौज से ब्राह्मण और कायस्थों को बुलाकर बंगाल में बसाया था, उसी प्रकार छोटानागपुर के महाराज ने भी ब्राह्मण वगैरह को आमंत्रित कर उन्हें जीविका देकर बसाया। वेब्स्टर रिपोर्ट पृ० २१ से पता चलता है कि आदि महाराज फणि मुकुट राय के राज्य का प्रबन्ध ब्राह्मण और कायस्थ समाज के लोगों द्वारा होता था।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि दो हजार वर्ष पूर्व ब्राह्मण और कायस्थ यहां आ चुके थे और और हिन्दू धर्म और संस्कृति का प्रचार यहाँ हो रहा था। यही कारण है कि उरांव, मुन्डा आदि जातियाँ शिखा रखतीं हैं। ये दशहरा, होली, करमा, एकादशी, दिवाली आदि व्रत-त्योहार मनाते आये हैं। और प्रत्येक ग्राम में इनलोगों के देवी स्थान हैं। ये शिव के भी उपासक हैं। भगवान राम और कृष्ण के लिये उरांव और मुन्डा जाति के लोगों में भक्ति है। ये अपने गीत में श्रीकृष्ण भगवान, जमुना नदी और कदम गाछ का प्रयोग करते हैं (मुन्डा पुस्तक पृ० १७८) और उरांव भगवान राम को आजा, भगवती सीता को आजी और हनुमान जी को काका कहकर सम्बोधित करते हैं (उरांव नामक पुस्तक पृ० १६)। सिमडेगा सबडिवीजन में विरु राज्य के अन्दर रामरेखा एक देवस्थल है जहां लोग पुराने समय से ही भगवान राम की स्मृति में मेला लगाते हैं। चैनपुर थाने में शंगीनाथ महादेव का नाम विख्यात है। शिवरात्रि के अवसर पर यहाँ बहुत बड़ा मेला लगता है। सभी जाति के लोग इस देवस्थान को मानते हैं। गुमला के इलाके में आजत एक गांव थाना गुमला में है। अंजनी हनुमान जी की मां का नाम है। वहां देवी, शिव वगैरह की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। इसके अलावे जिला हजारीबाग में तो सारे हिन्दुस्तान के जैन सम्प्रदाय का भारी तीर्थस्थान है जो पारसनाथ के नाम से प्रसिद्ध है। जिला मानभूम वगैरह में जहां-तहां भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी वगैरह की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। छोटानागपुर में जहां-तहां शिला लेख भी है जो प्राचीन अक्षरों में अंकित हैं।

उपर्युक्त बातों से पता चलता है कि प्राचीन काल से ही छोटानागपुर में हिन्दू धर्म और संस्कृति व्यापक रूप से वर्त्तमान है।

★

विनोबा भावे

मजदूरी की प्रतिष्ठा

सब लोग जानते हैं कि हिन्दुस्तान में मजदूरों की हालत अच्छी नहीं है। शहर के मजदूरों की पुकार तो लोगों के कानों तक पहुँच भी जाती है, मगर देहात के मजदूरों की आवाज सुननेवाला कोई नहीं होता। इसलिये वह किसी के कानों तक नहीं पहुँचती। इसलिये इन मजदूरों की हालत सबसे खराब है, ऐसा आप कह सकते हैं। कुछ लोगों की हालत तो मजदूरों से भी खराब है। वे रोजी की तलाश में मारे-मारे फिरते हैं, दर-दर भटकते हैं। इसलिये, हिन्दुस्तान में एक से बढ़ कर एक का दुःख है। दुःखियों की एक बहुत भारी जमात है। इतनी बड़ी जमात देश में दुःखी रहे, यह देश के लिये अच्छी बात नहीं है।

यह दुःख क्यों भुगतना पड़ रहा है? हिन्दुस्तान में सदियों से काम को नीचा माना गया है। हिन्दुस्तान में काम के बंटवारे किये गये। चन्द दिमागी काम करनेवाले लोगों को सबसे अव्वल दर्जा दिया गया। राज का कारोबार चलानेवालों को दूसरा, व्यापार और कृषि करनेवालों को तीसरा, और मल-मूत्र की सफाई करनेवालों को सबसे नीचा दर्जा दिया गया। ऐसे दर्जे पर दर्जे बन गये। जो जितना उपयोगी काम करे, उसकी इज्जत बढ़ने के बजाय घटती गयी। जो हाथ से मेहनत नहीं करता, उसे इज्जत ही ज्यादा नहीं, बल्कि पैसा भी ज्यादा दिया जाने लगा।

एक जमाना था जब ब्राह्मण को इज्जत मिलती थी, मगर पैसा नहीं। आज तो इज्जत और दौलत ज्यादा से ज्यादा उसको मिलती है, जो पैदावार का काम कम-से-कम करता है। समाज में नीची जमातें अपना काम करती रहीं, मगर उन्हें सम्मान हासिल नहीं हुआ। किसान खेती करता रहा, भंगी सफाई का काम करता रहा और बुननेवाला बुनता रहा। मगर उनके दिमाग में खयाल यही रहा कि वे लाचारी से अपना काम करते हैं। अगर उससे मुक्ति मिल सके तो अच्छी बात हो। समाज में ऐसी वृत्ति पैदा हो गयी कि जो श्रम करनेवाले हैं, उनको श्रम न करने वालों से हीन माना जाने लगा और काम की इज्जत ही कम नहीं हुयी, बल्कि उसकी कीमत भी घट गयी। यही कारण है कि जब परदेशी लोग आये, तो उनका काम यहाँ जम गया। यहाँ के जो लोग मेहनत करनेवाले थे, उनका उन्हें सहारा मिल गया। यहाँ के व्यापारियों को जीत लिया और बाद में राज भी ले लिया। क्योंकि आम लोगों को इस बात की फिक्र नहीं थी कि राज किसका है। देश के बचाव में किसी की दिलचस्पी नहीं

रही थी। अंग्रेज यहाँ आये और थोड़े परिश्रम से ही उन्होंने राज हासिल कर लिया। यह सारे हिन्दुस्तान का इतिहास हमारे सामने है।

समाज में छूत-अछूत का भेद भी बढ़ता गया और इस प्रकार समाज का सारा ढाँचा बिलकुल बिगड़ गया। गाँधीजी ने जिन्दगी भर काम करके लोगों को सबक दिया, मगर तो भी आज तक मजदूरी के काम के लिये प्रतिष्ठा या इज्जत की भावना पढ़े-लिखे लोगों के दिलों में नहीं है। कीमत भी मजदूरी की कम मिलती है। यह हालत हमको मिटानी है। जो पैदावार का काम करता है, वह हिन्दुस्तान का अच्छा नागरिक माना जाय, वह अपना सिर ऊँचा करके चल सके, उसके जीवन में ऐसा आनन्द हासिल हो कि जिससे वह अपने को सुखी समझ सके। मैंने जो कदम या हरकत या आंदोलन उठाया है, वह इसी दृष्टि से उठाया है। जो भूमिहीन हैं, उन्हें जमीनें दिला रहा हूँ। ये जमीनें मैं भीख के तौर पर नहीं माँगता, बल्कि हक के तौर पर माँगता हूँ। जो जमीन पर काश्त करता है वह जमीन का मालिक न हो, और जो काश्त नहीं करता वह जमीन का मालिक हो, तो फिर देश में पैदावार कैसे बढ़ेगी?

जिस जमीन को भगवान ने पैदा किया, उसका कोई मालिक नहीं हो सकता, उसके चाकर हो सकते हैं। इसलिये मालिक बनने का दावा गलत है। भूमिहीन लोगों का हक कबूल करके घर के लड़के की तरह उनको जमीन दे दी जाय, कोई उपकार समझ कर नहीं। वे यह मान लें कि जो अन्याय अब तक हो रहा था, उससे वे बरी हो रहे हैं। मेरे जैसा जमीन मांगने आता है, तो अपना भाग्य समझो कि आप का बोझ कम करने वाला आया है। जब किसी के शरीर का वजन बहुत बढ़ जाता है, तो उसकी सेहत खतरे में होती है। अगर उसको अपनी सेहत सुधारनी है, तो डाक्टर कहेगा कि वजन कम करो। दूध-घी कम खाओ। वह डाक्टर दुश्मन नहीं है, दोस्त है। मना करने पर भी जो मिठाई खाता रहेगा, उसकी जिन्दगी खतम हो जायगी। मरने वाले तो सभी हैं, इसलिये मरने का दुख नहीं। पर दुख बहुत झेलोगे। डाक्टर की राय मान कर कोई दूध छोड़े, तो क्या वह त्यागी और तपस्वी गिना जायेगा? क्या वह समझदार गिना जायगा? उसी प्रकार मैं जमींदारों को समझाता हूँ। लोग समझ रहे हैं और दे रहे हैं। कुछ लोग नहीं देते, तो उसकी मैं फिक्र नहीं करता; क्योंकि वे कल देनेवाले हैं। एक विचार का बीज हमने बोया, तो वह आज नहीं तो कल जरूर उगने वाला है! उगे बिना नहीं रहेगा। मैं प्रेम से समझाता हूँ। हक मांगता हूँ। लोग दे रहे हैं। इससे एक हवा बन रही है जिससे न केवल भूमिहीनों की ही तरक्की होगी, बल्कि सब मजदूरों की भी तरक्की होगी। लोग पूछते हैं कि देहात के मजदूरों का काम तो आप करते हैं, लेकिन शहर के मजदूरों की हालत इससे कैसे सुधरेगी? मैं कहता हूँ कि मैं

सब मजदूरों की सेवा करनेवाला हूँ। जो काम मैंने उठाया है वह कामयाब हो जाय, तो मजदूरों की इज्जत बढ़ेगी। लोग भी उनके साथ काम करने लगेंगे। वेतन वगैरा के बारे में भी उचित सुधार होगा। 'एके साधे सब सधे।'

आज बहुत करके मजदूरों के लिये इतना ही आंदोलन किया जाता है कि उनकी तनखाह वगैरह बढ़ायी जाय। जिस स्थिति में वे हैं, उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन हो जाय। लेकिन होना यह चाहिये कि मिलें मालिक और मजदूरों के साझे में हों। साल भर में जो कुछ मुनाफा हो, उसका कुछ हिस्सा धंधे के बढ़ाने के लिये रहे, कुछ मालिक को और कुछ मजदूरों को दिया जाय। मालिक को कितना हिस्सा दिया जाय, यह मालिक नहीं कहेगा। वह कहेगा, मैंने तो अपनी बुद्धि लगायी है। पूंजी मेरे पास की है; लेकिन मेरी नहीं है। पूंजी देश की है और मालिक भी देश का है। वह एक मैनेजर है, उसने अकल लगायी है। इसलिये मजदूर उसको जो देंगे, उस पर उसे संतुष्ट रहना चाहिये। इस तरह मालिक करेगा, तो उसका जीवन संतुष्ट होगा, सुखी होगा, मजदूर भी सुखी होंगे। कोई पूछ सकता है कि इस जमाने में इस तरह करनेवाले मालिक होंगे? मैं कहूँगा कि सब एकदम तेयार नहीं होंगे, लेकिन उनकी बुद्धि को समझाया जाय, तो कुछ मालिक जरूर तैयार होंगे। ऐसे मालिकों का जीवन आनंदमय होगा। सब उनकी सेवा करने को तैयार होंगे, सबका प्रेम उन्हें मिलेगा। ऐसा दृश्य दिखायी देगा, तब उनकी जाति के दूसरे लोग भी तैयार होंगे। मनुष्य के हृदय में अच्छी भावनायें होती हैं। इसकी एक कसौटी तो यह है। आप यही देखिये कि जो मालिक है, उसके भी बाल-बच्चे हैं। वह घर के लोगों के साथ कैसा व्यवहार करता है? दीख पड़ेगा कि वह प्रेम से रहता है। केवल निष्ठुरता ही उसमें नहीं है, प्रेम भी है। केवल इतना ही है कि वह एक प्रवाह में बह गया है। इसलिये मजदूरों के बारे में इस तरह नहीं सोचता। एक गलत खयाल पैदा हुआ है कि सस्ती से सस्ती चीज बाजार में भेजनी चाहिये। और सस्ती चीज मजदूरों को कम मजदूरी देकर ही हो सकती है, प्रेम से यदि उसको यह दिखे कि पैसे से सच्ची रक्षा नहीं हो सकती, प्रेम से ही हो सकती है, तो वह समझ जायगा। इसके लिये मजदूरों को भी जाग्रत होना चाहिये। जाग्रति तो मजदूरों में है। उठते हैं, बीच-बीच में हड़ताल भी करते हैं। लेकिन मेरा मतलब इससे नहीं है। उन्हें शिक्षण मिलना चाहिये। उन्हें तालीम मिले। वे जो काम कर रहे हैं, उसके इर्द-गिर्द का सारा ज्ञान उन्हें होना चाहिये। आज वे बुनने का काम करते हैं, लेकिन बुनने का विज्ञान नहीं जानते। माल कहां से आता है, कहाँ बिकता है, यह नहीं जानते। उनके लिये ऐसे स्कूल होंगे, जहाँ यह सब ज्ञान उन्हें दिया जायगा। तो उनकी कार्य-

शक्ति बढ़ेगी, इज्जत बढ़ेगी और मालिकों को लगेगा कि इनको मिल का कारोबार भी सौंप दिया जा सकता है। ऐसा कहते हैं कि मिल एरिया में शराबबन्दी नहीं होनी चाहिये। मजदूर थक कर आते हैं, तो शराब पीने से थकान उतर जाती है। जैसे हम दिन भर के काम के बाद विश्रांति के तौर पर रामनाम लेते हैं, तुलसी रामायण पढ़ते हैं, वैसे मजदूरों के लिये रामनाम की जगह शराब ने ले रखी है। कभी लोग कहते हैं कि 'आप मजदूरों के जितना श्रम नहीं करते, इसलिये आप को शराब की जरूरत महसूस नहीं होती।' एक शिक्षित भाई ने मुझे बड़ा लम्बा-चौड़ा पत्र लिखा था कि 'बिना अनुभव के आप को बोलना नहीं चाहिये। क्या आपने शराब चखी है? शराब चखी नहीं, तो उसकी लज्जत आप क्या जानें?' यह तो अनुभव की बात है कि जहाँ मजदूरों के बीच शराब आयी है, उसने उनका नाश कर दिया है, और जहाँ शराबबन्दी हुयी है वहाँ मजदूरों का जीवन सुधरा है। बम्बई का यही अनुभव है। मद्रास में शराबबन्दी हुई। उसके बाद तहकीकात की गयी और मालूम हुआ कि मजदूरों की जिन्दगी सुधरी है। मजदूरों की स्त्रियाँ शराबबन्दी के लिए आभार मानती हैं। आप लोगों को मांग करनी चाहिये कि 'सरकार शराबबन्दी करे। हम पीना नहीं चाहते।' कोई कहेगा कि दुकानें हों तो भी आप पीते काहे को हैं? उसका उत्तर आप यह दें कि हम इतने तपस्वी नहीं हैं कि मोह की चीज सामने होते हुये भी हम उसमें न फँसे। शराब की दुकानें देख कर हमें पीने का मोह होता है। इसलिये शराबबन्दी होनी चाहिये।

मैंने इस तरह दो बातें बतायीं कि मजदूरों को अच्छी शिक्षा मिले, जिससे कि जो धंधा वे करते हैं उसके माहिर बनें। और दूसरी चीज कि उनका जीवन-सुधार हो और व्यसन दूर हों! यदि हम चाहते हैं कि मजदूर अच्छे कारीगर बनें, तो ये बातें आवश्यक हैं। फिर उनकी ओर से जो कुछ आवाज निकलेगी, वह मालिक प्रेम से सुनेगा और उसकी आंखें खुल जायेंगी। हृदय-परिवर्तन होने के लिये बाहर की परिस्थिति का दबाव पड़ेगा। कई लोग पूछते हैं कि हृदय से ही सारा काम होगा? मैं कहता हूँ जी हां, हृदय-परिवर्तन दो तरीके से होगा। विचार समझाकर और दूसरा परिस्थिति पैदा करके, जिससे कि वह करने के लिये लाचार हो जाय। इस तरह मजदूरों में काम करना चाहिये, मजदूरों की प्रतिष्ठा बढ़नी चाहिये। जो मजदूरों का हित करना चाहते हैं, उनसे मैं कहूँगा कि उन्हें मजदूरों के साथ काम करना चाहिये, जिससे कि वे उनकी दिक्कतें जान सकें। इससे मजदूरों की प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी और गरीब श्रीमान हो जायंगे। श्रीमानों का वजन अधिक है, वह घट जायगा और गरीबों का कम है, वह बढ़ जायगा। अभी का मेरा काम सफल हुआ, तो और काम मैं उठाऊँगा।

★

नवल किशोर सिंह

मिल-उत्पादन का बहिष्कार ?

गत मास सेवापुरी के सर्वोदय सम्मेलन ने सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं के लिए दो मुख्य कार्य निश्चित किये हैं :—(१) भूदान यज्ञ में सहायता, तथा (२) कपड़े और भोजन संबंधी मिल उत्पादन का बहिष्कार।

जहाँ तक पहले कार्य का संबंध है, यह एकदम ठीक है। पर जहाँ तक दूसरे का प्रश्न है, मेरे विचार में इसका रूप नकारात्मक नहीं होना चाहिए था। कार्यकर्त्ताओं को मिल उत्पादन के बहिष्कार की सलाह न दे, गृह-उद्योगों तथा उनके उत्पादन के विकास तथा उन्नति पर जोर देना चाहिए था। इस तरह से लक्ष्य तक पहुँचने में आसानी तो होगी ही, आपस में कटुता न होकर सद्भावना का ही विकास होगा। और फिर, बहिष्कार का तरीका तो अहिंसात्मक युद्ध का तरीका है; शान्ति के दिनों में इसका उपयोग रोज-रोज तो नहीं किया जा सकता है।

सच पूछा जाय तो मिल उत्पादन के बहिष्कार का प्रश्न अभी उठना ही नहीं चाहिए। जनता तो आज मिल-उत्पादनों पर ही अधिक अंश में निर्भर करती है, क्योंकि इसके सिवा अन्य उपाय ही क्या है। मिल की बनी वस्तुओं का प्रयोग छोड़ने की सलाह देने के पहले, हमें उनकी जगह पर कोई चीज तो देनी होगी ही, चाहे उपयोग तथा गुण में वे चीजें निम्नस्तर की ही क्यों न हों। और इसके लिए हमारा प्रयत्न नकारात्मक न होकर, स्वीकारात्मक होना चाहिए। मतलब यह कि जनता जिस वस्तु का बहिष्कार करेगी, उसके बदले तो कुछ चाहेगी ही; मिल निर्मित उपयोग की वस्तुओं के एवज में हमें कुछ तो देना होगा ही।

और इस तरह अभी कुछ समय के लिए सर्वोदय सम्मेलन का जोर गृह-उद्योगों के विकास की ओर ही होना चाहिए। गृह-उद्योगों का पर्याप्त विकास होने से मिल की वस्तुओं का बहिष्कार आप-ही-आप हो जायेगा। यदि ऐसा नहीं हो, तो फिर सोचा जा सकता है कि आगे क्या करना होगा। परन्तु हमें इस दिशा में एक कदम बढ़ना है।

यदि आवश्यक तैयारियों तथा भूमिका के बिना ही मिल उत्पादित वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन प्रारंभ हो जाये तो इसमें वर्ग-संघर्ष की आशंका तो है ही, देश में अनेक मतों का जन्म भी इसके साथ ही होगा, जिससे विचारों की एकता नष्ट होगी। मिलकी वस्तुओं के उत्पादन में ही जिस वर्ग का स्वार्थ तथा कल्याण निहित है, वे अवश्य ही इस बहिष्कार-आन्दोलन को विफल करने की चेष्टा करेंगे; और साथ ही अपने स्वार्थ

को सुरक्षित रखने के लिए आधुनिकतम उपायों का प्रयोग करने में भी वे कभी नहीं चूकेंगे। और इस तरह बहिष्कार करनेवालों के विपक्ष में एक समूचा वर्ग ही खड़ा मिलेगा। इससे क्या वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति नहीं होगी? पर सर्वोदय का ध्येय यह नहीं है। इसका ध्येय वर्ग-विहीन समाज की स्थापना तो है, पर वर्ग-संघर्ष द्वारा नहीं, बल्कि वर्ग परिवर्त्तन द्वारा।

अब समय आ गया है जब हम रुक कर सोचें कि मिल-उत्पादन के बहिष्कार का क्या रूप होना चाहिए।

एक क्षण के लिए मान लें इस प्रकार का बहिष्कर यदि देशव्यापी हो, तो अब देखना है कि इसका असर क्या होगा।

पहला, मिलों में काम करने वाले सारे मजदूर जिनकी संख्या कम नहीं है, बेकार हो जायेंगे।

दूसरा, मिल मालिकों के सर्वनाश का दृश्य उपस्थित हो जायगा।

तीसरा, गृह-उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं का मूल्य अचानक ही बहुत बढ़ जायगा और शायद तब भी जनता की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति न हो सके।

चौथा, बड़े-बड़े उद्योगों के नाश के साथ ही सरकार की आय भी बहुत घट जायगी। क्या सरकार—चाहे वह कांग्रेस की हो, या किसी दूसरी पार्टी की—इस बात को बर्दाश्त कर सकती है?

क्या सर्वोदयी नेताओं ने समस्या के इस पहलू पर भी विचार किया है? क्या उन्होंने वस्तुस्थिति को प्रत्येक दृष्टि कोण से देखा है?

यदि इसका उत्तर 'हाँ' है, तो वे परिणामों का सामना करने के लिए तैयार आगे बढ़ सकते हैं। पर मेरे विचार में देश इस समय उस ऊँचाई तक जाने तथा त्याग करने के लिए शायद तैयार नहीं है।

यदि उनका उत्तर नकारात्मक है तो फिर जनता को ऐसे प्रोग्राम देने की क्या आवश्यकता है?

क्या आचार्य विनोबा भावे इस पर कुछ प्रकाश डालेंगे?*

* उपर्युक्त लेख में प्रतिपादित विचारों से सहमत नहीं होते हुए भी हम इसे छाप रहे हैं कि दृष्टिकोण का एक पहलू यह भी है। —सं०

शशिभूषण त्रिपाठी

भारतीय संस्कृति का संदेश

संस्कृति राष्ट्र की आत्मा है। इसी की नींव पर समाज जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। इससे उस दृष्टिकोण का बोध होता है, जिससे मानव-समुदाय जीवन और जगत की समस्याओं पर विचार करता है। इसमें उन उदात्त गुणों का प्रतिफलन रहता है जो किसी देश या जाति में विशेष रूप से पाये जाते हैं।

भारतीय संस्कृति का आधार है आध्यात्मिकता; भारतीय जीवन का लक्ष्य है आनंद की प्राप्ति—अक्षय अनन्त निरतिशय आनंद की प्राप्ति। आनन्द मनुष्य की मूल प्रकृति है। वह स्वभावतः संकट से मुक्ति चाहता है, क्योंकि दुःख उसकी विकृति है। उपनिषद् में ऋषि ने कहा है— 'आनन्द ब्रह्म है, आनन्द से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द के द्वारा जीवित रहते हैं और आनन्द में ही मिल जाते हैं।" मनुष्य की यह सहज आकांक्षा है कि उसका जीवन सुखमय हो, दुख के बादलों से न ढँका हो। किन्तु जो आनन्द हमारी संस्कृति का लक्ष्य रहा है, वह दुख का अभाव नहीं, दुख-सुख दोनों से विलक्षण है। वहाँ न सुख में रति की भावना है, न दुख से विरति की। रागातीत निर्विकल्प अवस्था में मनुष्य तभी पहुँचता है जब अज्ञानान्धकार के मिट जाने से वह सृजन के तत्वों को समझ लेता है और मरण पर उसे विजय मिल जाती है। जब तक वह असत्य से आवृत, अन्धकार से आच्छन्न और मृत्यु के वशीभूत रहता है, तब तक निरतिशय आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिये मृत्युञ्जय वाणी में ऋषि ने प्रार्थना की थी—

असतो मां सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय

असत् से सत् की ओर ले चल
अन्धकार से ज्योति की ओर ले चल
मृत्यु से अमृत की ओर ले चल

सत्य, ज्योति और अमृत की साधना भारतीय संस्कृति की विशेषता है। अथर्ववेद का आदेश है—'मा मृत्योहदगाः वशं—मृत्यु के अधीन मत हो; अमृत के सन्धान में सचेष्ट हो जा। ऋषियों ने मनुष्य को 'अमृत का पुत्र' कह कर पुकारा है। अमृत-पुत्र जन्म-मरण के चक्र में पिसे—शोक !

ऋषिवाणी निराश गतिहीन जीवन के विरुद्ध बार-बार घोषणा करती है। 'चरैवेति, चरैवेति'—चले चलो, चले चलो—का अमोघ मंत्र देती है। जब तक अमृत-कलश नहीं मिलता, विश्राम का अवकाश कहाँ ? सत्य के संधान में, ज्योति के अन्वेषण में, मृत्यु-विजय-अभियान में आत्मार्पण—यही तो भारतीय संस्कृति है।

कुछ लोगों की धारणा है कि भारतीय संस्कृति व्यष्टिधर्मी है, अलक्ष्य अदृष्ट के चिंतन में निमग्न है। उसमें केवल आत्मशुद्धि का जोर है, लोकहित की भावना का प्रसार नहीं। ऐसी धारणा रखनेवाले भूल जाते हैं कि ऐहिक सुख-साधनों की समृद्धि में भारतीय सभ्यता का महत्वपूर्ण योग रहा है। भारतीय भौतिक विद्यायों के चिह्न आज यद्यपि काल के गर्भ में विलीन हैं, किन्तु ध्वंसावशेष अब भी बतलाते हैं कि यहाँ जीवन का कोई भी क्षेत्र अछूता न था। जीवन और जगत के नाना व्यापारों में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा भारतीय चिन्ताधारा में सर्वत्र व्याप्त है। यह सही है कि हमारी संस्कृति व्यक्ति के गुणों के विकास की पोषक है। वह त्याग को भोग से अधिक महत्वपूर्ण बताती है। किन्तु इससे समाज के उत्थान में बाधा नहीं होती। समाज की वेदी पर अपने स्वार्थों की आहुति चढ़ा देना, लोकहित के लिए अपने अस्तित्व तक को मिटा देना भारतीय परम्परा रही है। मनीषी के शब्दों में :—

नत्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

—'मुझे राज्य की कामना नहीं, स्वर्ग की भी नहीं। मेरी कामना है दुःखतप्त प्राणियों के कष्टों को दूर करने की।' कितने पवित्र उद्‌गार हैं, कितनी उदात्त कामना है! काश, वित्तैषणा में रत समाज इससे प्रेरणा ग्रहण करता! भारतीय संस्कृति व्यक्ति की अन्तर्वृत्तियों के विकास की समर्थक है, क्योंकि व्यक्ति समाज की इकाई है। जिस समाज में दधीचि-जैसे अस्थि-दान करनेवाले त्यागी व्यक्ति रहेंगे, उस समाज का उत्थान अनिवार्य है। जो व्यक्ति अपनी ही अन्तरात्मा की शक्तियों के प्रति उपेक्षाशील रहेगा, उससे समाज का कहाँ तक कल्याण होगा यह विचारणीय है। जो अपने ही प्रति ईमानदार नहीं, उससे समाज का उपकार सम्भव नहीं।

आश्चर्यजनक भौतिक प्रगति के बावजूद आज औसत मानव जीवन यदि सुखी नहीं है, तो उसका कारण यह है कि जीवन की शक्तियों का संतुलन बिगड़ गया है। व्यक्ति की बौद्धिक शक्तियाँ विकसित तो हुईं, किन्तु हृदय की वृत्तियाँ—करुणा, क्षमा, प्रेम इत्यादि—कुत्सित बनी रहीं। परिणाम प्रत्यक्ष है। वर्तमान संसार में बुद्धि का व्यभिचार हो रहा है। सुख के साधनों में असीम वृद्धि हो जाने से मनुष्य उसके संग्रह में पहले की अपेक्षा अधिक दत्तचित्त हो गया है और लोकैषणा की भावना दब गयी है। यही कारण है कि मानव जाति का भविष्य खतरे में दीख पड़ता है। अतएव आवश्कता है कि आज का मनुष्य अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाए। यदि मनुष्य चाहता है कि विज्ञान के अनुसन्धानों के द्वारा उपलब्ध शक्तियों से जनता सुखी हो तो उसे मन को भोग की शय्या से हटाकर त्याग के तपोवन में ले जाना होगा; अपने जीवन के आदर्शों को आध्यात्मिक आदर्शों पर प्रतिष्ठित करना होगा। यही है हमारी भारतीय संस्कृति का संदेश।

★

उपेक्षितों का सहारा संगीत

संगीत उपेक्षितों का सहारा है? अगर नहीं तो बेतरतीब दाढ़ीवाला वह बूढ़ा डोम अपनी ओढ़नी (सारंगी से मिलता-जुलता एक वाद्य यंत्र) लेकर संगीत-मग्न क्यों हो रहा है जब कि शाम हो आई है, श्मशान सूना है, वातावरण में दुर्गंध और एक घिनौनी मायूसी छाई हुई है? पास ही टूटे-फूटे उस के घर में बुढ़िया खाना पका रही है, उसका ध्यान भी तो उसकी ओर नहीं !

सन्ध्या के झुटपुटे अंधियाले में गाँव का चमार चुप बैठा प्रतीक्षा कर रहा है कि घरवाली आकर घोषणा कर दे कि आज करमी की साग के लिए घर में नमक नहीं है ! अर्द्धबुभुक्षित मानव, जिसने जीवन-संग्राम में हार-पर-हार खाई है ! सहसा वह उठता है, घर में जाकर 'पिपही' ले आता है। अभ्यास करता है। लड़के को भी बजाना सिखाता है। कहता है—ले बजा, और काम कौन मिलेगा भला ! शहनाई बज उठती है !

वर्षाहीन भादों की धूमिल सन्ध्या में आनेवाले अकाल की संभावना से त्रस्त संताल सोचता है और बाँसुरी बजाता जाता है। युग-युग से उपेक्षित आदिवासी युगों से अपने जीवन के दुःख, वेदना और हाहाकार को मुरली की तान में डुबोता रहा है। उसकी मुरली छीन लो तो वह पहाड़ के पत्थर या जंगल के सूखे काठ के सिवा और क्या रह जायगा?

वह दूर से ढोल की आवाज आ रही है। 'गम्-गम्-गुडुम'। उस आवाज में आकर्षण है और है दैनिक दुख-दैन्य के प्रति उपहास, एक चुनौती।

यह भील का ढोल है। नाच के समय वह उसके अँगों को गति प्रदान करता है। उभड़-खाबड़, बंजर, रेगिस्तान जैसे अपने जीवन की स्थितियों से गुजरने के लिये विवश थका-हारा भील उसे अपने आप से अलग नहीं कर सका है। वह उसकी आवाज को प्यार करता है। यह उन्हें कठिनाइयों से निरन्तर जूझने की प्रेरणा देता है।

चलिए योरप। उसके बने-सँवरे प्राँगण में जिप्सियों का कारवाँ जा रहा है। देखिए, क्षितिज पर बर्फ के तूफान की गड़गड़ाहट सुनाई दे रही है। पत्रहीन ओक वृक्ष के नीचे उन्होंने पड़ाव डाल दिया है। और, धुनी हुई रूई की तरह बर्फ की वर्षा हो रही है। रात भर वह रह जाते हैं। सुबह फिर चल देते हैं। कोचगाड़ी के पाँवदान पर रंग-बिरंगे गूदरों का झूल पहने जिप्सी युवक खड़ा है। उसके जूते फटे हुए हैं। वह उदास भी है, लेकिन उसके हाथ में वायलिन

कृष्णचन्द्र मिश्र

युगधर्म

सत्य ही उन्नति-अवनति, पतन और उत्थान प्रकृति का नियम है, शायद एक अटल नियम। व्यक्तिगत जीवन की अपेक्षा वर्ग, समाज, किम्वा राष्ट्र के जीवन में यह नियम अधिक स्पष्ट दीख पड़ता है। वेद मंत्रों का साक्षात्कार करने वाला भारत काल-क्रम से सर्वाधिक निरक्षरों का देश बना, और पांच सौ वर्ष पूर्व तक का अज्ञात संयुक्तराष्ट्र अमेरिका आज शिक्षा, सभ्यता तथा सम्पन्नता में अग्रगण्य है।

रात्रि के अवसान के बाद दिवस का आगमन अवश्यम्भावी है। उसी प्रकार यह भी निश्चित है कि दलितों का उद्धार भी किसी समय होकर ही रहेगा। लक्षण स्पष्ट है कि यह युग, आने वाली सदी, सर्वोदय का युग होगा। यह वह युग होगा जिसमें सदियों का पददलित, उत्पीड़ित, शोषित मानव-समाज दृढ़ पगों से जीवन शिखर की ओर बढ़ चलेगा, उत्थान शिखरासीन होगा। आने वाली सदी में ही पूर्णता प्राप्त करेगा युग-युग के धर्म-समाज सुधारकों का प्रयत्न।

हाँ, दलितों के उद्धार का प्रयत्न आज से नहीं, १६ वीं या २० वीं सदी से ही नहीं, बल्कि सदियों पूर्व से प्रारम्भ हो चुका है। भिन्न-भिन्न देश-काल के विश्ववन्द्य धर्म सुधारकों अथवा प्रचारकों का मुख्य ध्येय रहा है सर्वोदय—उपेक्षितों को ऊपर उठाकर समाज को, देश को, राष्ट्र को सुखी-सम्पन्न बनाना; दलितों का उद्धार करना! जन्म-जन्म तक बोधिसत्त्व का यही प्रयत्न रहा, ईसा इसी-लिए Shepherd कहलाया। पैगम्बर मुहम्मद का श्रेय भी इसी में छिपा था। मार्क्स का उद्देश्य भी यह था और सर्वोदय ही था महात्मा गांधी का भी जीवन ध्येय।

युग धारा इसी दलितोद्धार की ओर प्रवाहित हो रही है। स्वार्थ और शोषण से जर्जरित, भौतिकवाद से अभिभूत आज के मानव समाज के कल्याण का और कोई मार्ग भी तो नहीं दीखता है। अतएव सर्वोदय

उपेक्षितों का सहारा संगीत···

है जिसे वह प्रदर्शन के लिये ही नहीं, मन बहलाव के लिये भी जब जहाँ मौका मिलता है बजा लेता है।

•भूमध्यसागर के पार अमरीका से जाज की ध्वनि आ रही है। गोरों से यह कालों को अधिक प्रिय है। ये हैं निग्रो। लाँछित और दलित। घृणा, ठोकरों और हत्याओं के बावजूद इनके जाज की आवाज उच्चत्तर होती जाती है, क्योंकि वाद्य-संगीत उपेक्षितों का जीवन-संगीत है।

या दलितोद्धार ही आज का धर्म है—युग धर्म है। हमारा सामाजिक तथा राजनीतिक, नहीं, नहीं, सर्वांगीन कल्याण भी इसी में निहित है।

युगधर्म के पालन में ही निःश्रेयस और अभ्युदय है। अतः आज के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है, धर्म है, कि वह अपनी योग्यता के अनुसार इस दिशा में, दलितों के उद्धार के लिए, सचाई से प्रयत्न करे। दरिद्रों में ही नारायण के साक्षात्कार का प्रयत्न करे। पतितों में ही पतितपावन के दर्शन प्राप्त करे। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह विद्यार्थी हो या शिक्षक, वकील हो या डाक्टर, जज हो या मैजिस्ट्रेट, सैनिक हो या व्यापारी, बालक हो या वृद्ध, पुरुष हो या नारी, इस दलितोद्धार स्वरूप आत्मकल्याणप्रद, राष्ट्रहितकारी पुण्यप्रद कार्य में हाथ बंटा सकता-है।

किसी अन्य लेख में मैं यह बताने का प्रयत्न करूंगा कि प्रत्येक व्यक्ति किस तरह स्वधर्म का पालन करते हुए दलितोद्धार कार्य में भी सक्रिय भाग ले सकता है। और यह है भी नितान्त आवश्यक। इसके बिना *"सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः"* का स्वर्णोद्देश्य कभी पूर्ण नहीं हो सकता है। यही नहीं, इसके बिना संसार में शान्ति की स्थापना भी शशशृंग के समान है, क्योंकि कविवर "दिनकर" के शब्दों में वस्तुतः

"शान्ति नहीं तब तक, जब तक
सुख भाग न नर का सम हो"

और यह तब तक सम नहीं हो सकता है जब तक हम में से प्रत्येक व्यक्ति समाज के उपेक्षित, अशिक्षित, शोषित एवं बुभुक्षित व्यक्तियों के जीवन को सुखी और सरस बनाने का प्रयत्न नहीं करे।

विज्ञान के विकास के कारण आज मानव मानव में दिक्काल का व्यवधान नहीं रहा। सबका जीवन एक ही सूत्र में पिरोया हुआ है। एक के कुसंस्कार से समाज का संस्कार दूषित होगा। एक के दुख से समाज दुखी होने को वाध्य है। अतएव सबल-स्वस्थ समाज के लिए जन-जन को स्वस्थ, सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत बनाना अनिवार्य है। प्रत्येक देश में, प्रत्येक समाज में कुछ तो स्वयमेव समुन्नत हैं, आज हमें उनकी ओर ध्यान देना नहीं है। हमें तो उन्हीं समुन्नत व्यक्तियों जैसा उनको बनाना है जो देश के गली-कूचों में, भिनभिनाती मक्खियों के बीच, सड़ी दुर्गन्धिपूर्ण नालियों के पास, हताश, निराश हो जीवन के दुर्बल भार को आहें भर-भर कर शुष्क ओष्ठ और गीले नयनों से ढो रहे हैं।

क्या समाज के शिक्षित सम्पन्न व्यक्तियों का उनके प्रति कोई कर्त्तव्य भी है?

विक्रमादित्य नारायण वर्मा

हम सोचें

ज़माने में जो कुछ हो रहा है उसे देखते हुए कहना पड़ता है कि आचारहीन विचार और झूठे प्रचार ही समाज के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं। वाणी और आचरण की शुद्धता तथा व्यावहारिकता ही हमें इस दलदल से निकाल सकती हैं। ऋषि दयानन्द, विवेकानन्द या बापू को लोगों ने अगर सुना तो इसीलिए कि उनके विचार मंगलमय थे और वह उनकी वाणी और आचरण में प्रतिपादित होते थे।

शताब्दियों पुराने अस्पृश्यता के कोढ़ को ही लीजिए। इसकी जड़ खुद रही है यह सच है, लेकिन क्या यह भी सच नहीं कि इसके विनाश की दिशा में हमें जो भी सफलता मिली है वह दाल में नमक के बराबर है? बापू के इतना कहने-करने पर भी हम अब तक जो कुछ कर सके हैं क्या वह अस्पृश्यता वृक्ष की प्रशाखाओं के काटने के बराबर नहीं? ऐसा क्यों? क्या इसलिए नहीं की हमारी वाणी में, हमारे आचरण में, अभी शुद्धता नहीं आई?

कहा जाता है कि जनता अशिक्षित है, संस्कार पुराने हैं, इत्यादि। इतना कह कर सारा दोष अशिक्षित ग्रामीण जनता के मत्थे मढ़ देने से काम नहीं चलेगा। हम सोचें कि अस्पृश्यता के विनाश के रास्ते में क्या हम रोड़े नहीं अँटका रहे—हम, जो शिक्षित और सभ्य के नाम से पुकारे जाते हैं? होटलों और मोटरों में सबके हाथ का पानी पीकर हम संतोष कर लेते हैं। क्या हमने बापू की बात को भुला नहीं दिया जब प्रत्येक परिवार में एक हरिजन रख कर उसके साथ समानता का व्यवहार करने से हम मुकर गये? यह बापू का वह व्यावहारिक आदेश था जिसका पालन करके हम इस दिशा में बहुत आगे बढ़ सकते थे, अगर बढ़ना चाहते।

हरिजनों में भी डोम, मेहतर और मुसहरों की स्थिति अत्यन्त हृदयविदारक है। उनके पैतृक व्यवसाय ने उन्हें कोरा भाग्यवादी बना दिया है। जिनकी सेवा में यह लगे हैं उनका ध्यान तो उनकी ओर नहीं ही है, अपने सुधार की ओर यह खुद भी आँख उठाकर देखते तक नहीं। सरकारी सहायता-कार्य के सिलसिले में मुसहरों के सम्पर्क में आने का मुझे मौका मिला और मैं उनको निकट से देख सका। उनकी स्त्रियों की अर्द्धनग्नता, बच्चों की क्षुधार्तता, मर्दों की बेचैनी, भुलाये भी नहीं भूलती। यह इस दशा में कब से रहते आ रहे हैं, कहना कठिन है लेकिन इधर आकर तो मंहगाई और कन्ट्रोलों के कारण यह बुरी तरह तबाह हो गए।

जगदीशचन्द्र राय

एक उपयोगी बूटी

दुनिया में दवाओं की कमी नहीं है। इधर आकर तो कई दवाएं ऐसी निकली हैं कि उनको रामबाण का नाम लेकर पुकारा जा रहा है। लेकिन क्या यह सबों के लिए उपलब्ध हैं? दवाओं की कीमत के अलावा इंजेकशन लेने की फीस कितने आदमी दे सकते हैं? कम-से-कम ग्रामीण जनता, खासकर निम्नस्तर के लोग तो दवाओं के रहते भी अर्थाभाव से बिना दवा के रह जाते हैं। हमारी देशी जड़ी-बूटियों में लाभकारी गुण तो हैं ही, साथ ही वह थोड़े परिश्रममात्र से ही प्राप्त हो जाती हैं। ऐसी हालत में जानकारी रहने पर लोग उनसे पूरा लाभ उठा सकते हैं। नीचे एक ऐसी ही बूटी की चर्चा की जाती है जो लोकोपकारी और सहजप्राप्त है।

मुण्डी बूटी भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक प्रदेश में पाई जाती है। संस्कृत में इसके नाम भिक्षुः, परिव्राजी, पत्रभँगा, तपोधना, भँडूतिका, श्रावणी इत्यादि है। पंजाबी, गुजराती तथा हिन्दी में इसे मुण्डी तथा गोरखमुण्डी के नाम से पुकारते हैं। इन नामों के अलावा बिहार में इसे मुड़ली के नाम से भी जानते हैं। यह धान के खेतों में, जलाशयों के पास या वनों में पाई जाती

हम सोचें······

दूकानदार इन भुखमरों को लूटने से बाज नहीं आये, इससे अधिक शर्मनाक बात और क्या हो सकती है? और यह दूकानदार सब की जानकारी में ऐसा करते रहे हैं यह तो और भी लज्जास्पद है।

हरिजनों की या निम्नस्तर के अन्य दूसरे सभी लोगों की आज जो दशा है उसे देख कर चुप रह जाने से, व्याख्यान या लेख लिख देने से काम नहीं चलेगा। न कोरी भावुकता से कुछ होने को है। सच तो यह है कि हम व्यावहारिक बनें—अपनी वाणी और आचरण में शुद्धता लायँ। कहना कुछ और करना कुछ इससे काम नहीं चलने का। न यह सारा काम सरकार का ही है। और अगर हम कहें कि सरकार ही यह सब कर सकती है तो फिर सरकार है कौन? देश के लोगों से ही तो राज्य-व्यवस्था का निर्माण होता है। अगर देश के तमाम आदमी किसी बात के लिए कटिबद्ध नहीं होते तो वह पूरा कैसे होगा?

समय बदल रहा है। सब कुछ जैसा चल रहा है चलेगा, ऐसा नहीं। प्रतिभा वह है जो हवा को अनुकूल बना ले। हम इतिहास के पृष्ठों से शिक्षा लें और अपना दृष्टिकोण बदलें। हम व्यावहारिक बनें। हम वाणी और आचरण की शुद्धता की ओर ध्यान दें कि जिस काम में लग कर भी हम असफल हो रहे हैं उसमें सफल हों।

देश से अस्पृश्यता जल्द-से-जल्द जाय यह हमारा नारा हो।

है। इसकी पत्ती पुदीने की पत्ती से कुछ बड़ी होती है। डलिया पतली, फूल छोटे-छोटे, गोल, लाल तथा बैंगनी रंग के होते हैं। स्वाद कुछ कटु होता है। यह दो प्रकार की होती है—बड़ी और छोटी। गुण प्रायः दोनों का एक-सा ही है। हृदय की धड़कन, मस्तिष्क रोग, पागलपन, कण्ठमाला, व्याकुलता, कामला रोग, वात, पित्त आदि को दूर करती है। गर्भाशय का सूजन, नेत्र रोग, मूत्रदाह, शोथ, मुंह आना, फोड़ा-फुन्सी तथा हर प्रकार के रक्त विकारों में भी यह बहुत गुणकारी है।

इसके पँचाँग जब फूलने आवें छाया में सुखाकर, महीन पीसकर, गेहूँ के आटा को शुद्ध गौ घृत में मिश्री या शक्कर मिलाकर, हलुआ बनाकर सूर्योदय से पहले नियमित रूप से सेवन करने से मस्तिष्क संबंधी रोग दूर होते हैं। इसके पँचाँग का चूर्ण ६ माशा, अर्जुन के छाल का चूर्ण ६ मासा गौ घृत में मिलाकर ५ तोला गौ के दूध से सेवन करने से हृदय की धड़कन आदि रोग दूर होते हैं। इसका एक पुष्प बिना पानी के निगलने से एक वर्ष तक आँखों के रोग नहीं होते। इसका सवा दो तोला पँचाँग पाव भर पानी में रात्रि को काँच या मिट्टी के वर्त्तन में भिंगो कर ४० दिन तक नियमित रूप से पीने से कण्ठमाला दूर होती है। इसके पँचाँग का चूर्ण ६ माशा, अश्वगंध का चूर्ण ६ माशा गौ घृत के साथ सेवन करने से पागलपन दूर होता है। इस बूटी को शाक की तरह पका कर खाने से खाने के बाद की वमनेच्छा दूर होती है और भूख बढ़ती है। इसके पँचाँग का चूर्ण ६ माशा मधु के साथ प्रातःकाल सेवन करने से केशों का झड़ना रुक जाता है और बालों का पकना बन्द होता है। इसके पँचाँग का चूर्ण ६ माशा से २ तोला तक फागुन महीने में काँजी के साथ, चैत-बैसाख में मधु के साथ, ज्येष्ठ-अषाढ़ में शक्कर या मिश्री के साथ, श्रावण-भादों में गौ घृत के साथ, आश्विन-कार्तिक में गाय के दूध के साथ और अगहन-पूस में तक्र के साथ ४० दिन तक सेवन करने से शरीर में शक्ति और स्फूर्ति आती है। इस बूटी के पँचाँग का आठ आना भर शुद्ध मधु के साथ सेवन करते रहने से बुढ़ापा जल्द नहीं आता है। मुण्डी बूटी का चूर्ण चार आना भर, उतना ही गोखरू का चूर्ण, अश्वगंध का चूर्ण, जीरा, सतावर, खिरैटी, विधारा, अनन्तमूल, तथा बरियार का बीज सब एक साथ आध सेर पानी में रात्रि में रखकर सुबह गोइठा की आग में उबालकर एक छटाँक के करीब रह जाने पर छान कर मधु के साथ ४० दिन तक सेवन करने से स्त्रियों के सभी रोग दूर होते हैं। इस बूटी का चूर्ण ६ माशा, पीपल का चूर्ण ३ माशा, हर्रे का चूर्ण ३ माशा, सब को शहद में मिला कर खाने से कामला रोग (पियरी) दूर होता है। इसके अर्क का शर्बत बनाकर पीने से दाह, व्याकुलता और वातज-पित्तज रोग शान्त होते हैं। इस बूटी के पँचाँग का चूर्ण ४० तोला, अनन्तमूल २० तोला, चोप चीनी ५ तोला, सब का अर्क बनाकर मधु के साथ आधी छटाँक रोज सेवन करने से रक्त विकार दूर होता होता है।

★

निश्चलानन्द महाराज

अमरनाथ का अमर संदेश

यात्रा का आरंभ

यह मेरी कैलाश यात्रा ही थी जो मेरे जीवन की गतिविधि में एक अवस्थान्तर की जननी बनी। मेरे दृष्टिकोण को एक नवीनता का ही वरदान मिला। एक दृढ़ विश्वास और महती शक्ति के साथ जिसने मेरे जीवन पर स्वत्व जमाया था, उसे पार्वतीय नयनाभिराम दृश्यावलियों की महिमा ही कहूँगा। इसके सम्मोहन और आकर्षण से मनुष्य चुम्बक की तरह ही खिंचते चले जाते हैं। इसकी दिव्यता से प्रभावित होकर मनुष्य एक नई सृष्टि ही का सर्जन करता हुआ नई वस्तुओं को नई रीति-नीति से ही देखना आरम्भ कर देता है। अतएव इसमें आश्चर्य नहीं है कि एक यात्री केवल दिव्यता के प्रतीक की छविसुधा पान करने के लिए ही मार्ग के सारे संकटों को विस्मृत कर हथेली पर प्राण रखता हुआ कंटकाकीर्ण मार्ग को भी देवयान-पथ मान कर चला चलता है। वह इसलिए नहीं सिर पर आकाश उठाता है कि उसे प्रशंसा के चोखे चाट चखने की आदत हो, बल्कि वह प्रकृति का प्रेमी प्रकृति पर न्योछावर हो जाता है। यह कैसा तथ्य है, कैसी अभिलाषा है सो कहा नहीं जाता, न कोई इसका प्रमाण ही होगा। यह अन्तर की वह पुकार है जो प्राणों में नव चेतना का प्रस्फुरण करता हुआ उसे उत्प्रेरित और उत्तेजित करता है।

कैलाश विजय के अनन्तर अमरनाथ जाने की जिज्ञासा उद्भूत हुई। फिर क्या था, मैंने देखते-देखते ही अपने को काश्मीर की संकरी घाटियों से गुजरते पाया। मैं तो अब कैलाश के पथ की भयानकता तथा अमरनाथ के मार्ग की भयावह घटनाओं को स्वप्न की तरह छोड़कर पग-पर-पग देता जा रहा था।

रविवार १२ अगस्त को हम सभी संन्यासी, ब्रह्मचारी और वैरागी एकत्र हुए और एक खास बस किया। पता भी नहीं था कि हम सब अमरनाथ के मार्ग पर हैं। रास्ते की गड़बड़ और वर्त्तनों की खनखनाहट ही हृदय के शून्य भावोद्गार बनकर अमरनाथ की अमरता को स्पर्श कर रहे थे। अनन्तनाग और मतंग में कुछ देर विश्राम करके हम लोग पहलगांव पहुँचे जबकि मंद-मंद फूहियों से संध्या का सुहाग धुल रहा था।

पहलगांव तम्बुओं का नगर था जहाँ तीर्थयात्रियों का बसेरा था। एक दिन पहले जैसी तैयारियाँ की गईं आज उनका नामो-निशान नहीं। सब-के-सब जहाँ जो कुछ था, छोड़कर चल चले थे। झोपड़ियों का नगर उजाड़ हो गया। कुछ तो टट्टुओं पर सवार

हुए और कुछ धीरज रखते हुए हाथों में लाठी लिए बर्फीली चोटियों से सरकने लगे। वे चिल्लपों मचाते एक ही राह पर विचित्र गति से बच्चों को दबाये, बूढ़ों को संभाले भेड़ियाधसान की नाईं चल रहे थे।

६५०० फीट की ऊँचाई पर स्थित चंदनवाड़ी के समीप अपने को पाकर हर्ष का पारावार नहीं रहा! जलधारायें गम्भीर नाद करती हुई चट्टानों के वक्षस्थल से जूझ रही थीं। पार्वतीय पार्श्व में उद्दंड राक्षसों की भांति दण्डायमान चीड़ के पेड़ आकाश को छू रहे थे। उसी कलनादिनी के कक्ष से ही पगडंडी गई थी जिसके दोनों ओर चीड़ और भुर्ज के विशालकाय विटपव्यूह छाया कर रहे थे। चन्दनवाड़ी पहुँचकर मैंने जब देखा कि यहां तो घनघोर बाजार है, तो आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। छोटे-छोटे चायपानी से लेकर आप आवश्यकता की जो सामग्री खोजें पा सकते हैं। और तो और, एक चलता-फिरता अस्पताल भी हमलोगों का साथ दे रहा था। साथ में एक डाक्टर, एक महिला डाक्टर तथा कई और भी कर्मचारी थे। राज्य की ओर से यह सुप्रबन्ध था जो यात्रियों की सारी सुविधाओं की पूर्ति कर रहा था। एक पशु चिकित्सक, कुछ पुलिस सिपाही तथा जंगल संरक्षक भी हमलोगों के साथ थे।

चन्दनवाड़ी का पड़ाव भी कैसे मनमोहक दृश्यों के बीच पड़ा था। चारों ओर रंग-विरंगे पहाड़ों के कगारों से होकर बहने वाली निर्झरिणियों की कलध्वनि से दिशायें सन्नादित रहतीं और कवियों की कल्पना को उपकरण मिलता। यात्रियों के रोम-रोम को चूम कर बहने वाला शीतल शान्त समीर अन्तस्तल को भी छू-सा लेता था। भिन्न-भिन्न प्रकार के बेसुरे स्वर भिन्न-भिन्न दिशाओं से गुंजायमान होकर प्रकृति के मधुरिम गीत सुना रहे थे। यही गा रहे होंगे कि 'विश्व शान्ति की समस्या का समाधान एकमात्र अध्यात्म ही हो सकता है और सारे चोंचले सिद्धान्त स्वार्थ की ओट से ही फुंकार रहे हैं। शान्ति का सुधासलिलाशय मनुष्य के ही अन्तर में है, न कि कहीं और ही ठौर। जीवन का ध्वंस और निर्माण तुम ही करते हो।'

शेषनाग के पग पर

प्रातःकाल ही चन्दनवाड़ी सूनसान हो गयी। छिटफुट कोई अपना बिस्तरा समेटते हुए अपने साथ के लोगों को पकड़ने के लिए उतावले नजर आ रहे थे। वहाँ से लगभग ७ मील दूर १२,२०० फीट की ऊँचाई पर स्थित शेषनाग की मनोरम शोभा भी अवर्णनीय ही है। पास ही के एक पुल को पार कर दो मील की एक लम्बी खड़ी चढ़ाई चढ़नी पड़ती है। बिल्कुल शिखर पर पहुँच कर एक अत्यन्त ही रमणीय छटा देखने को मिलती है। नीचे पाताल की तरह घाटियों का दृश्य गोचर होता और नदियाँ सर्प की भांति प्रतीत होती हैं। वहीं से शेषनाग धारा प्रवाहित होती है जो रह-रह

कर पर्वतों के अंक में अपना मुंह छिपाये, कहीं निकल कर जोरों से शोर करती हुई, बर्फ की परती में प्रवेश करती और निकलती हुई, घनघोर गर्जन से भीरुओं के दिल में दहाड़ उत्पन्न करती है। शुभ्र शीतल चाँदनी में चमकती-दमकती चट्टानें चांदी की बनी मालूम होती हैं। गगन मण्डल मानों कभी हँस देता और कभी रो देता है। जहां तक दृष्टि जाती शून्य का साम्राज्य रहता है और जो भी शब्द सुन पड़ें वे केवल प्रकृति के पावन संदेश ही होते हैं। मैं तो समझता हूँ कि ये ही वे संदेश हैं जिनका अमिट प्रभाव मानव के अभ्यन्तर में यावज्जीवन गुदगुदी पैदा करते रहते हैं। चर्मचक्षुओं से कहां तक देख सकते है; यदि ज्ञान की आँख खोलकर देखो तो वही प्राप्त हो जाता है जिसकी प्रेरणा उस अदृश्य की ओर उन्मुख करेगी।

बोझों से लदी हुई खच्चरों की टोलियां एक दूसरे से आगे बढ़ने की में आपस में टकराती चली जातीं। शिखर पर चढ़ने की प्रतियोगिता में सबके सब भाग लेते हुए अविलम्ब गति से जाते हुए उत्सुक थे मानो प्रथम पारितोषिक प्राप्त करने की जिज्ञासा रह-रह कर दूनी होती जाती थी। यों हमलोग अब उन पर्वतों से गुजर रहे थे जिनके शृंग पर से तुषार राशि पिघलती हुई हजारों मन के पत्थरों को छाती पर चढ़ाए चली जा रही थी। मैं मुड़कर गहरी तिरछी दृष्टि से देखने लगा उनकी रुक्ष शोभा को, जिसे देखकर गगनांगन के बादल समूह भी उत्तेजित होकर उमड़ते और जब-तब वक्र-गामी वायु के झकोरों से भिड़कर भीषण चीत्कार करते। अहा, प्रकृति का यही हास-विलास तो मानव को वह पाठ पढ़ा सकता है जो अगम्य और अगाध है। आदर्श जीवन का प्रतिबिम्ब इसी में सन्निहित है।

उत्तुंग बर्फीली चोटियों पर खिसकनेवाले श्वेतकाय हिमप्रवाह क्रमशः जल में परिवर्तित होते जाते और नीचे कलूटे स्लेट के पत्थरों से सन कर धूमिल और गन्दे होते जाते। जरा ऊपर की ओर दृष्टि देकर देखिए तो वे शृंग आप की ओर हँसते हुए दृष्टिगोचर होंगे। ऊपर तीन एकीभूत शृंग समुदाय हैं जो हिन्दुओं की त्रिमूर्ति की कल्पना को साकार करते हैं। एक ब्रह्मा को निर्दिष्ट करता, दूसरा विशालकाय भयावनी आकृति में श्री विष्णु की, और तीसरा चकाचौंध करनेवाली गुम्बजी शक्ल के शिवजी की भाँति। ये तीनों कर्ता, धर्ता और संहर्ता के रूप में आँखों-आँखों के विषय बनते हुए शोभा को प्राप्त हो रहे थे। ये तीनों ज्वलन्त दृष्टान्त बन कर मनुष्य को यह जता रहे थे : 'हे मानव, तेरे हाथ मंगल की सृष्टि करें, तेरी वाणी नियंत्रित हो और तेरे पाद आततायियों का हनन करें।' यह तो वास्तव में उपनिषदों की वाणी है जिनमें कल्याण की भव्य भावना कूट-कूट कर भरी हुई है।

श्रद्धापूर्ण दो पग श्री शेषनाग की ओर

बढ़ाते हुए मैंने अतिशीत जल में दो डुबकियाँ लगाईं। एक मन्द पवन के झोंके ने जल में हिलकोरों का सृजन किया और समस्त वातावरण शीतल हो गया। यह झकोरा मेरे मन की आँखों पर चलचित्रों की भाँति नाच गया, जैसे बता रहा हो कि यह संसार छोटी लहरों की भाँति ही वैयक्तिक विचारों से बना हुआ है। जब तक यह व्यष्टि भावना समष्टि में समाहित नहीं हो जाती तब तक न तो ज्ञानोदय की आशा है, न प्रेम और एकत्व की। मन, वचन और कर्म-ये मिल कर एक हो जायेंगे तभी एक विश्व और एक अधिप हो सकेगा।

ये गगनचुम्बी पर्वत समूह शनै-शनैः सूर्य को उदरस्थ करते जा रहे थे। सूर्य की चन्द किरणें ढलकते हुए हिम की शिलाओं पर झीनी-झीनी छिटक रही थीं; और तभी तम्बुओं से धूम्रवात निकलकर बादलों के गले लग रहे थे। वातावरण में एक विचित्र ही समता दृष्टिगत हो रही थी। सबके सब आकर कम्बलों में प्रवेश करने लगे। केवल मैं ही था जो बाहर खुली चांदनी में आनन्द लेता रहा। क्रम-क्रम से शशिकर ने दो पहाड़ों के शुभ्रांक में अपना आनन छिपाया और तमिस्रा देवी ने अपना साम्राज्य प्रकट किया। अहा, यही तो जताता है कि जब विश्व का एक भाग शान्ति की खोज में आकुल-व्याकुल है, तभी इतर मानव युद्ध की चुनौती देकर काल का आह्वान कर रहा है। अपने सगे-साथियों को सोता पाकर मैं चन्दकिरणों का स्मरण करता हुआ जैसे सोच रहा था कि धन्य है हम अतिथियों को सत्कार प्रदान करने वाली ये अदृश्य व अनोखी शक्तियाँ। मैंने दृष्टि उठाकर ऊपर विस्तृत मण्डल की ओर एक टक से देखना आरम्भ किया जहाँ बादलों के टुकड़े तैरते नजर आ रहे थे, मानो बता रहे थे कि भ्रान्त मानव जाति जब तक विश्वप्रेम को नहीं अपनाती है जब तक उसका सारा प्रयास मखौल है; जब तक वह सत्य के बाहुपाश में नहीं आती है तब तक वह यों ही बच्चों के खेल खेल रही है। जातीयता का प्रश्न वहां तक दुरूह है जहाँ तक घृणा, स्वार्थ और प्रतिस्पर्धा से संकुचित क्षेत्र में हम पाले जा रहे हैं। विश्वभ्रातृत्व ही सारी समस्याओं का समाधान है; नहीं तो आधुनिक भारतीय आदर्श की डफली बजा कर हम गर्त का मार्ग ही निर्विघ्न करें। आनन्द और उल्लास के सलोने सपने हम कैसे देखें जब कि यहाँ हम विरोध की वह्नि सुलगाते जा रहे हैं। नीचता लुटेरे ने हमारी दैवी सम्पदाओं को लूट कर हमें दीन-हीन बना दिया है। हम आज कहीं के नहीं रहे केवल इसी के कारण। राष्ट्रीयता के अवलम्बन से शान्ति की सम्पदा हस्तगत की नहीं जा सकती, तो क्या इसके लिए हम राजनीति में अध्यात्म का सहारा नहीं देंगे? तब प्रेम ढोंग के सिवा क्या रह जायेगा? अपना ही उल्लू सीधा करने को सबकी पड़ी है। यहाँ कौन किसका भाई और बन्धु है। कौन किसकी सहानुभूति का पात्र है और

कौन किसका कृपा भाजन। इसीलिए तो कहता हूँ कि आत्मोत्थान का बाना पकड़ो, विश्वोत्थान के सिद्धान्त को झिड़क कर। आत्मोत्थान ही समाजोत्थान का हेतु है। क्यों नहीं, व्यक्ति समाज का ही तो अंग है, और बिना अंग के सुपुष्ट हुए अखिल अंग प्रदेश को जादू से तो पुष्ट नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार नाना प्रकार के विचार-विमर्श करता, मैंने रात अधिक होते देख कर कैम्प की राह ली और निद्रा देवी की गोद में सानन्द सो रहा।

पंचधारा

सूर्य ने जग को जीवन दान दिया, अरुणिमा के स्वागत करने विहंगावलियों ने तरुवरों से तान पर तान मिलाते हुए अभिनन्दन गीत गाना प्रारम्भ किया और हम अपने आनन्द में रमते आगे को पैर बढ़ाने लगे। वहां से पंचतरणी लगभग ८ मील की दूरी पर थी जो हमारा दूसरा लक्ष्य था। कैम्प को उठाकर जब हम चलने को तत्पर हुए तो पाया वहां केवल राखों की ढेरी जो हम सबों से अनाथ होने के नाते सिकुड़ रही थी। कुछ ही फर्लांग चलकर हमलोगों को चढ़ाई अनुभव होने लगी और साहस ने भी साथ देना अस्वीकार किया। पर हम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गए कि वही सुनहले-रुपहले नये-नवीले फूलों-फलों और वृक्षावलियों के बीच विशालकाय भूमि पर होकर बहने वाली सरिताओं के संदर्शन होने प्रारम्भ हो गए। यहां सूर्य देव को उदयाचल पर प्रकट होते देख हम सबों ने श्रद्धासहित मस्तक झुकाया और हर्ष और आमोद से उनके प्रति अंजलि प्रदान की। प्रकृति के एक-एक प्रतिनिधि ने एक-एक संदेश से हम सबों को कृतकृत्य किया। इनकी वाणी तीक्ष्ण व्यालिनी की तरह सपसपाती अन्तराल को भेद देती थी। कहती थीः 'हे यात्रियों, जो नाशवान् है, जो मायिक और देखने में सुषमामय है, वह वास्तव में क्लेश का हेतु है, अतएव इसका संवरण कर मानवता को प्यार कर। वाह्य सौन्दर्य को महत्ता न दे, हृदय की प्यास इससे नहीं उपशमित हो पायेगी। तू अन्तस्थ भगवान को कैसे धोखे की ओट से देखता है?' ओह, कैसे आनन्ददायक और उद्दीपक थे वहां के संदेश, ये पर्वत बोलते थे और नदियां पुकारती थीं। लताद्रुम मुस्कुराते और निःशब्दता ही देश रूप में अवतरित हो रहा था। धन्य है वह जीवन!

आनन्द भवन

प्रातःकाल ही सब-के-सब दर्शन के लिए उत्तेजित हो उठे। स्थिर गति से वर्षा हो रही थी। परन्तु किसी ने किसी की परवा नहीं की और न निराशा ही उनके हृदय पर विजय की प्रत्याशा सफल कर पाई। अन्तिम चार मील पहुँचने में तो युग की अनुभूति होने लगती है। समय काटे नहीं कटता। रह-रह कर एक मील की चढ़ाई है और पुनः ढालुवां। इस प्रकार

किसी ने न तो शीत की थर्राहट से कामना में थर्राहट का समागम होने दिया और न साहस की सानुभूति से अपने को वंचित रखा। समीप पहुँचते-पहुँचते वे हर्ष और आमोद से फूले नहीं समाते थे और जैसे हो क्षण भर में ही आंखों की तृष्णा को प्रशमित करने को आतुर-आकुल हो जाते थे। तुषार मार्ग से चलते-चलते मनुष्य एक ऐसी अदृश्य शमित सन्निधि में आता है कि जहां उसे एक अमूल्य प्रेरणा का साहचर्य प्राप्त होता है तथा अनायास ही अदृष्टपूर्व किंवा अभूत-पूर्व प्रकृति की साकार रम्यता को देख-देख कर अपने तन-मन की बाजी हार कर वह लौट जाता है। उस शीत-काल की शीत स्फुरण में उसे उष्ण विचारों का परिदान प्राप्त होता है और वह जैसे कुसुम की तरह नवीन सौरभ को प्राप्त कर विकसित हो उठता है। इस विचित्र आकर्षण का केन्द्र है वह पर्वतशृंग, जिसकी अचेतन सत्ता भी जन-जन को अवधान चेतना का वैभव प्रदान करता है। उस शान्ति का अजस्र अमियपान कर देह में विभूति रमाकर यात्री अमरगंगा में प्रवेश करता है जैसे साक्षात् श्री सदाशिव ही हो। तदनन्तर गुफा में प्रवेश कर देखता है अतीत की आभा को। ये गुफायें मानव के अपवित्र करों द्वारा विनिर्मित नहीं, अपितु प्रकृति के राजदूत ने इनके निर्माण किए हैं, जिसके चौखटे पर खड़ा होकर मानव देखता है श्री शिवजी के महालिंग को प्रतिष्ठित, जिसका निरीक्षण उसके मृत प्राणों में नूतन चेतना का आविर्भाव करता और उसके शून्य मन-मस्तिष्क में चिरन्तन सत्य और अमरत्व की सद्भावना का आलोक विकीर्ण कर देता है। मानव एक अद्भुत ही आनन्द और चेतना में समवितिष्ठित होकर जीवन की रुक्ष रेखाओं पर नवीन तूलिका का स्पर्श कराता हुआ उसे अनुरंजित करने लगता है। विधुदान की भांति उसका अधिमानस क्षण भर के लिए विभावान् हो जाता और कल्मषों के विलीन होते ही ज्ञानचक्षु की पुतलियां उद्घाटित हो जाती हैं। उस कल्पना और अनुभूति की अम्बुधि में आज की मानवता का हेतु मानव उतर नहीं पा सकता। वह जीवन-जन्य तुच्छ हेय स्थितियों पर आखें भी नहीं देता, क्योंकि वह एक निराले ही विश्व में विहार करता है जो अतिविस्तृत और हरा-भरा है और जिसकी उपलब्धि की वह युगान्त से प्रतीक्षा करता था।

रेमण्ड कार्लसन

रेड इंडियनों की नृत्य-परम्परा

रेड इंडियनों के नृत्य तथा उनके पर्व-त्योहार अमेरिका की लोक-कला का प्राचीनतम स्वरूप हैं और कई दृष्टियों से उस देश की लोक-कला के सबसे अधिक आकर्षक और सरस रूप के प्रकाशक भी हैं। नृत्य-कला में अभिव्यक्ति का साधन मनुष्य का शरीर है। मुख और हाथों की कुछ मुद्राओं और पैरों की तालमय गति से भावों तथा रस को व्यक्त करके किसी प्रतिभाशाली पूर्वज ने नृत्य को जन्म दिया होगा।

व्यापक अनुसंधान के बावजूद अब तक यह निश्चित नहीं किया जा सका कि अमेरिकी इंडियन पहले पहल दक्षिण-पश्चिमी अमेरिका में कब पहुँचे थे। अमेरिकी इंडियनों का कोई लिखित इतिहास न होने के कारण घटना-क्रम की तिथियाँ निश्चित नहीं की जा सकतीं। किंतु अमेरिकी इंडियनों के विकास और इतिहास की कथा उनके नृत्यों और गीतों में बिखरी है। तालमय और कवित्वपूर्ण ढंग से सुनाई गई पौराणिक गाथाएं पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आई हैं और उन्हीं में अमेरिकी इंडियनों का इतिहास है। उनकी जाति के वयोवृद्ध तथा विवेकशील सदस्य सदा गाथाओं की शुद्धता बनाये रखने के लिए सजग रहते हैं, ताकि कहीं सुनाते समय उनमें कोई त्रुटि न हो जाये, कोई परिवर्तन न कर दिया जाये और गाथाओं का विशुद्ध रूप कायम रहे।

आज इस परिवर्तनशील जगत में और अन्य जातियों की भांति अपनी जटिल समस्याओं का सामना करते हुए भी अमेरिकी इंडियनों ने अपने नृत्यों तथा गीतों की परम्परा को सुरक्षित रखा है। वे अब भी उन्हीं गीतों का गान करते हैं, उन्हीं पौराणिक गाथाओं का आनंद उठाते हैं और उन्हीं रीति-रिवाजों को अपनाये हुए है। उनकी तीव्र स्मरण-शक्ति, उनकी परम्पराएं और उनकी अविचल निष्ठा उन्हें अपने कार्यों में स्फूर्ति देती रहती हैं।

यद्यपि अमेरिकी इंडियनों की विभिन्न उपजातियों में नृत्य दैनिक कार्यक्रम का अंग बन गये है, किन्तु फिर भी प्रति वर्ष कुछ विशेष अवसरों पर विशिष्ट उत्सव मनाये जाते हैं। इनमें से एक एरिजोना राज्य के फ्लैगस्टाफ कस्बे का "पाव-पाव" उत्सव है। इसी प्रकार का एक अन्य उत्सव न्यू मैक्सिको स्थित गैलप में अगस्त में मनाया जाता है। अमेरिकी इंडियन के स्वाभाविक वातावरण में ही इन नृत्यों के सौंदर्य, तन्मयता और गुरुता का पूर्ण रूप से अभास हो सकता है।

अमेरिकी इंडियनों के नृत्य निरर्थक सामाजिक नृत्य नहीं होते। वे एक प्रकार

के उत्सव-नृत्य हैं, उनका विशेष अर्थ होता है। उनमें पूजा-निष्ठा का भाव निहित होता है; सावधानी से उनमें पौराणिक गाथाओं की अभिव्यक्ति की जाती है और कल्पनाशक्ति के प्रयोग द्वारा उनमें कभी कोई परिवर्तन नहीं किया जा जाता। नृत्य केवल नर्तकों की ही स्वेच्छा पर निर्भर नहीं होते, उसमें समस्त जाति का ध्यान रखा जाता है। अन्यत्र कोई विरले ही उत्सव ऐसे होते होंगे जिनमें इन उत्सवों के समान, दर्शकों तथा नर्तकों के बीच निकटता पाई जाती हो, जहाँ उत्सव में सम्मिलित प्रत्येक व्यक्ति उन्हीं भावों में बह जाता हो और जहाँ क्रमागत परम्पराओं तथा एक ही विश्वास से उन्हें समान प्रेरणा मिलती हो।

किसी कौतूहलपूर्ण दर्शक के लिए संभवतः ये नृत्य अद्भुत और मनोरंजक प्रतीत होंगे, जिनमें अतीत की झलक दीखती है, आकर्षक वस्त्रभूषा होती है तथा मनोरम पृष्ठभूमि रहती है, किन्तु जो वस्तुतः मनोरंजन के ही साधन होते हैं। तथापि, एक अमेरिकी इंडियन के लिए उनमें और बहुत कुछ अन्तर्निहित होता है। इनमें उसकी संस्कृति का वर्णन है, उसकी आशा-आशंका, अभाव-अभियोग, उसके मन और आत्मा की पीड़ा तथा संसार में उन्नति करने की उसकी उत्कंठा व्यक्त होती है और इनमें सुख-समृद्धि और सम्पन्नता के लिए उसकी प्रार्थना निहित है।

दक्षिण-पश्चिमी अमेरिका के इंडियन —नर-नारी सभी—वर्षा, अच्छी फसल, स्वास्थ्य तथा कल्याण के लिए विनती करते हुए नृत्य करते हैं। वे देवताओं को प्रसन्न करने के लिए और उनका आशीर्वाद पाने के लिए नृत्य करते हैं, वे दानवों से अपनी रक्षा करने के लिए, रोगों, कष्टों तथा विपत्तियों को टालने के लिए नृत्य करते हैं। वे कष्ट सहन करने के लिए साहस की विनती करते हुए नृत्य करते हैं और जीवन के सुख-दुखों का सामना करने के लिए विवेक तथा सद्बुद्धि की प्रार्थना करते हैं। अपने परम्परागत नृत्यों द्वारा वे अपने भगवान का चिन्तन और उसका आवाहन करते हैं।

तराशकन

मैक्सिको के भीतरी अंचल में, झील फ्जकुआरो की सुनहली कछार पर 'तराशकन' नामक एक आदिवासी जाति निवास करती है। ये तराशकन बाहरी दुनिया से बिलकुल अनभिज्ञ हैं; पर इनकी शक्ति विशाल है। इन तराशकनों का इतिहास रहस्यपूर्ण है। इनके बारे में निम्न आख्यायिका प्रचलित है—"तराशकन बहुत पहले उत्तरी अमेरिका में निवास करते थे। बाद में उत्तरी अमेरिका को छोड़ कर जब वे मैक्सिको के दक्षिणी किनारे पर आ पहुँचे, तो उन्हें सुन्दर पक्षियों का एक झुंड दिखलाई पड़ा, जो बहुत ही मधुर स्वर में गा रहे थे। तराशकन लोगों ने इससे पहले इस तरह के जीवों को कभी देखा नहीं था। इस घटना को वे शकुन का लक्षण समझ कर मोहित हो गए। उनमें से कुछ ने सोचा कि ये अद्‌भुत पक्षी उनसे अपनी भाषा में कह रहे हैं कि वे जनजाति के देवों के दूत हैं और उनके देवों ने तराशकनों को हुक्म दिया है कि वे इसी स्थान में बस जायँ।" जो कुछ हो, ये तराशकन फिर यहीं बस गए। वहीं इनकी आबादी बढ़ी और ये फूलने-फलने लगे। सन् १५५२ में 'स्पैनिश आर्मडा' ने जब इस अंचल का भ्रमण किया, तो उसने पाया कि वहाँ करीब चालीस लाख तराशकन निवास करते हैं।

उस इलाके में उस समय 'कोर्टेस' के दूत सोने की खान की खोज कर रहे थे और वे किसी भी कीमत पर उसका पता लगाने पर तुले थे। उन्हें तराशकनों का मुकाबला भी करना पड़ा था। इस मुकाबले में विदेशियों को तराशकनों ने आश्चर्य में डाल दिया था—फिर एक बड़ी फौज की सहायता से आक्रमण-कारियों ने तराशकनों के राजा कलजोटिन को बन्दी बना लिया और कलजोटिन अपने दुश्मन के द्वारा बड़ी बेरहमी से मार डाला गया। उसके दूसरे योद्धाओं को भी कठिन यातनाएँ झेलनी पड़ीं। इस तरह की बर्बरता-पूर्ण व्यवहार से भयभीत हो, बाकी तराशकन उस अंचल से भाग निकले। उन्होंने पास की पहाड़ियों में या गुफाओं में शरण लिया। पीछे चलकर कुछ लोग अपनी पुरानी जगह पर आ भी गए; परन्तु अधिक संख्या में लोग 'सिरिया डी लॉस' की पहाड़ियों में ही बस गए—जहाँ आज मियोकाअन नामक नगर है। आज भी इनके वंशज वहाँ पाये जाते हैं।

ये तराशकन अपने पूर्वजों के साथ किए गए बर्बरतापूर्ण व्यवहारों का जब ख्याल करते हैं, तो वे एक बार काँप उठते हैं। और आज के जमाने में भी, दूरवर्ती नगरों में रहनेवाले तराशकन यूरोप निवासियों को

देखकर घृणा एवं उपेक्षा से मुँह फेर लेते हैं।

'स्पेनियार्ड प्रथम' के जमाने में, ये तराशकन दूसरे आदिम जातियों से काफी स्वस्थ एवं सुन्दर थे। मर्द एवं औरत दोनों की मुखाकृति शोभनीय होती थी। इनके यहाँ के मर्द मूँछ और दाढ़ी के शौकीन होते हैं। ये बड़े मेहनती होते हैं और कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं। कुछ तराशकन नील-रंगाई का काम भी करते हैं। नील के काम करने से इनका नाखून नीला हो जाता है—इसलिये इनके पड़ोसी इन्हें नीले अँगुलीवाले कह कर पुकारते हैं! इनका मन बुनाई के काम में खूब लगता है। बुनाई के काम के लिये ये कर्घा का व्यवहार करते हैं जो 'पत्थर-युग' का-सा होता है। फिर भी ये उसी से सुन्दर-सुन्दर शाल तैयार कर लेते और उन्हें रंग-बिरंगे फूल-पत्तियाँ, बेल-बूटों से भड़कदार बना लेते हैं—जो पक्का और देखने में दूसरे रंगों की अपेक्षा अधिक चमकदार होते हैं। कितने लोग मिट्टी के सुन्दर-सुन्दर वर्त्तन बनाकर उसी का व्यापार करते हैं। लेक पजकुआरो के निवासी स्वयं बढ़िया नाव तैयार कर लेते हैं। मछली मारने के लिए बढ़िया एवं मजबूत जाल ये स्वयं बुन लेते हैं।

तराशकन अपनी परम्परा के प्रबल पोषक हैं। राष्ट्रीयता से खास प्रभावित न होते हुए भी ये लोग क्रान्तिकारी शहीद 'जोस मारेलस' की जयन्ती बड़ी धूम से मनाते हैं, जो १८१५ में शहीद हुआ था।

आज युग कहाँ से कहाँ बढ़ गया है! आज का युग विज्ञान का युग कहा जाता है। फिर भी ये तराशकन इससे अछूते हैं। वे अपनी पुरानी प्रथा को छोड़ने के लिए तिल भर भी तैयार नहीं! उनके पूर्वज ताम्बा से परहेज करते थे। ताम्बे का इस्तेमाल ये किसी रूप में भी नहीं करते थे; क्योंकि वे ऐसा सोचते थे कि इससे उनका देव बिगड़ जायगा और नाश कर देगा। इस परम्परा को आज भी ये जुगाए हैं। इनके पूर्वज दूसरे धातुओं की कारीगरी में दक्ष थे। वे पत्थरों से सुन्दर-सुन्दर मकान बना लेते थे। सोना और चाँदी व्यवहार में लाते थे। कलापूर्ण कामों में वे बड़े ही माहिर होते थे; पर आज का तराशकन वैसी चीजें तैयार नहीं कर सकता। मैक्सिको के 'क्यूरियो शौप' में आज भी इन तराशकनों की कौतूहलजनक चीजें सर्वत्र देखने को मिलती हैं।

तराशकन अपना व्यापार आज दूर-दूर के नगरों में करता है। पहले तो व्यापारी अपनी पीठ पर ही सारा व्यापार ढोता था; पर आज खच्चरों पर अपना व्यापार करता है। काठ की चीजें, मिट्टी के वर्त्तन और सुन्दर पक्षियों का व्यापार ये करते हैं। व्यापार से लौटते समय अपनी जरूरत की चीजें ये खरीदकर (सूती वस्त्रादि) वापस लौटते हैं। जब ये फेरी करने निकलते हैं, तो लगातार महीनों तक इन्हें बाहर ही रह जाना पड़ता है। ये व्यापारी बड़े ही संतोषी होते

हैं। इनका सौदा ईमानदारी का होता है। व्यापार में थोड़ा मुनाफा हो जाने पर भी ये अपने को धन्य समझते हैं।

इनके यहाँ के मर्दों की कुछ अजीब-सी आदत है। ये मर्द, कहा जाता है,साल में सिर्फ एक ही बार स्नान करते हैं। जब सुबह उठते हैं तो एक विशेष प्रकार की गुली से (?) अपने हाथ-पाँव एवं चेहरे को साफ करते हैं। वे ऐसा इसलिये नहीं करते कि उनका स्वास्थ्य ठीक रहेगा; बल्कि यह (स्नान) एक किस्म का धार्मिक रिवाज है। ऐसा तो ये कर लेते हैं; पर यह रिवाज इन्हें पसन्द नहीं।

यद्यपि तराशकन बड़े ही गर्म स्वभाव के होते हैं और तुरत ही इनमें बदले की भावना हिलोरें लेने लगती है; फिर भी इनकी प्रकृति बड़ी मधुर होती है। ये संगीत के बड़े प्रेमी होते हैं। छोटे-छोटे गाँवों में भी एक प्रकार का बाजा (टोहिला) की भरमार होती है। इस जाति का वाद्य-संगीत बड़ा ही मधुर होता है।

इनके यहाँ एक विचित्र रीति है। जब कोई इनके यहाँ बीमार पड़ता है, तो ये विचित्र व्यवहार काम में लाते हैं। एक प्रथा है जिसे "अनट्वीसटींग" कहा जाता है। इस प्रथा के अनुसार एक पतली रस्सियों का गुच्छा, जो विभिन्न रंगों से रंगा होता है और जिसे बाँसुरी के समान बना लिया जाता है, रोगी के कमरे में लाया जाता है। इसके बाद रोगी के हाथ-पाँव बाँध दिये जाते हैं। फिर सिर से पैर तक उसी रस्सी से रोगी को मारा जाता है और कुछ मंत्र पढ़े जाते हैं।

हालाँकि आज तराशकन कैथोलिक-पंथी हैं, फिर भी ये काफी अन्धविश्वासी हैं। अपनी पुरानी रीति (जादू-टोना) पर पूर्ण आस्था रखते हैं। यहाँ के हरेक किसान के खेतों में दो या तीन "मोजकोट्स" गाड़े जाते हैं। इन्हें अन्न-रक्षक समझ कर ये इसकी पूजा-अर्चना करते हैं। इनका धर्म और त्योहार शिष्टतापूर्वक मनाया जाता है। इनके यहाँ धार्मिक अवसरों पर मेला लगता है। मेले के अवसर पर तराशकन अपने वंशजों की यादगार के रूप में ऐतिहासिक पोशाक पहनते हैं। इस समय का पोशाक जातीय हकों के प्रतीक से सज्जित होते हैं। इनमें से कुछ तो बेढंगे किस्म का वस्त्र व्यवहार करते हैं—अथवा 'स्पेनिश' समय के चिन्हित कवचों का व्यवहार करते हैं। इस समय प्रत्येक ग्रुप (पार्टी) के सर पर एक बक्सा रहता है, जिनमें उनके संतों की मूर्ति या दूसरा कुछ स्मृति-चिन्ह रखा रहता है। जब जुलूस गाँवों से गुजरता है, तब आस-पास, अलग-बगल के लोग उस बक्स को चूमने के लिये दौड़ पड़ते हैं और इस समय कितनी औरतें तो उत्तेजित हो गिर पड़ती हैं। इनके यहाँ एक दूसरा पर्व है—'फाइस्टा'। यह साल में बीसों बार मनाया जाता है, जो लगातार हफ्तों तक चलता है। इस समय किसी प्रकार का और कोई काम नहीं होता।

तराशकन ऐसा विश्वास करते हैं कि सूर्य आदि पिता हैं। सूर्य को तराशकन ऐसा कहते हैं कि हम जो झूठ बोलते हैं या अकर्म करते हैं उसका नित्य का व्योरा 'सूर्य-पिता' लिखते हैं। इसलिये कोई भी तराशकन सूर्य्यास्त के बाद किसी प्रकार का लेन-देन या दूसरा काम नहीं करते। वे ऐसा सोचते हैं कि सन्ध्या को सूर्य्य अदृश्य हो जाता है। और ऐसी स्थिति में किसी के साथ की बातों को सुन नहीं सकता। जब किसी प्रकार का

लेन-देन या कोई खास बात होने को होती है ये दिन में ही करते हैं।

जादू-टोना पर ये आदिवासी पूरा जोर देते हैं—ऐसा मानते हैं कि खास तराशकन लोगों को रहस्य-दान प्राप्त होता है।

दूसरे आदिवासियों-सा ये कभी दासता आदि नहीं बरतते हैं। ये आज भी विदेशियों को अविश्वासी समझते हैं। विदेशियों से जहाँ तक सम्भव है, कम सम्पर्क रखने की चेष्टा में ये रहते हैं। विदेशियों से ये लोग अपने बच्चों को छुपा कर रखते हैं; क्योंकि उन्हें डर बना रहता है, कि विदेशियों की नजर कहीं उनके बच्चों पर न लग जाय। जहाँ बच्चा बीमार पड़ा, ये तराशकन समझ जाते हैं कि इसे विदेशियों की कड़ी नजर लग गई है। और इससे बचने के लिए लाल रंग का पंख या कोई दूसरा आभूषण बच्चों को पहनाते हैं या कभी-कभी बच्चों के बालों में बाँध देते हैं। बच्चों की धुड्डी में लाल रंग का डोरा बाँध दिया जाता है। ऐसा करने से नजर नहीं लगती, ऐसा ये आदिवासी मानते हैं।

इन तराशकनों की दूसरी शाखावालों का धर्म के विषय में बड़ी ही आश्चर्यजनक धारणा है। कुछ लोग संत मेथ्यों (मैथ्यू) को अपना प्रतिपोषक संत मानने हैं। ये मौसम और फसल के मालिक माने जाते हैं। फसल अच्छी हो, इसलिए ये लोग उनकी पूजा करते हैं; शराब और दूसरे सुगन्धित पदार्थ चढ़ाते हैं। लेकिन कहीं यदि इसके विपरीत, पाला पड़ जाय या फसल न हो, तो ये उस मूर्ति को उठाकर चर्च से अलग कर देते हैं और फिर उसे पानी में डुबो देते हैं!

पहले के तराशकन लोगों की पोशाक अजीब थी; लेकिन आजकल ये मैक्सिको के गाँवों के लोगों-सा वस्त्र व्यवहार करने लग गए हैं। फिर भी किनारे की बसी तराशकन स्त्रियों ने पुरानी वस्त्र-व्यवस्था कायम रखीं हैं। शाल और बड़ा-सा साया जो वजन में करीब २० पौन्ड होता है, आज भी ये कमर में बाँधती हैं। इनके यहाँ की नारियाँ आभूषण की बड़े ही शौकीन होती हैं। नकली धातु के आभूषण तथा मूँगों की माला ये गले में पहनती हैं। जब इनके यहाँ का व्यापारी व्यापार करके घर लौटता है, तो उस समय स्त्रियों के सौन्दर्य्य की चीजें उसकी मोटरी में अवश्य बंधी रहती हैं।

आज भी ये ऐसी जगह पर रहते हैं, जहाँ न रेल और न मोटर ही पहुँच पाती है। इन तराशकनों के देशों का यदि कोई भ्रमण करना चाहे तो उसे पैदल या घोड़े पर जाना होगा। घोड़े की पीठ पर बैठ कर, अगम पहाड़ियों को लाँघ कर यदि उनकी बस्ती में आप पहुँच जाँय, तो वे आपको देख कर कदापि खुश नहीं होंगे। फिर भी वे आदर-पूर्वक आपका स्वागत करेंगे।—'आदिवासी'

चाँद और नारियों के लोक में

इस पृथ्वी के अभी कितने ऐसे भू-भाग हैं, जिन से हमारी सभ्यता का अभी कोई परिचय नहीं हुआ है। परिचय की तो बात दूर, अभी तक एक दूसरे का ज्ञान भी नहीं है कि वे भी हैं अथवा नहीं। हाँ, जब कभी कोई भूला-भटका कहीं पहुँच जाता है और कोई नयी जमीन, कोई नयी आबादी और नये लोग मिल जाते हैं, तो वह अकचका कर कह बैठता है—यहाँ भी लोग बसते हैं! यहाँ भी इन्सानों की आबादी है। ठीक, यही बात न्यू गिनी के साथ हुई।

अस्ट्रेलिया के उत्तर में न्यू गिनी का टापू है। न्यू गिनी कोई १,५०० मील में फैली है। इस टापू में हजारों वर्ष के जंगल, लावों के पहाड़ और दलदल जमीन हैं। पता नहीं कि यहाँ की आबादी कितनी है। श्वेतांगों को इस ओर आकृष्ट करनेवाली उनकी धन-लोलुपता थी। अस्ट्रेलिया से वे वहाँ सोने की खान की खोज में निकला करते थे। इसी खोज के अन्तर्गत जो भी उनके सामने आया, उससे उनलोगों ने दुनिया को अवगत कराया। उन्हें इतनी बड़ी-बड़ी वहाँ सोने की खानें मिली हैं कि खानों के इतिहास में उनका एक अपना महत्त्व है। यातायात की समस्या उन्हों ने हवाई जहाज से हल कर डाली। हवाई जहाज ही उस अंधकारमय प्रदेश और आज की आधुनिक सभ्यता के बीच संबंध जोड़ सका। डच-न्यू-गिनी की सरहद के बाहर अभी भी ऐसे दुर्भेद्य क्षेत्र हैं, जहाँ कहा जाता है आदम की सृष्टि से आज तक वहाँ कोई भी नहीं प्रवेश कर सका है। इन भयानक खूंखार जातियों की एक अपनी निजी सभ्यता है जिसे मूल-रूप से अमानवी ही कह सकते हैं। पर ठीक इसके विपरीत औरेंज की बर्फीली पहाड़ियों और उनकी तराइयों में कतिपय ऐसी जातियाँ पल रही हैं जो अन्य दृष्टिकोणों से पिछड़ी रहकर भी आज हमसे कतिपय क्षेत्रों में अग्रसर हैं।

सन् १९३८ की बात है। श्री रिचार्ड आर्कबाल्ड के नेतृत्व में एक खोज-दल उस प्रदेश में गया। औरेंज की बर्फीली ऊँचाइयों को पार करता हुआ वह चौदह हजार फीट पर जाकर रुका। इस ऊँचाई पर एक तराई लहरा रही है, जिसकी लम्बाई कोई तेरह मील की है। इसकी पूरी लम्बाई को निगलती हुई बालिम की नदी एक छोर से शुरू हो दूसरी छोर पर जाकर दक्षिण दिशा में लुप्त हो जाती है। पूरी तराई में खेती-बारी होती है। वहाँ अच्छे-अच्छे खेत, खलिहान, नाले आदि बनाये गये हैं। इनके घर छोटे-छोटे कोणात्मक होते हैं और उन पर केले के पत्तों

का छाजन होता है। एक आश्चर्यजनक बात यह है कि गाँव के सभी मकान एक दूसरे से मिले होते हैं। इनके बीच-बीच में छाये हुए प्रवेश-द्वार होते हैं और ये इस तरह होते हैं कि आप एक छोर पर प्रवेश कर दूसरी छोर पर निकल जायँ।

बालिम की नदी के दोनों ओर भिन्न-भिन्न जातियाँ बसती हैं। अपनी जाति की रक्षा के लिए नदी के किनारे-किनारे ऊँचे-ऊँचे मचान बनाये गये हैं, जिन पर उनके चौकीदार सदैव अपनी चौकसी प्रदर्शित करते रहते हैं। बालिम नदी ही इन दलों के बीच सीमान्त-रेखा बन कर बहती है। इसी तराई में घूमते-घूमते श्री आर्कबाल्ड और उनके दल को एक ऐसा पुल मिला जिसमें कोई स्तंभ या सहारा नहीं था। इसकी लंबाई कोई डेढ़ सौ फीट की थी और जो बालिम की लहरियों से अनछूति आज के आधुनिक विज्ञान पर शायद कटाक्ष कर रही थी। इन लोगों का कहना है कि उन क्षेत्र के लोगों का व्यवहार इधर के लोगों के प्रति प्रायः उदासीन ही रहता है। आज भी उधर मानव-हत्या होती है और दानवी-शिष्टाचार बरते जाते हैं। उनकी विभिन्न जातियों में प्रायः विरोध ही रहता है। भाषा की अनभिज्ञता के कारण इस दल की बहुत ही कम जानकारी हो सकी।

फिर भी उनके सामाजिक जीवन के विषय में इतना पता लग सका कि उनके भी अपने सामाजिक नियम और अपवाद हैं, जो बहुत कुछ हमसे मिलते-जुलते हुए भी भिन्न हैं। उनके यहाँ नियमपूर्वक अदालतें बैठती हैं, मुकदमे चलाये जाते हैं, वादी-प्रतिवादी के बयान सुने जाते हैं और उन पर न्यायाधीश के फैसले होते हैं। गाँव का सर्वशक्तिशाली पुरुष वहाँ का मुखिया होता है। मुखिया वही होता है जो गाँव के चुनाव में सफल हो। यह खोज-दल अभी वहाँ और खोजें करता, पर द्वितीय महायुद्ध के छिड़ने के कारण और जापानियों के कब्जे में चले जाने के कारण खोज कार्य को स्थगित कर देना पड़ा।

यह तो एक क्षेत्र की बात रही। ऐसे-ऐसे क्षेत्र तो न जाने वहाँ कितने हैं। मेरौफी के सीमान्त नगर और हिमानी पवर्तों की उपत्यका के बीच की आबादियों के विषय में बहुत-सी रोमांचकारी कहानियाँ प्रचलित हैं। एक ऐसी कहानी इधर प्रचलित है जो आकर्षक और आश्चर्यमय तो है ही, साथ-साथ रोमाँचकारी भी है। एक ऐसी तराई है जहां केवल नारियाँ ही रहती हैं। वहाँ की शासिका भी नारी है, जो रानी कहलाती है। पुरुष यहाँ उपेक्षित हैं और उनसे ये नारियाँ घृणा करती हैं। उतने ही पुरुष वहाँ रखे गये है जिनसे मानव-जाति की परम्परा कायम रहे। उन्हें भी खोहों और गुफाओं में बंदी बनाकर रखा जाता है।

एक समय की बात है कि कुछ शिकारी एक विशेष तरह के पक्षियों के शिकार में बाहर निकल गये। घूमते-घूमते रात हो गयी और वे एक ऐसी जगह पर पहुँचे, जहाँ

से एक तराई दृष्टिगोचर हो रही थी। उस समय सूर्य पूर्णरूपेण डूब चुका था। कालिमा चारों ओर फैल गयी थी। आसमान में चाँद भी नजर नहीं आ रहा था। पर उस विशेष तराई में—जिसे वे, 'नारियों की तराई' कह कर पुकारते थे—सैकड़ों चाँद तैरते नजर आ रहे थे। और तराई में सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश था। सुबह होने तक ये चाँद वैसे ही चमकते रहे पर सूर्य के उत्तरोत्तर प्रकाश के साथ-साथ उनका प्रकाश क्षीण होता गया। अभी तक कोई भी यूरोपवासी इस क्षेत्र में नहीं गया था। पर एक पोर्तुगीज व्यापारी, जो वहाँ के आदिवासियों के साथ नमक, कुत्तों के दाँत, आदि का व्यापार करता है, वहाँ के को-को लोगों के साथ शिकार करते वहां तक पहुँचा। उसने उन को-को लोगों से वहां चलने को कहा, पर वे भयभीत हो गये और नहीं गये। उनका कहना था कि कितने ही उनके आत्मीय और संबंधी वहां गये और फिर नहीं लौटे। पर वह दृढ़-प्रतिज्ञ था। वह वहां तक गया और एक पहाड़ी-कोने में जाकर छिप गया। वहां एक दरार थी और उसी दरार से वह उस तराई को देख सका। वहां एक बड़ी तराई थी। तराई में खेती और सिंचाई होती थी। सिंचाई के लिए जल का बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध था। पानी एक ओर से बहकर दूसरी ओर जाता था और वहां से घूमता एक नाले में मिल जाता था। खेतों में औरतें जमीन कोड़ रही थीं, निरा रही थीं, पटा रही थीं। खलिहानों से अन्न के बड़े-बड़े बोझों को अपने गृहों तक वे पहुँचा रही थीं। और इसी तरह नाना प्रकार के काम वे वहां कर रही थीं।

तराई में जाने के लिये लत्तरों की सीढ़ियाँ बनी थीं, जिनसे आदमी नीचे जा सकता था। तराई में नीचे उसने सैकड़ों ऐसे पाषाणी स्तंभ देखे, जिन पर इतने बड़े-बड़े पत्थर के गोले बने थे जिनका व्यास बारह फीट का था। इन पाषाणी-गोलों को देख कर उसे किंचित् आश्चर्य हुआ। इतने ही में सूरज बादलों की ओट में हो गया और तराई में छाँह फैल गयी। छाँह फैलते ही वे पत्थर के गोले प्रदीप्त हो उठे। बादलों के हट जाने के बाद, सूर्य का प्रकाश पुनः प्रखर हो उठा और उन गोलों की दीप्ति भी कुम्हला गयी। जितनी देर वह पोर्तुगीज वहाँ रहा, एक भी पुरुष उसे नहीं दिखाई दिया। नारियाँ वहाँ पूर्णरूपेण नंगी होती हैं। को-को नारियाँ या अन्य जातियों की नारियाँ तो घास-फूस आदि से अपने शरीर को ढँक भी लेती हैं, पर इन नारियों को तो किसी भी प्रकार का आवरण अपेक्षित नहीं। तब रात हो चली थी। और वे पाषाणी-गोले भी प्रदीप्त हो उठे थे। वह व्यापारी वहाँ से चला गया और उन शिकारियों के साथ नीचे मिल गया। यही कहानी उस पोर्तुगीज व्यापारी ने एक दूसरे आदमी से सुनायी। उसने केवल इस तथ्य पर अपना विश्वास ही नहीं प्रकट किया, वरन् उसने जो

'अमृत' के नियम

❋ 'अमृत' प्रतिमास प्रकाशित होगा।

❋ इस का वार्षिक मूल्य ५) और एक प्रति का आठ आना है।

❋ पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या लिखने की कृपा करें।

❋ 'अमृत' में जन-जीवन, विशेषत: हरिजनों, आदिवासियों तथा अन्य उपेक्षित वर्गों के कल्याण-संबंधी स्वस्थ एवं सुरुचिपूर्ण रचनाओं का विशेष स्थान होगा। यह रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की व्यावहारिक कठिनाइयों तथा उनके निराकरण सम्बन्धी सुझावों का स्वागत करेगा।

❋ 'अमृत' में अश्लील तथा भद्दे विज्ञापन नहीं लिए जायेंगे।

भारत के प्रत्येक कोने में एजेन्टों की आवश्यकता है। एजेंसी के नियम के लिए मैनेजर, 'अमृत', बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना-४ को लिखें।

तार :—'सेवकसंघ' पटना
फोन :—२१४६ पटना

रजिस्टर्ड न० पी० ७६१

बापा की पुण्य-स्मृति में—

अमृत

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

(बिहार सरकार द्वारा स्वीकृत)

शराब बन्दी

शराब की बुराई से हमारी शारीरिक और आर्थिक हालत बिगड़ गई है। हमारा देश ऐसा ठंडा भी नहीं है कि उसे शराब की जरूरत हो। शराबी को नीति का तो ध्यान ही नहीं रहता। शराब जारी रही तो हमारे देश की आध्यात्मिकता का तो लोप ही हो जायगा। और तब तो गीता में कहे अनुसार स्मृति-भ्रम से ज्ञान का नाश होगा; और जिसके ज्ञान का नाश हुआ, वह मृत जैसा ही है।

—महात्मा गांधी

प्रकाशक—श्री[illegible] नारायण सिंह, मंत्री, [illegible] हरिजन सेवक संघ, पटना
मुद्रक—वैशाली प्रेस, [illegible]

अमृत

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

वर्ष – एक | जुलाई, १६५२ | अंक – बारह

१८-७-५२

सम्पादक
नगेन्द्रनारायणसिंह
गिरीन्द्रनारायण, मोहिनीमोहन

वार्षिक – ५)

एक प्रति – ।।)

इस अंक के लेख और लेखक

* * *

वर्ष
एक

अंक
बारह

पटना, जुलाई १९५२

'अमृत'

'अमृत' के इस अंक के साथ उसके प्रथम वर्ष की समाप्ति पर हमें संतोष है, कि कोई बाधा विशेष हमारे पथ का काँटा नहीं बनी और हम आगे बढ़ते ही रहे। वैसे दिक्कतें आईं, गईं, आगे नजर भी आ रही हैं, लेकिन हम उनसे भयभीत नहीं, न किसी को होना चाहिए।

'अमृत' को अपने मन लायक नहीं बना सकने की अपनी विवशता पर हमें तरस है! न जाने कितने कारण हैं कि इसे और भी उपयोगी हम नहीं बना सके। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की कठिनाइयों से जो अवगत हैं, उनसे कोई बात छिपी नहीं है। जो इन कठिनाइयों की पूरी जानकारी नहीं रखते, इस दुःखद प्रसंग का बोझ उन पर लादना हमारा अभीष्ट नहीं।

एक कठिनाई की शिकायत है, कि विचारों के धनी श्रम-दान करने से झिझकते नजर आ रहे हैं। दुःख है, कि वे यह सोचने से इन्कार-सा कर रहे हैं कि देश के दुर्भाग्य से वह समय अभी नहीं आया जब त्याग की भावना से काम करने की जरूरत नहीं हो, या, दान के महत्त्व की परम्परा अपनी मान्यता खो बैठी हो। वे यह भी भूल रहे हैं कि त्याग के शब्दों में ही वह बल निहित होता है जिससे लोक-कल्याण संभव हो। इनके निःस्वार्थ योग-दान के अभाव में 'अमृत' जैसे पत्रों का पनपना-बढ़ना बहुत कठिन होगा यह तो स्पष्ट ही है।

बिहार सरकार के कल्याण, शिक्षा और जन-सम्पर्क विभागों के सहयोग को हम भूल नहीं सकते। वह उनकी सहायता ही है जिसके कारण हम 'अमृत' को इस रूप में चला सके।

जो हो, सेवा का हमारा संकल्प अडिग है, अमृत तो निमित्त मात्र है। हमें ईश्वर का भरोसा है; सेवा के इस माध्यम को और भी उपयोगी बनाने में वह हमारा साथ दे!

—सम्पादक

नगेन्द्र नारायण सिंह

आदिवासियों की समस्या

पिछले महीने (जून, १९५२) की ७,८, ९ तारीख को दिल्ली के पार्लमेन्ट भवन (संसद) में आदिवासियों की समस्याओं पर विचार करने के लिए जो सम्मेलन हुआ था वह पूरी तरह सफल हुआ ऐसा निःसंकोच कहा जा सकता है। सम्मेलन में केन्द्रीय सरकार के मंत्रीगण, कतिपय राज्यों के मंत्री, सामाजिक कार्यकर्त्ता, नृशास्त्रविद्, आदिवासियों के संसदीय प्रतिनिधि तथा आदिवासियों में कल्याण-कार्य करनेवाले सेवक और राज्यकर्मचारी उपस्थित थे। अपने ढंग का यह पहला ही सम्मेलन था जो इस स्तर और पैमाने पर हुआ और इसकी सूक्ष तथा सफल आयोजन का श्रेय भारत-सरकार के अनुसूचित जन-जातियों तथा पिछड़ी जातियों के कमिश्नर श्री एल० एम० श्रीकांत को ही दिया जा सकता है।

सम्मेलन के सभापति थे भारत-सरकार के गृह-मंत्री डा० कैलाशनाथ काटजू तथा उसका उद्घाटन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने किया। प्रधान-मंत्री श्री पं० जवाहर लाल नेहरू तथा श्री० एल० एम० श्रीकान्त के अलावा अन्य प्रायः ४५ प्रतिनिधियों के भाषण हुए जिनमें कई अत्यन्त सारगर्भित थे। प्रस्ताव पास नहीं किये गए, लेकिन विचार विनिमय से जन-मत को जानने में सुविधा हुई और सम्मेलन में व्यक्त विचारों से, उम्मीद की जाती है, सरकारी नीति निर्णय और उसे कार्यान्वित करने में पूरी सहायता मिलेगी।

राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद

सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने जो भाषण दिया उसमें उनके व्यापक दृष्टिकोण तथा विशाल-हृदयता की स्पष्ट छाप थी। उन्होंने कहा कि भारत के संविधान ने देश की सरकार का यह अनिवार्य कर्तव्य विहित कर दिया है कि वह जन-जातियों की समस्या पर विशिष्ट ध्यान दे। अपने इस अनिवार्य कर्तव्य के पालन के लिये सरकार ने इस कार्य की देख-भाल करने के लिये एक विशिष्ट पदाधिकारी नियुक्त किया है। आप सब लोग श्री लक्ष्मीदास श्रीकान्त को जानते हैं। जन-जातियों के हितार्थ कार्य करना उनके जीवन का मिशन है और अब तक रहा है। किन्तु यह समस्या इतनी उलझी हुई और जटिल है कि इसके लिये अनेक विचारवानों के सहयोग की आवश्यकता है।

आगे चलकर राष्ट्रपति ने कहा कि अनुसूचित जन-जातियों के नाम से ज्ञात लोगों की भारत में काफी आबादी है। उनकी संख्या लगभग २ करोड़ है। वे समस्त देश

में फैले हुए हैं, किन्तु उनकी आबादी का बड़ा भाग आसाम विहार, बम्बई, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, पश्चिमी बंगाल, मध्यभारत, मद्रास और राजस्थान में ही है। उनसे संबंधित समस्यायें अनेक हैं जिनका सहानुभूतिपूर्ण और समझ-बूझ से हल करना आवश्यक है।

आदिवासियों की उन्नति और प्रगति के विषय में बोलते हुए राष्ट्रपति ने कहा, एक बात तो मान लेनी ही है कि धर्म, भाषा, रहन-सहन, अथवा रीति-रिवाजों की दृष्टि से उन पर किसी चीज को लादने का विचार या अभिप्राय न तो हो सकता है और न होना ही चाहिय। यह उस अवस्था में भी जब कि हमारी यह भावना हो कि जिस धर्म या जीवन की रीति-नीति को हम उन्हें देना चाहते हैं वह उनके अपने धर्म, और रीति-नीति से अच्छी है। यह बात बिल्कुल न्यायसंगत नहीं हो सकती है कि उनकी इच्छा के विरुद्ध हम कोई चीज उन पर लादें। मेरा अपना विचार है कि उनकी शिक्षा के लिये और उनके आर्थिक जीवन में साधारण दृष्टि से सुधार के लिये हमें उन्हें सुविधायें प्रदान करनी चाहिये और यह बात उन पर छोड़ देनी चाहिये कि वे अपने चारों ओर के समाज से घुलमिल जाना, आत्मसात् हो जाना चाहते हैं अथवा अपना अलग जन-जातीय अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं। मेरा व्यक्तिगत विचार यह है कि किसी विशिष्ट वर्ग, धर्म अथवा अन्य समूह में उन्हें मिला लेने के किसी भी विचार से प्रभावित न होकर उनकी सेवा की जाये। इसी रीति से हम उनके विश्वासपात्र बन सकते हैं और यह तो आवश्यक ही है कि उनके जीवनस्तर के ऊँचा करने के लिये और शिक्षा की दृष्टि से उनमें सुधार करने के लिये सर्वप्रथम उनका विश्वास प्राप्त किया जाये।

संविधान के अनुसार जन-जातियों की देखभाल और सहायता के विषय में विचार करते हुए पूज्य राजेन्द्र बाबू ने उनकी शिक्षा-दीक्षा के संबंध में कहा मेरा यह अपना खयाल है कि अन्य बालकों की तरह ही जन-जातियों के बालकों को भी अपने को दो लिपियों से परिचित करना होगा। एक तो उस भाषा की लिपि होगी जो उनके चारों ओर बोली जाती है और दूसरी हिन्दी लिपि होगी। संविधान के अनुसार भारत की लिपि हिन्दी होने वाली है। संभवतः यह वांछनीय होगा कि सब जन-जातियों की भाषा के लिये हिन्दी लिपि ही को अपना लिया जाये, क्योंकि हर हालत में जन-जाति लोगों को हिन्दी तो किसी न किसी अवस्था में अखिल भारतीय प्रयोजनों के लिये सीखनी ही होगी और उनकी अपनी किसी लिपि के अभाव में यह कहीं बेहतर है कि उनकी भाषा उस लिपि को अपनाये जो वास्तव में आज भी देश की सर्वाधिक व्यापक लिपि है। मेरा यह भी विचार है कि बुनियादी तालीम उनके लिये बहुत उपयुक्त होगी और जहां कहीं भी शिक्षा का कोई कार्यक्रम आरम्भ किया जाना है वहाँ यह

बहुत बेहतर होगा कि वह बुनियादी तालीम के कार्यक्रम से आरम्भ किया जाये। उनमें से गरीब लोगों को इन शिक्षा संस्थाओं से लाभ उठाने के लिये समर्थ बनाने के लिये यह उचित है कि उनको न केवल निःशुल्क शिक्षा दी जाये और किताबें ही बिना मूल्य दी जायें वरन् यह भी आवश्यक है कि उन्हें छात्रावासों में भी स्थान दिये जायें और जहां तक देश के वित्तीय साधनों के अन्दर सम्भव हो बड़ी तादाद में उनको छात्रवृत्तियां दी जायें क्योंकि इस क्षेत्र में भी उनको अभी बहुत कुछ कमी पूरी करनी है।

उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने के संबंध में उन्होंने कहा—ऐसी अनेक जन-जातियां हैं जो स्थायी कृषि में अब तक नहीं लगी हैं और जो दहिया कृषि कर लेती हैं। इस बात का प्रयास करना चाहिये कि उन्हें जमीन पर बसा दिया जाये और दहिया खेती को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिये। इस के लिये केवल उन्हें प्रोत्साहन देना ही पर्याप्त न होगा बल्कि प्रमाण की भी आवश्यकता होगी कि जिससे वे लोग यह देख सकें कि सब बातों को ध्यान में रख कर यह प्रत्यक्ष है कि अपेक्षाकृत स्थायी कृषि ही अधिक लाभ-दायक हो सकती है। वैत्तिक और अन्य लाभकारी आवश्यक सहायता देकर उनको इस प्रकार के स्थायी जीवन में लगने के लिये तैयार करने की कोशिश करनी चाहिये।

सरकार को लोक सेवाओं में उन्हें नौकरी देने के लिये कदम उठाना चाहिये, ऐसा करना न्याय संगत होगा। उन्होंने आगे चलकर कहा कि उनकी कलात्मक अभिरुचि और उनकी स्वाभाविक क्षमता से लाभ उठाकर राज्य को उन्हें ऐसे धन्धों में लगाकर प्रोत्साहन देना चाहिये जो उनके लायक हों। यदि प्रशिक्षा और प्रोत्साहन उन्हें दिया गया तो कोई कारण नहीं है कि वे अन्य लोगों से किसी धन्धे में क्यों पीछे रहें।

सामाजिक और अन्य समस्याओं को हल करने के विषय में पूज्य बाबू ने कहा कि उनके अपने जन-जातीय संगठन हैं। इन संगठनों को इस बात के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिये कि वे विभिन्न राज्यों द्वारा शुरू और पोषित की जाने वाली पंचायतों के साथ कदम-ब-कदम चलें। मेरा विचार है कि ऐसा करने के लिये उनको प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये।

अंत में राष्ट्रपति ने कहा कि ऐसे प्रयत्न करने चाहियें जिनसे जन-जातियों के मन में यह भावना हो कि वे राष्ट्र के आवश्यक और अविच्छिन्न अंग हैं और देश के किसी भी अन्य समुदाय या वर्ग की तरह ही उनको भी अपना पार्ट अदा करना है।

श्री जवाहरलाल नेहरू

प्रधान-मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने ओजस्वी भाषण में आदिवासियों के गुणों की प्रशंसा करते हुए हमजोली मानकर उनको अपनाये जाने की इच्छा प्रकट की। आप ने कहा कि आदिवासियों में मुझे ऐसी चीजें मिलती हैं जो भारत के अन्य भागों में

रहने वालों में नहीं मिलती। और यही कारण है कि मैं इनके प्रति इतना आकर्षित रहा हूँ।

आगे चलकर नेहरूजी ने कहा कि देश में स्वातंत्र्य-संग्राम में हम लोग अर्द्ध-शताब्दि या इससे भी अधिक तक संलग्न रहे जिसके फलस्वरूप हमें यह स्वतंत्रता प्राप्त हुई। निष्कर्ष की बात को आप छोड़ भी दें तो उस संग्राम की प्रवृत्ति ही कुछ मुक्तिदायिनी रही। इसने हमें उन्नत किया और हम विकास कर सके। यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि भारत के लाखों करोड़ों व्यक्तियों के इस अनुभव से कबायली क्षेत्रों के आदिवासी सदा वंचित रहे। भारत के केंद्रीय-भागों के आदिवासी तो थोड़ा बहुत इससे प्रभावित हो भी सके पर आसाम जैसे सीमाँत-क्षेत्रों के आदिवासी इससे पूर्णरूपेण अछूते रहे और प्रभाव अगर कहीं पड़ा भी तो उसकी मात्रा कुछ अधिक नहीं थी। इसका कारण यह तो रहा है कि उनके क्षेत्र भारत के और भागों से असंबंधित थे पर इसके अतिरिक्त भी और कई कारण थे।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद एकता और संगठन भारत की मौलिक समस्या रही है। राजनैतिक-संगठन तो हो चुका है, पर वही सब कुछ नहीं है। राजनैतिक संगठन से भी अधिक महत्वपूर्ण हमलोगों को कुछ करना है और उस प्रक्रिया में कुछ समय लगेगा ही। यह कोई कानून की चीज नहीं है। वह तो स्वयं उत्पन्न होता है। आप उसे किसी पर जबर्दस्ती लाद नहीं सकते। ठीक जैसे आप किसी पौधे या फल-फूल को जबर्दस्ती उपजा नहीं सकते, उसके लिए तो आपको वैसी अनुकूल परिस्थिति निर्माण करनी पड़ती है। इसलिए मानसिक एकता और संगठन ही भारत की सबसे बड़ी समस्या है, जिसके द्वारा एक ऐसी एकसूत्रता और सामंजस्य का निर्माण करना होगा जो जाति-वाद, संप्रदायवाद तथा अन्य ऐसे अन्तर डालने वाले वादों को समूल नष्ट कर देगा। अतः हमलोगों को उनके पास मुक्ति-दूतों की तरह, एक मित्र की तरह, बंधुत्व की भावना लेकर जाना चाहिए। उनमें ऐसा विश्वास उत्पन्न करना चाहिए कि वे कभी यह नहीं समझें कि आप उनसे कुछ लेने या छीनने जा रहे हैं, बल्कि यह विश्वास पैदा करें कि आप उनको कुछ देंगे ही। वास्तविक संगठन यही होगा। अगर आप उनके हृदय में ऐसी भावना उत्पन्न कर देंगे कि आप उनपर हावी होने गये हैं, या उनकी रीति-रिवाजों में दखल देने गये हैं या उनकी जमीन हड़पने गये हैं या अपने व्यापारियों से उन्हें शोषित कराने गये हैं, तो एकता और सामंजस्य और संगठन दूर की चीज होगी। वह दृष्टिकोण ही गलत होगा। ऐसा संगठन न हो, वही श्रेयस्कर है।

श्री कैलाशनाथ काटजू

गृह-मंत्री डा० कैलाशनाथ काटजू ने बहुत ही सरल शब्दों में अपने विचारों को प्रकट किया। आपके भाषण

का श्रोताओं पर बहुत प्रभाव पड़ा। आपने कहा कि आदिवासियों के बीच गैर सरकारी संस्थायें सरकारी संस्थाओं की अपेक्षा अधिक काम कर सकती हैं। जो केंद्रीय-प्रशासित क्षेत्र हैं उन्हें छोड़कर आदिवासी-कल्याण का उत्तरदायित्व तो राज्य-सरकारों पर आ जाता है। केंद्र की सरकार केवल उन्हें आर्थिक-सहायता या अपना विचार ही दे सकती है। कबायली-क्षेत्रों में मिशनरियों ने अच्छे काम किए हैं। उन्होंने आशा प्रकट की कि स्वतंत्र भारत में वे इस प्रकार हजारों लाखों भारतीयों को आदिवासियों के बीच बसाने में सफलता प्राप्त करेंगे, जो उनमें जाकर पूर्ण रूपेण घुल-मिल जायेंगे। गृह मंत्री ने आगे चलकर कहा कि गैर आदिवासियों को आदिवासियों से बहुत कुछ सीखना है। उन्होंने कहा कि आदिवासियों के घर या आंगन बहुत साफ-सुथरे और सुंदर रहते हैं। दो हजार वर्षों से इन्होंने स्वतंत्र जीवन बिताया है। इनके ऐसा सत्य-प्रिय शायद ही कोई हो। इनकी सभी चीजें वास्तव में ग्रहणीय हैं। आगे चलकर आपने आदिवासियों के बीच काम करने वालों की मांग की और कहा कि रुपये तो मिलेंगे ही पहले काम करने वाले तो आगे आयें। आदिवासियों में काम करने वाली संस्थाओं के गैर राजनैतिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए आपने कहा कि यह काम राजनैतिक संस्थाएं या सरकारी महकमों से नहीं होने का। इसे गैर सरकारी तथा गैर-राजनैतिक संस्थाएं ही कर सकती हैं।

श्री एल० एम० श्रीकान्त

अन्त में श्री एल० एम० श्रीकान्त ने अपने भाषण में इस पर काफी जोर दिया कि आदिवासियों के मामलों में किसी प्रकार की जोर-जबर्दस्ती से काम नहीं लिया जाय। उन्होंने यह भी कहा कि प्रदेशों के एक दूसरे में आत्मसात होने की नहीं, लोगों के मनोवैज्ञानिक मेल-जोल की आज आवश्यकता है कि देश से विभेद दूर हों जो लोगों को एक दूसरे से अलग करने में समर्थ हैं। शिक्षा के संबंध में बोलते हुए श्रीकान्तजी ने कहा कि सम्मेलन में बहुमत विचार बुनियादी तालीम या ट्रेन्ड शिक्षकों के अभाव में ऐसी शिक्षा के पक्ष में था, जिसमें पढ़ाई के साथ कुछ न कुछ हस्त-कौशल अवश्य सिखाये जायँ। भाषा के संबंध में आप ने कहा कि यह उनकी अपनी जबान में ही हो जिसे बर्दाश्त ही नहीं किया जाय बल्कि प्रोत्साहन भी दिया जाय। लिपि के संबंध में आपने कहा कि यह प्रदेशीय हो या देवनागरी जहाँ जो संभव हो। आदिवासियों की माली हालत के बारे में बोलते हुए आपने कहा कि उनके आज यहाँ, कल वहाँ वाली खेती के विरोध में काफी जन-मत है इसलिए प्रेम से उन्हें समझाना चाहिए और परती जमीन की व्यवस्था कर उन्हें स्थाई खेती की ओर प्रेरित करना चाहिए। भोले-भाले आदिवासियों को बीचवानों के शोषण से बचाने के लिए सहयोग समितियों के संगठन की आवश्यकता बतलाते हुए श्रीकान्तजी ने आगे चलकर कहा कि जहाँ तक सरकारी सहायता का संबंध है इन कामों के लिए सरकार से काफी धन मिलना चाहिए और इन कामों को और कामों से प्रधानता देनी चाहिए। इस साल केन्द्रीय बजट में यह रकम बढ़ाकर दो करोड़ हो भी गई है। इन्हें खर्चने के सिलसिले में गैर सरकारी संस्थायों के प्रति अपने भाव व्यक्त करते हुये

आपने कहा कि इन्हें अधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिये तथा इन संस्थाओं द्वारा प्रचारित योजनाओं पर होने वाले खर्च के रकम में ८० तथा २० प्रतिशत के पैमाने पर सरकार तथा गान्धी स्मारक निधि दे।

हर चीज की खूबी और खराबी होती है। इस सम्मेलन की खूबी थी इसके आयोजन में कम-से-कम खर्च। पण्डाल संसद भवन था उसमें कोई खर्च नहीं। सरकारी प्रतिनिधि अपनी-अपनी सरकार के पैसे से आये थे; संस्थाओं के प्रतिनिधि संस्थाओं के पैसे से और कुछ विशेष आमन्त्रितों में शायद २०-२५ को ही सिर्फ रेल भाड़ा सम्मेलन की ओर से दिये गए। वह भी इन्टर क्लास का। हाँ, दो चार को ही दूसरी श्रेणी का। प्रतिनिधियों के ठहरने की व्यवस्था थी या तो हरिजन आश्रम में या दिल्ली विश्वविद्यालय के गायर्स हाल में जहाँ केवल २) प्रतिदिन में दोनों समय का सुस्वादु तथा संतुलित भोजन तथा नाश्ता मिल जाता था। निवास स्थान से सम्मेलन भवन आने जाने का मुफ्त स्पेशल बस और प्रतिनिधि शुल्क तो कुछ था ही नहीं। इस प्रकार न तो सम्मेलन को पैसे की परीशानी रही न प्रतिनिधियों को। इस प्रकार का प्रबन्ध हो तो हम विचार विनिमय के वास्ते समय-समय पर कितने ही सम्मेलनों का आयोजन कर सकते हैं। मुझे मालूम है जो सोशल वर्क कान्फ्रेन्स के प्रतिनिधियों को भुगतना पड़ता है -दस रुपये प्रतिनिधि शुल्क, १०) संस्था शुल्क, ७-८) रोज भोजन खर्च और ठहरने तथा सवारी के खर्च अलग यानी "एक नन्ही-सी जान को गम दो जहाँ के हैं"। समाज सेवी जो अधिकतर वेतन भोगी नहीं होते, वे इतने पैसे कहां से ला सकते हैं। तभी तो सोशल वर्क कान्फ्रेन्स में सम्मिलित होने वाले प्रतिनिधि जो यहाँ आये उनके तो "निकले जो मयकदे से तो दुनिया बदल गई" वाली हालत थी। यह दूसरी बात है कि जो सरकारी प्रतिनिधि गये उनके ऊपर उनके राज्य की सरकारों के काफी पैसे खर्च हुए। जैसे कि एक प्रदेश के सरकारी प्रतिनिधि तथा उनके स्टाफ पर ६००) सफर खर्च तथा ६ दिन का ४००) वेतन इसके ऊपर। उनके अपने दफ्तर का काम जो उनकी अनुपस्थिति में हर्ज हुआ वह अलग। और वह वहाँ बोल सके केवल ५ मिनट! और उसी प्रदेश की एक संस्था के प्रतिनिधि के ऊपर जो उस सरकारी अफसर से यदि ऊँचा नहीं तो किसी प्रकार नीचा स्थान भी नहीं रखता, कुल ६५) खर्च हुए।

मेरा विचार है कि इन समाज कल्याण सम्मेलनों में सम्मिलित होने के लिये सरकार अपने अफसरों के भत्ता में प्रयत्ति कटौती कर दे और अफसरों की उपस्थिति के बजाय उनके पर्चे ही से काम चलाया जाये। ऐसा करने में लाभ ही लाभ है कोई हानि नहीं।

इस सम्मेलन की एक खराबी यह रही कि जहाँ इतने पुरुष प्रतिनिधि थे वहाँ स्त्रियाँ आधा दर्जन बमुश्किल तमाम और बोलने वालियों में तो शायद एक अथवा दो ही निकलीं। समय की पाबन्दी, सादगी और संजीदगी में सम्मेलन का एक ही स्थान रहा। कुछ विशेषज्ञों को छोड़ कर समाज को बड़े से बड़ा कहने वाले के साथ भी वही व्यवहार वर्ता गया तथा वही समय की पाबन्दी रखी गई जोकि औरों के साथ। फिर भी हमारा ख्याल है कि ऐसे-ऐसे सम्मेलनों में हर प्रदेश को तथा हर विचार को कुछ अधिक समय की छूट मिलनी चाहिये। भाषा की स्वतंत्रता थी फिर भी अधिकतर भाषण हिन्दी ही में हुये यह एक शुभ चिन्ह दीख पड़ा।

★

किं० घ० मशरूवाला

दान का महत्त्व

"आपकी बात हम शिरोधार्य करने को तैयार हैं। यहां के लोगों के लिए हम भरसक करके रहेंगे। परन्तु हमारा अनुभव कहता है कि यहां के लोग बिलकुल कृतघ्न हैं। उनके लिए कितना भी कीजिये, तो भी समय पर आंख बदलते उन्हें देर नहीं लगती।" यह उद्धरण काकासाहब कालेलकर की नयी पुस्तक 'उस पार के पड़ोसी' (पृष्ठ ४५) से लिया गया है। पिछले साल जब वे पूर्वी अफ्रीका की यात्रा पर गये थे, तब वहां रहने वाले हमारे भारतीयों ने उनसे यह शिकायत की थी।

मुझे याद आता है कि टॉल्स्टॉयने भी कहीं इसी तरह के अनुभव की बात कही है। अपने किसानों और नौकरों के प्रति उनका व्यवहार बहुत उदार था, पर उनमें कृतज्ञता नजर नहीं आती थी। टॉल्स्टॉय छानबीन करनेवाले व्यक्ति थे। उन्होंने लोगों के इस अस्वाभाविक व्यवहार को समझने की कोशिश की। एक उदाहरण देकर उन्होंने यह बात समझाई है। उनका दिया उदाहरण तो ठीक याद नहीं आता, पर वह कुछ इस तरह का है :

कल्पना कीजिये कि आप तम्बाकू पीते हैं और सड़क पर कहीं जा रहे हैं। तम्बाकू पीने की याद आई, जेब में हाथ डाला, तो पाया कि माचिस नहीं है। अब आपने मुड़कर देखा तो एक आदमी पास ही सिगार सुलगा रहा है। आपने उससे कहा और उसने भी आपको अपनी माचिस की मदद कर दी। बेशक, आप उसे 'धन्यवाद' तो कहेंगे, लेकिन उसकी इस उदारता के लिए आखिर आप के मन में कितनी कृतज्ञता रहनेवाली है? क्या आप उसकी इस उदारता को जीवन भर याद रखेंगे? इसी तरह टॉल्स्टॉय बताते हैं कि उनके जैसा कोई व्यक्ति, जिसके पास खूब पैसा है, जिसे एक रुपये की कीमत माचिस की एक सींक से ज्यादा नहीं है, अगर अपने किसी किसान या नौकर को या भिखारी को रुपया देता है, तो क्या पानेवाला जिन्दगी भर इस दाता के प्रति कृतज्ञ रहे? दाता इस दान के कारण कुछ गरीब तो हो नहीं गया। इसके लिए उसे अपने किसी सुख का त्याग भी नहीं करना पड़ा, आवश्यकताओं का तो बिलकुल नहीं। अपने बेहद संग्रह में से एक टुकड़ा उसने दिया, तो यह उसके हित में ही हुआ; बल्कि जिस तरह मोटे आदमी को अपनी मोटाई कम करना जरूरी है, उसी तरह उसके लिए यह जरूरी भी था। विज्ञान कोई ऐसा उपाय खोज निकाले, जिससे मोटे आदमी अपना मुटापा कम कर सकें और जो दुर्बल हैं उन्हें दे सकें, तो इससे उन्हें हर्ष ही

होगा। यह तो दोनों पक्षों के लिए लाभकारी बात होगी, कोई उपकार करने-लेने की बात इसमें नहीं होगी।

फिर, अगर ये देनेवाले और लेनेवाले पहले शोषक और शोषित रह चुके हों या अब भी हों, तब तो कृतज्ञता का सवाल और भी कम उठता है। दाता धनवान व्यक्ति हो या कोई ट्रस्ट या अमेरिका जैसा कोई सम्पत्ति-शाली राज्य हो और पानेवाला भिखारी हो या सामाजिक कार्यकर्त्ता या कोई गरीब राष्ट्र—अगर दिये हुए दान के कारण दाता के वैभव या सुख में कोई कमी नहीं आती, और दान के पीछे कोई लाभ उठाने का या अनिष्ट टालने का हेतु भी हो, तो कृतज्ञता की स्थायी भावना सम्भव नहीं है। बल्कि इस बात का डर है कि दाता के खिलाफ द्वेष और अनादर की ही भावना दृढ़ हो जाय, उससे ज्यादा गांठने की और उसे ठगने की कोशिश की जाय, शायद उसे धमकाया भी जाय कि मांग पूरी नहीं की गई तो उसका विरोध किया जायगा।

युरोप और एशिया के कितने ही देशों की आर्थिक मदद में, दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ तभी से, अमेरिका बहुत-सा पैसा खर्च कर रहा है। इसका अपेक्षित परिणाम यह होना चाहिये कि ये देश अमेरीकी लोगों के प्रति प्रेम और कृतज्ञता का अनुभव करें। लेकिन मेरा खयाल है कि युरोप और एशिया दोनों जगहों में यह बात नहीं हुई। वे पैसा लेने में संकोच नहीं करते, ज्यादा लेने की कोशिश भी करते हैं, लेकिन इतना सारा लाभ उठाने के बाद भी उनमें हार्दिक कृतज्ञता का भाव नहीं दीखता। बल्कि डर है कि कहीं यह मदद उन्हें कम्युनिस्ट बनाने में—यानी जिस चीज को रोकने के लिए अमेरिका इतना आतुर है, उसे ही लाने में—सहायक न हो!

इस सिलसिले में महाभारत के सुनहले नेवले की कहानी उल्लेखनीय है:

युधिष्ठिर राजा हुए, तो उन्होंने राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया। लोगों को बहुत दान-दक्षिणा दी गई। हजारों ब्राह्मणों को भोजन कराया गया। इतना बड़ा भोज हुआ कि खानेवालों के जूठे हाथ धोने के पानी से मानो एक छोटी नदी ही बहने लगी।

वहां एक नेवला आया। उसका आधा शरीर सोने का था और आधा साधारण। वह आया और उस जूठे पानी में लोटने लगा। फिर उसने अपने शरीर को देखा, तो उसे ज्यों का त्यों पाया। तब वह राजा युधिष्ठिर के पास गया और उनसे बोला—मैंने आपकी दानशीलता देख ली, वह तो शून्य है।

राजा ने उसे अपनी बात समझाने को कहा।

नेवला कहने लगा—पहले मेरा सारा शरीर साधारण नेवले जैसा ही था। एक बार एक गरीब आदमी के घर आया हुआ अभ्यागत अपने जूठे हाथ धो रहा था, मैं

उसकी भींगी मिट्टी में एक करवट से लेटा। आश्चर्य कि मेरा आधा शरीर एकदम सोने का हो गया! बाद में पता लगाने पर मालूम हुआ कि वह गरीब आदमी कई दिन से भूखा था। बड़ी कठिनाई से उसे कुछ अन्न प्राप्त हुआ था और उसे रांधकर वह खाने के लिए बैठ ही रहा था कि अचानक अतिथि आ गया। वह आदमी खुद कई दिन से प्यासा था, फिर भी अतिथि ने पानी मांगा, तो वेचारे ने अपना पानी का घड़ा भी उसे दे दिया। अतिथि ने कुछ पानी पिया और कुछ से अपने हाथ धो डाले। यही वह पानी था जिसने मेरे आधे शरीर को सोने का बना दिया। तब से मैं बराबर इस खोज में हूं कि कहीं ऐसा ही पानी और मिल जाय, तो मेरा शेष शरीर भी सोने का हो जाय। आपके यज्ञ में इसी आशा से आया था, लेकिन वह सफल नहीं हुई। और मुझे यह जानकर बड़ा खेद हुआ कि धर्मराज का दान भी मूल्यहीन है।

दान जब अपनी जरूरतों का त्याग करके दिया जाता है, तभी पानेवाले के मन में स्थायी कृतज्ञता का भाव जगता है।

मेरे लिखने का यह आशय नहीं है कि उपकार छोटा हो, तो पानेवाले को उसे भूलने का अधिकार है; वह माचिस की एक सींक जितना भी छोटा क्यों न हो, सज्जन कृतघ्न नहीं हो सकता। भटकनेवाला कुत्ता और हिंस्र सिंह भी प्रसंगवश पाई हुई जरूरी मदद को कृतज्ञता के साथ याद रखते हैं। यह मनुष्य-जाति का दुर्भाग्य है कि मनुष्य अकसर इन पशुओं जितना भी उदार नहीं सिद्ध होता। लेकिन अगर मनुष्य नीति-अनीति का विवेक करने की बुद्धि का दावा करता है, तो यह उसके लिए शोभाप्रद नहीं हो सकता कि वह किसी भी हालत में कृतघ्नता का समर्थन करे या एक क्षण के लिए भी उसकी बात सोचे।

मैं तो दाताओं को मित्र की तरह थोड़ी चेतावनी देना चाहता हूं। वे कोई ऐसी वस्तु दें, जिसकी उन्हें खुद जरूरत हो और जिसके बिना उन्हें, थोड़े ही समय के लिए सही, कुछ तकलीफ हो। कोई दाता फटे-पुराने कपड़े या बासी बचा-खुचा अन्न देकर दान का दावा नहीं कर सकता। उन्हें जानना चाहिये कि धर्म के अनुसार धनी या बुद्धिमान या किसी भी तरह उन्नतिशील व्यक्ति और राष्ट्र अपनी इन सम्पत्तियों के ट्रस्टी हैं; और अगर वे गरीब तथा पिछड़े हुए अपने देशवासियों या दूसरे देशवासियों को पैसा, जमीन या बुद्धि इत्यादि की मदद करते हैं, तो सज्जन मनुष्यों का कर्तव्य-कर्म ही करते हैं, उससे अधिक कुछ नहीं। वे अपनी बढ़ी हुई सम्पत्ति या अपनी जरूरतों में से ही कुछ दें अथवा साथ ही कुछ लाभ उठाने की या उसके द्वारा अपना संकट टालने की इच्छा रखें, तो उन्हें कृतघ्नता का अनुभव करके निराश होने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। उनके पास ज्यादा है, तो उन्हें देना ही चाहिये और लाभ की आशा छोड़कर तथा किसी तरह की शर्त का आग्रह न रखकर शुद्ध मन से—**श्रद्धापूर्वक देना** चाहिये। **दान लेनेवालों में अपने लिए प्रेम और आदर की भावना जगाने का यही सही** रास्ता है।

★

गोपालकृष्ण मल्लिक

बिहार के मुसहर

आज यहाँ हरिजनों में मुसहरों की अवस्था सबसे अधिक गिरी हुई है। वे तादाद में भी कुछ कम नहीं हैं, कम-से-कम बिहार में। परिवर्तन तथा क्रांतिकारी नव-निर्माण के इस युग में भी उनके पिछड़े जीवन में कोई भी उल्लेखनीय फेर-फार नहीं हुए, जब कि प्रायः अन्य सभी वर्गों में कोई-न-कोई सुधार के कार्यक्रम चलते ही रहे हैं। अलबत्ता, अभी-अभी इनके जीवन में दिल-चस्पी दिखाई जाने लगी है, पर इसमें कार्य-कर्त्ताओं के सहयोग एवं आर्थिक विषमता की ही बाधा मुख्य दीखती है। यह एक दुःखद घटना है कि आज तक हमने इनकी उपेक्षा की है और आज भी कोई विशेष रस नहीं दिखाते हैं। हम समझ नहीं रहे हैं कि अगर हमारे बीच इनकी घनी आबादी नहीं होती तो हमारे महत्व के काम-काजों में कठिनाई की हद कितनी होती।

आज के यहाँ के भीषण अकाल के समय में भी सबसे अधिक तड़पने वाले कोई हैं, तो ये ही परम परिश्रमी मुसहर हैं, जिनके तन को वस्त्र और पेट को पूरे दाने भी मय्यसर नहीं होते। इनका जीवन एक अजीब पहेली है और उसका अध्ययन मनोवैज्ञानिक करुणा और अनुकम्पा के पहलुओं से भरा है।

अधिक निकट से देखने पर इस मृत-प्राय वर्ग में बहुत-सी ऐसी खूबियों का समा-वेश मिलता है, जो मानवता की निधि समझी जा सकती है। इनके जीवन की आर्थिक एवं सामाजिक दुरवस्थाओं को सुधारने के प्रयत्न में इनके जीवन की ये खूबियाँ नष्ट न होने पावें, इसका ध्यान रहे। वैसे आज के युग की छाप तो संगति के कारण इन पर भी पड़े बिना नहीं रही है और इनके जीवन में वह बुराई ही लाई है, सुधार नहीं।

ये स्वभाव के बड़े ही सरल तथा भोले होते हैं। किसी को धोखा देना नहीं जानते, किसी का गला काटना तथा जेब काटना भी नहीं जानते। झूठ-फरेब भी नहीं जानते। इनमें सहिष्णुता तथा सौजन्यता काफी है। साम्प्रदायिक वैषम्य भी नहीं है, एकता है। ये शांत और विनम्र स्वभाव के होते हैं। ये बड़े ही निश्चयी होते हैं। किसी बात का निश्चय किया तो उसे करके ही छोड़ेंगे। ये दुख में भी सुखी, हँसमुख तथा हमेशा प्रसन्न रहने वाले जीव हैं और सबसे बड़ा गुण आत्म-संतोषी रहने की इनकी खूबी है। ये थोड़े में ही संतुष्ट हो जाते हैं। इस कारण एक कहावत भी प्रचलित है कि "मुसहर का कनफूटा घड़ा भरा कि वे किसी का काम करने वाले नहीं।" तात्पर्य यह कि इनमें जरूरत से अधिक या बहुत अधिक संग्रह

करने की प्रवृति नहीं होती, अतः ये अपरिग्रही अपने-आप बन जाते हैं। अपरिग्रह की सूक्ष्म भावना इनकी इस प्रवृत्ति में भले ही न रही हो, परन्तु इनका सहज प्राकृतिक जीवन इनके मानस को ऐसी खूबियों से सींचता ही रहा है। दुर्भाग्य से आज की इनकी दयनीयता का कारण इनके आत्म-संतोष के इसी गुण पर थोपा जाता है, पर हम भूल जाते हैं कि हमारी शोषण-नीति ही इनके दुःख-दर्द भरे पीड़ित जीवन का मूल कारण है।

दीनता से भरे इनकें जीवन की कथा ही निराली है। उनके गाँव, घर-आँगन, बीवी-बच्चे, रहन-सहन को देखने से ही मालूम होता है कि ये कितने दीन हैं। धूलि-धूसरित, अर्धनग्न शरीर, बिलकुल ही छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ, बच्चों में शायद ही किसी के तन पर, जाड़े में भी, सर्दी से बचने के लिए कपड़ा होता हो। जाड़े की रात घासफूस के सहारे काट लेते हैं। वे गंदे तो रहते हैं, पर प्राकृतिक जीवन का पूरा सहारा तथा शरीर की पूरी मशक्कत उन्हें रोग से बहुत बचाती है। जितने और लोग रोग-ग्रस्त होते हैं, उतने ये नहीं होते।

ये बिलकुल ही साधारण तरीके से रहने में जो परिस्थिति सहज संभव हो, उस में ही रहते हैं और बिलकुल मामूली जो भोजन हो, वही ये करते हैं। ऐसी स्थिति में भी ये प्रसन्नचित्त होते हैं पर उनके जीवन की गंभीर व्यथा तथा अभावों की छाया ढूँढ़ने में हमें देर नहीं लगेगी। इनका सारा जीवन दुःख-दर्दों से जूझने में ही समाप्त हो जाता है। न जाने कितने प्रकार के शोक, भय तथा शोषण में हमेशा उलझे रहने से इन्हें कभी वास्तविक दुनिया एवं शांत जीवन के अनुभव का मौका ही नहीं मिलता, और और इसी तरह इनका सारा जीवन समाप्त हो जाता है।

अपढ़, अशिक्षित, गँवार तथा नाना प्रकार की रूढ़ियों से ग्रस्तता, ये इनके जीवन की मुख्य बुराइयाँ हैं। पर जो भी साधारण बुराइयाँ हैं, उनका मूल गरीबी में है। ये बहुधा कोढ़-पीड़ित भी होते हैं। इसमें भी उनकी गरीवी तथा पौष्टिक भोजन की अत्यधिक कमी ही कारण है। इनके जीवन में कुछ धार्मिक निषेधात्मक बातें भी होती हैं। समय-समय पर इनके धार्मिक जीवन या विचार में भी क्रांति होती रहती है, जिसके कारण इनके सामान्य जीवन में भी सुधार या फेर-फार होते रहते हैं। मसलन्, कई वर्ष पहले मांस-मछली के निषेध का इनका धार्मिक आन्दोलन चला, जिससे उन्होंने मांस-मछली खाना छोड़ दिया। पर बाद में ये बंधन ढीले भी पड़ गये। इनके धर्मगुरु 'दादा भाई' के नाम से प्रचलित हैं। उन्हीं के नाम पर सारा धार्मिक आन्दोलन चलता है। इनमें कभी-कभी अच्छी पद्धतियाँ भी चलती हैं, जैसे इनके धार्मिक प्रतीक तीन ध्वजों के बदले कहीं-कहीं चार ध्वज होने लगे हैं, जिनमें एक बढ़ोत्तरा गांधीजी के नाम पर भी है। ऐसी पिछड़ी जातियों में इतनी चेतना आयी, यह भी क्या कम है?

★

रमाचरण

मद्यनिषेध आवश्यक है

यह बड़े खेद का विषय है कि हमारे प्रान्त की कांग्रेसी सरकार मद्यनिषेध के प्रश्न पर स्वतंत्र रूप से विचारने का मौका लोगों को देना नहीं चाहती है। जब कभी यह प्रश्न व्यवस्थापिका सभा में या बाहर उठता है तो लोगों को यह कह कर चुप कर देने की चेष्टा होती है कि मद्यनिषेध किया जाय तो प्रान्त की आय में इतनी भारी कमी होगी कि शिक्षा के प्रसार में काफी अड़चनें पैदा होंगी तथा दूसरे समाजोद्धार के काम बन्द करने पड़ेंगे। इस प्रकार लोगों से मानो कहा जाता है कि आप को दो बातों में एक को चुनना है—मद्यनिषेध या शिक्षाप्रसार। दूसरे शब्दों में यह बात यों रखी जा सकती है कि आप दोनों शौक पूरा नहीं कर सकते हैं—शिक्षाप्रसार का शौक पूरा करना चाहें तो मद्य निषेध के शौक को छोड़ें! क्या यह कहना वैसा ही नहीं है जैसे कोई कहे कि चाहे साफ हवा लो या साफ पानी; दोनों चीजें तुम्हें नहीं दी जा सकतीं।

स्पष्ट है कि जहाँ ऐसी बातें कही जाती हैं वहां शिक्षाप्रसार, समाजोद्धार तथा मद्य-पान के बारे में हमारे विचार उलझे हैं। शराबी की शराब पीने की आदत छुड़ाना उसको या उसके बच्चे को दो अक्षर पढ़ाने से कम महत्व रखता है ऐसा सोचना ही भ्रम-पूर्ण लगता है। खूब पढ़ा-लिखा आदमी भी नशा का सेवन कर जानवर से भी बदतर स्थिति में पहुँच जाता है यह सब जानते हैं। ऐसी हालत में मद्यनिषेध को शिक्षाप्रसार का बाधक कहने का कारण शिक्षा के संबंध में हमारी नितान्त भ्रमपूर्ण धारणा ही हो सकती है।

हाल में ही मुझे कतरासगढ़ की एक बड़ी कोलियरी के निरीक्षण का मौका प्राप्त हुआ। पूछने पर ज्ञात हुआ कि खान में काम करने वाले अधिकांश में छोटानागपुर के आदिवासियों में से ही हैं। वे लगभग तीन रुपया प्रतिदिन कमाते हैं। सरकार की ओर से उन्हें तरह-तरह की सहूलियतें देने की व्यवस्था की जाती हैं। रेशन भी आधे मूल्य पर दिलाई जाती है। परन्तु साथ-साथ शराब की दूकानों की भी सुव्यवस्था (!) है। फलस्वरूप लोगों ने बताया कि वे अपनी कमाई का एक-तिहाई पीने में उड़ा डालते हैं। और जिस दिन मजदूरी मिलती है उसके बाद कई दिनों तक खुमारी के कारण काम पर जाना भी पसन्द नहीं करते हैं। अस्पताल के पुराने डाक्टर ने बताया कि बीमारी का बहाना ले कर वे उनके पास आते हैं ताकि छुट्टी मिल जाय। सरकार की ओर से उनके बच्चों के लिए पाठशालायें खुलवाई जा रही

रामचरण लाल

अस्पृश्यता निवारण का एक मार्ग

अस्पृश्यता निवारण कार्य बहुत समय से भिन्न-भिन्न रूप में चल रहा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसको अपने ढंग से किया और उनको सफलता भी मिली। महात्मा गांधी ने उस ढंग में थोड़ा-सा परिवर्तन करके इस काम को अपने हाथ में लिया और सन् १९३२ में उन्होंने इस संबंध में आमरण अनशन कर दिया। मोटा-मोटी उनकी मांग यह रही कि हरिजनों को सार्वजनिक कुओं से पानी भरने दिया जाय, मन्दिरों में उनका प्रवेश न रोका जाय, धर्मशालाओं में उनको स्थान मिले, भोजनालयों में उनको भोजन देने पर कोई आपत्ति न हो इत्यादि। बापू यह भी चाहते थे कि होते-हवाते हरिजनों और देश के दूसरे निवासियों में कोई अंतर विशेष नहीं रह जाय। जब बापू ने अनशन किया तो उनके प्राण बचाने के लिए सवर्ण जनता ने इनमें से कुछ कार्यों को जोर-शोर से प्रारम्भ किया और इस प्रकार धीरे-धीरे इस रचनात्मक कार्य में प्रगति हुई और लोगों ने इसको भी अपनी एक प्रवृत्ति बनाई। बापू ने इसी

मद्यनिषेध आवश्यक है······

हैं, परन्तु शराब की कर्मनासा जब तक बहती रहेगी तब तक उसका क्या सत्प्रभाव होने वाला है, समझ में नहीं आता है।

राष्ट्रीय उत्पादन को कम करने में नशाखोरी का कितना बड़ा हाथ है यह भी चिन्तनीय विषय है।

लोगों को शराब पिलाकर उन्हें शिक्षित करने की योजना तथा समाज-कल्याण की बात चलाना एक अजीब-सी बात लगती है। तब शायद हमारी दृष्टि है कि जिन्हें शिक्षा देना है वे तो दूसरे हैं और जिनसे हम मद्य पिलाकर कर पाते हैं वे दूसरे हैं और मद्य पीनेवालों का नशा छुड़ाने से शिक्षा पाने वालों को शिक्षा देना बड़ा जरूरी है। यह क्या वैसा ही नहीं है जैसा तीसरे दर्जे के यात्रियों के पैसे से ऊँचे दर्जे वालों को सहूलियत देने की लोक-निन्दित नीति।

यह भी आशा करना गलत है कि किताबी शिक्षा के कारण शराबियों के बच्चे शराबी बनने से बचाये जा सकेंगे जब हम देखते हैं कि उच्च-से-उच्च शिक्षित समाज में आज मद्यसेवन का शौक बढ़ता जा रहा है। नीचे के स्तर के लोगों में ही नशाखोरी ज्यादा है और उनके ही बालबच्चों को नशाखोरी का सबसे अधिक दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। इसलिए यदि हम सचमुच ही नीचे के स्तर के लोगों को उठाना चाहते हैं तो हिम्मत के साथ मद्यनिषेध के काम को हाथ में लेना होगा।

वर्ष दिल्ली में हरिजन-सेवक-संघ की भी स्थापना कर दी, जिसकी शाखाएँ तथा उप-शाखाएँ सभी प्रान्तों और जिलों में चलने लगीं। कर्मठ योगी स्वर्गीय ठक्कर बापा को इसका प्रधान मंत्री बनाया गया और उन्होंने अपने जीवनपर्यन्त इस कार्य को निभाया और जो कुछ उनसे हो सका किया। गाँधीजी ने इस संघ के लिये धन एकत्र करने में कोई कमी नहीं की और कमी भी नहीं रही। तो, संघ की स्थापना होने पर भी और अनेकों व्यक्ति के इस कार्य में लगे होने पर भी क्या कारण है कि अस्पृश्यता अब भी चली आती है और उसका लोप नहीं हुआ? कारण कई हैं, परन्तु यहाँ एक दो कारणों पर ही दृष्टि डाली जायेगी।

हरिजन-सेवक-संघ ने अपना प्रधान कार्य हरिजनों को शिक्षित बनाने का किया। उसमें प्रगति तो हुई और सफलता भी मिली परन्तु उससे अस्पृश्यता निवारण में कोई अन्तर नहीं आया। वह तो जैसी की तैसी ही है। शहरों में, कुछ कम परन्तु गाँवों में ५ प्रतिशत भी सुधार नहीं है। स्व० ठक्कर बापा की पिछली वर्षी पर हरिजन-सेवक-संघ के वर्त्तमान मंत्री श्री वियोगी हरि जी, अपने कुछ कार्यकर्त्ताओं को लेकर ग्रामों में हरिजनों की स्थिति देखने गये तो जो नग्नरूप सामने आया, उसका वर्णन पत्रों में कुछ अंश में निकल ही चुका है और 'हरिजन-सेवा' में उसका सविस्तार वर्णन है। संघ ने छात्र-वृत्तियाँ देकर तथा स्कूल तथा छात्रावास खोल-कर बहुत हरिजन विद्यार्थियों को शिक्षित बना दिया। परन्तु वे शिक्षित होने पर भी सवर्ण की दृष्टि में हरिजन होने के नाते घृणित ही गिने जाते हैं। हरिजनसेवक तथा सुधारकों ने यह अनुभव किया कि सरकार द्वारा ऐसी विज्ञप्ति निकलनी चाहिये जिसमें अस्पृश्यता मानना अपराध समझा जावे। वह भी हो गया। भारतीय विधान में उसके लिये एक धारा ही सम्मिलित कर दी गई। परन्तु इससे स्थिति में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। प्रान्तीय सरकार तथा केन्द्रीय सरकार ने कुछ विशेष सुविधाएँ भी हरिजनों को दी हैं। इसमें कुछ अंश तक तो सुधार हुआ परन्तु उसके विपरीत फल अधिक निकले। सवर्णों में हरिजनों के प्रति कटुभावना उत्पन्न हो गई। ग्रामों में यह हो रहा है कि सवर्ण लोग हरिजनों के पशुओं को जंगल में नहीं चरने देते, उन्हें घास नहीं खोदने देते, दुकानों पर सामान नहीं खरीदने देते, सिंचाई विभाग-वाले उनके खेतों को पानी नहीं देते, यहाँ तक कि उनको जंगल में शौच आदि भी नहीं जाने देते, उनको खाद तथा कूड़ा-करकट आदि डालने को स्थान नहीं देते और जिन जमीनों को वे जोतते थे और जिन घरों में वे रहते थे, वह भी छीन ली गईं। तो, यह हुआ उलटा प्रभाव जिससे हरिजनों को सुख के बदले दुख मिलने लगा।

अस्पृश्यता निवारण सरकारी विज्ञप्ति से नहीं होगा। इसका उपाय यह है कि सवर्ण हरिजन सुधारक अपने सुधार के ढंग को

बदलें। उनको चाहिए कि वे टोलियाँ बनाकर ग्रामों में जावें, सवर्णों को समझावें उनकी भावनाओं में परिवर्त्तन करें, दूसरी ओर हरिजनों को सफाई से रहना सिखायें, उनके कपड़े स्वयं साफ करके दिखलायें, उनके बच्चों को स्वयं नहला कर दिखलायें उनकी गलियों को साफ करके दिखलायें। यह सब कुछ होने पर उनके हाथ का बना भोजन स्वयं खायें और अपने भोजों में उनको सम्मिलित करें, सवर्णों को धीरे-धीरे उनसे इस प्रकार मिलने को कहें। ऐसा करने से सवर्णों के अन्दर की कटुभावनाएँ निकल जायेंगी और हरिजनों की आदतें दूर हो जायेंगी, तब मेल होना सरल हो जायेगा।

आज कई कारणों से स्थिति ऐसी भयानक हो गई है कि हरिजनों तथा सवर्णों में स्वाभाविक वैमनस्य हो गया है, परन्तु वह उपरोक्त रीति से दूर किया जा सकता है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि रचनात्मक कार्यों में राजनीतिक हथकंडे भी सम्मिलित हो गये हैं। राजनीति से अलग रह कर यह कार्य किया जा सकता है। यद्यपि राजनीति अपने ठीक अर्थ में सम्मिलित होने पर बुरी नहीं, परन्तु रचनात्मक कार्य का ध्येय ही राजनीति हो तो वह सफलता प्रदान नहीं करेगा। अस्पृश्यता निवारण के लिए भी त्याग की आवश्यकता अनुभव होने लगी है। जिस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रत्येक भारतवासी की त्याग भावना जाग्रत हुई, उसी प्रकार इसके लिए भी जाग्रत हो जावें तो काम जल्दी हो जावे। इस ओर भी कदम तो बढ़ने लगे हैं परन्तु सरकार के दिए १० वर्षों में यह कार्य पूर्ण होगा ऐसा मालूम नहीं होता। फिर भी यह विशेष प्रयत्न किया गया तो हो भी सकता है।

अस्पृश्यता निवारणवाले सुधारकों को चाहिए कि वह इसी में लगे रहें, दूसरी प्रवृतियों में न फिसलें। सरकार अपने ढंग से मदद करेगी।*

---

* लेख में व्यक्त कई विचारों से हम सहमत नहीं हैं। स्थिति का जैसा भयानक चित्र खींचा गया है, वस्तुस्थिति से वह मेल नहीं खाता। कशमकश अगर है, तो सवर्णों और सवर्णों के बीच अधिक है सवर्ण बनाम हरिजन से। रोग पुराना, बहुत पुराना है, इसे नहीं भूल जाना चाहिए। अगर यह सच है कि वैदिककालीन अनार्य, दस्यु और चांडाल ही आज के हरिजन और आदिवासी हैं, तो धीरज खोने से काम नहीं चलेगा। दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी या, ठक्कर बापा के प्रयत्न व्यर्थ नहीं जायँगे। प्रतिक्रियावादी किस देश और समाज में नहीं हैं? भारत में उनका होना स्वाभाविक ही है। लेकिन उनके बावजूद रूढ़ियों की जड़ें हिल गई हैं, यह मानना पड़ेगा। समय बदल रहा है, उस तेजी से बदल रहा है जिसकी कुछ दिन पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। सीमाएं टूट रही हैं, बंधन खुल रहे हैं। यह तमाम दुनिया में हो रहा है। भारत ही पीछे रह जायगा ऐसा हम नहीं मानते।

हरिजन-सेवा में लगे हुए कार्यकर्त्ता और भी जाग्रत हों यह सही है। गाँवों के विभिन्न वर्गों और वर्णों में समानता स्थापित करने के काम को वह शीघ्रता से आगे बढ़ायें यह होना ही चाहिए। —सं०

कान्तिलाल शाह

ठक्कर बापा

भारत के अधिकाँश लोगों ने उस ऊँचे, कद्दावर और सुदृढ़ शरीर वाले, परन्तु पुष्प के समान सुकोमल हृदय वाले तेजस्वी पुरुष को देखा होगा। आसाम के जंगलों में, गुजरात के भीलों और सौराष्ट्र के अंत्यजों में, महाराष्ट्र के माँग-माहरों और मद्रास के अछूतों में, छोटानागपुर की पहाड़ियों और थरपारकर के मरुस्थल में अथवा हिमालय की तराई या त्रावणकोर की दक्षिणी भूमि में कहीं-न-कहीं आप लोगों ने उसके पुण्य दर्शन अवश्य किये होंगे। भारत का शायद ही कोई ऐसा कोना हो, जहाँ उस महापुरुष के पदचिह्न न पड़े हों। पिछले पैंतीस साल से वह भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक घूमता रहा; द्वारका से जगन्नाथपुरी तक, हिमालय से रामेश्वरम् तक भारत के कोने-कोने को उसने छान डाला था। इस देश के दिग्दिगन्त में उसने लम्बी-लम्बी यात्राएँ की थीं।

उसकी ये यात्राएँ देव-दर्शन करने या तीर्थ-स्थानों में भ्रमण कर पाप-परिताप से विमुक्त होने के लिए अथवा स्थान-स्थान की विविधतामयी प्रकृति और नई-नई चीजों को देख-देखकर अपना कुतूहल शान्त करने के लिए नहीं होती थीं, किन्तु ईश्वर की रची इस विराट् सृष्टि के सबसे दीन-हीन, कंगाल, पतित तथा पीड़ित जनों की निश्छल सेवा ही इन यात्राओं का उद्देश्य होता था। समाज के जो व्यक्ति पददलित थे, प्राकृतिक विपत्तियों के कारण निराश्रय हो जाते थे, उन सब दीन-हीन पीड़ितजनों को—निस्सहाय, भाग्यहीन विधवाओं और अनाथ बच्चों की सेवा करने के लिए, उनके आँसू पोंछने के लिए, उनके आहत हृदयों पर मरहम लगाने के लिए, उन्हें ढारस बँधाने के लिए, उनके उजड़े हुए घरबार को फिर से बसाने के लिए, उनके सूखे हृदयों को हरा करने के लिए, उन्हें अन्न-वस्त्र की सहायता पहुँचाने के लिए, उनके टूटे दिलों को जोड़ने के लिए, उनके निर्बल पैरों को शक्तिशाली बनाने के लिए जिससे कि वे अपने आप चल सकें, उनके पीले चहरों पर नई लाली लाने के लिए और उनकी मन्दज्योति आँखों में नया प्रकाश भरने के लिए उस महापुरुष ने ये यात्राएँ की थीं—एक बार नहीं अनेक बार।

सौराष्ट्र के एक कोने में एक लोहाणा-कुल में जन्म लेते हुए और प्रान्तीय दृष्टि से गुजराती होते हुए भी उसने कभी अपने-आप को जातिवाद और प्रान्तवाद की संकुचित दीवारों में कैद नहीं किया था। जातिवाद, प्रान्तवाद और सम्प्रदायवाद से वह सदा दूर ही रहा। उसकी सरल प्रेममयी समदृष्टि

और समभावना होने के कारण बंगाली और आसामी, बिहारी और उड़िया, महाराष्ट्री और करणाटकी, मारवाड़ी और गुजराती तथा दूर-दूर के आदिवासी—सभी उसे अपना ही आदमी समझते थे। कारण यह था कि उसने सब लोगों के बीच 'स्वजन' की भाँति अपना सेवा-परायण जीवन बिताया; उनकी रूखी-सूखी रोटी प्रेम से खाई; उनकी झोपड़ियों में जमीन पर बिछौना डालकर रातें काटीं; साधारण जनों की तरह सरदी, गरमी और वर्षा को सहन किया; जो भी काम सामने आया उसे भूख, थकावट और नींद की परवाह न कर पूरा करके ही छोड़ा; भीड़भाड़-भरी रेलगाड़ी के तीसरे दरजे की हजारों मीलों की लम्बी-लम्बी यात्राएँ कीं; धूल का बवण्डर उठाने वाली और कभी ऊँचे और कभी नीचे पटकने वाली मोटर बसों में थकावट से चूर-चूर कर देने वाला सफर किया। इस प्रकार जल में, स्थल में, रेलगाड़ी में, बैलगाड़ी में, नाव में और पैदल उसने हजारों मील की यात्रा की। ईश्वर के दूत की तरह दीन और निस्सहाय जनों की झोपड़ियों में गाढ़े समय पर दौड़-दौड़कर उन्हें सहायता दी। दुखः और पीड़ा की पुकार सुनते ही देश के दूर-से-दूर कोनों में वह सबसे पहले पहुँचा और संकट-ग्रस्त हजारों व्यक्तियों को सहायता देकर उनके सुख-दुःख का साथी बना। कोटि-कोटि जनों के अन्धकारपूर्ण जीवन में उसने आशा का दीपक जलाया।

ऐसे प्रथम कोटि के मानव-सेवक को भला कौन नहीं पहचानता होगा? आरम्भ में वे इन्जीनियर ठक्कर थे; फिर समाज-सेवक ठक्कर साहब हुए; बाद में अछूतों की सेवा करके उन्होंने 'ढेढ़ का गरोडा' यानी 'ढेढ़ का पुरोहित' यह पदवी महात्माजी से पाई; तत्पश्चात् भीलों, आदिवासियों की तथा देश के अकाल-पीड़ित लोगों की निष्काम सेवा करते-करते उन्होंने लाड़-प्यार भरा 'बापा' का विरद प्राप्त किया। ठक्कर बापा घर, कुटुम्ब, जाति, ग्राम, प्रान्त—इन सब की सीमाओं को लांघकर, हर प्रकार की गुटबन्दियों को तोड़कर समस्त देश के दीनजनों, हरिजनों, आदिवासियों के और अन्त में तो सभी के बापा बन गये। राष्ट्रपिता गांधीजी का 'बापू' नाम जैसे देश भर में प्रचलित हो गया है, वैसे ही अमृत लाल ठक्कर का 'बापा' विरद घर-घर में पहुँच गया। स्वयं गांधीजी ने ही उन्हें 'बापा' संबोधन कर देश-द्वारा दिये गये इस लोकप्रिय नाम पर अपनी मोहर लगा दी।

खादी की मोटी धोती, वैसा ही सादा सफेद कुर्ता, जाड़ों में ऊपर गरम बण्डी, और उस पर खूब पुराना लबादा, सिर पर ऊँची दीवार की गांधी-टोपी, पैरों में सादे और मजबूत देहाती चप्पल—इन सबको एक साथ देखते ऐसा लगता, मानों साक्षात् सादगी साकार होकर पृथ्वी पर अवतरित हुई है। उनका सादा रहन-सहन, मोटा-झोटा आहार, गरीबों के साथ एकरस हो जाने की प्रबल अभिलाषा और उस अभिलाषा को कार्यरूप

में परिणत करने की उनकी असीम शक्ति— इन सब गुणों ने उन्हें मानव-सेवकों की पंक्ति में आगे लाकर खड़ा कर दिया है। यद्यपि उनके विशाल वक्षस्थल और हुए गरजते स्वर से वीरोचित पौरुष टपकता था, तो भी भव्य ललाट के नीचे सुन्दर मुखमण्डल पर चमकती हुई आखों में राजपूतों की कठोर उद्दण्डता नहीं थी, और न उनमें रोमन योद्धाओं की आग बरसाने वाली प्रचण्डता ही थी। उनमें तो ईसा की आँखों की अनुकम्पा का अंश दिखाई देता था। भगवान् बुद्ध के नेत्रों में जो सजीव करुणा थी उसी करुणा की झलक उनमें पाई जाती थी। बापू के नेत्रों से जो प्रेम टपकता था ऐसी ही प्रेम की धारा बापा की आँखों से झरती हुई प्रतीत होती थी। इसी करुणा और प्रेम के बल पर उन्होंने अपने जीवन के पैंतीस बर्षों तक निरंतर गरीबों की आँखों के आँसू पोंछे और सतत सेवा करते हुए उनके हृदयों को जीत लिया।

इन सब गुणों के होते हुए भी बापा कोई भूलों से परे और राग-द्वेषरहित मानवेतर प्राणी नहीं थे। वे मानव थे और मानव-सुलभ गुण और दोष भी उनमें भरे हुए थे। फिर भी विरासत में पाये हुए सब गुणों का विकास कर, और दोषों को पुरुषार्थपूर्वक दूर कर वे उच्चतम कोटि के जन-सेवक बन सके, और छोटे-बड़े असंख्य सेवकों और कार्य-कर्त्ताओं को लोक-सेवा के कामों में जुटा सके, यह उनकी तपश्चर्या का ही पुण्य प्रभाव था।

एक दृष्टि से देखा जाये, तो उनके जीवन में कोई खास आश्चर्यकारक अद्भुत घटना नहीं घटी। उनके जीवन में कोई विशेष चमत्कार दिखाई नहीं देता। गत सौ बर्षों में जो धार्मिक और राजनीतिक नेतागण हो गये हैं, उनमें से किसी एक का भी अद्भुत व्यक्तित्व, उनकी जैसी प्रखर प्रतिभा, उनका बुद्धि-वैभव कुछ भी बापा के जीवन में दिखाई नहीं देता। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, दादा भाई नवरोजी, दीनशा वाचा, लोकमान्य तिलक, गोखले, देशबन्धु चितरंजन दास, मोतीलाल नेहरू, विठ्ठलभाई पटेल तथा सरदार पटेल— इनमें से किसी की भी बुद्धि, किसी की भी प्रतिभा, किसी की भी वाक्‌पटुता, किसी की भी मुत्सद्दीगिरी ठक्कर बापा को नहीं मिली थी। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस के जीवन में जिस प्रकार कुछ आश्चर्यजनक और अद्भुत घटनाएँ घटी दिखाई देती हैं, उनके विपरीत उनका जीवन-प्रवाह एकदम शान्त, सरल, मैदान में बहती हुई सरिता के समान रहा है। सूर्य जिस प्रकार क्षितिज के पार उदय होकर आकाश में ऊपर चढ़ता है और संध्या को अपनी छाया फैलाकर नीचे उतरते-उतरते अपना कर्त्तव्य समाप्त कर अन्त में अस्त हो जाता है, उसी प्रकार बापा के जीवन का मार्ग मानो पहले से निश्चित, स्थिर और निर्दिष्ट था। फिर भी, अस्थिरता के इस युग में अनेकों के मोह को छोड़कर एक ही की उपासना और भक्ति की, एक ही को साधा।

जीवन के ऐतिहासिक क्षणों में जिस कार्य को उन्होंने हाथ में लिया उसे धीरज, लगन और उत्साह के साथ पूरा किया। तब यह क्या एक चमत्कार नहीं है?

ऐसे क्षेत्र में, जहाँ कीर्ति, बड़ा नाम, ऊँचा पद पाने की जरा भी गुंजाइश नहीं, जीवन की संध्या तक सेवा करते रहना कोई बच्चों का खेल नहीं। और पैंतीस वर्ष की सतत निष्काम सेवा के फलस्वरूप कीर्ति जब स्वयमेव चरण चूमने आई, तब उन्होंने उसे एक भार-रूप माना, व्याकुलता-सी अनुभव की और उससे दूर भागने के भी अवसर खोजे। जब देशभर में उनका ८०वाँ जन्म-दिन मनाना निश्चित हुआ, और भारत की राजधानी दिल्ली में उनका अभिनन्दन किया गया, तब वे कैसे घबराये और बेचैन-से होने लगे थे, यह उस उत्सव में उपस्थित लोग ही जानते हैं।

बापा ने उस समय कहा था, "मेरा शरीर तो भारत की राजधानी दिल्ली में पड़ा है, पर मेरा हृदय तो दूर-दूर के गाँवों में रखा है। मुझे आज 'योगीराज' और दूसरे बड़े-बड़े विशेषणों से विभूषित किया गया है। परन्तु मैं योगीराज नहीं हूँ, और न कोई महापुरुष हूँ। मैं तो केवल एक पामर प्राणी हूँ, और दूसरे मनुष्यों की तरह ही मानव-सहज त्रुटियों और दोषों से भरा हुआ हूँ।"

जब बापा अपने जीवन में कीर्त्ति और सम्मान के शिखर पर पहुँचे और जब सारा राष्ट्र उनपर अभिवादन की वर्षा करने लगा, तो उन्होंने उस समय अत्यन्त विनम्र बनकर सूरदास का यह भजन गाया, "मो सम कौन कुटिल खल कामी।" बापा उस समय विनम्रता की मानो मूर्ति बन गये थे। यही तो बापा की महत्ता थी।

अपने युग में जैसे गांधीजी और रवीन्द्र-नाथ ठाकुर, जगदीशचन्द्र बसु और सी० वी० रमण, सरदार वल्लभभाई और जवाहर लाल नेहरू अपने-अपने क्षेत्र में चरम उत्कर्ष तक पहुँचे, उसी तरह बापा भी अपने सेवा-क्षेत्र में सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गये थे। गत चालीस वर्षों में गांधीजी और विनोबाजी को छोड़कर बापा-जैसा विरल लोक-सेवक दूसरा दिखाई नहीं देता। इस सुदीर्घ सेवामय जीवन में उनके मार्ग में अनेक वार स्तुति और कभी-कभी निन्दा भी आई, परन्तु स्तुति से वे कभी फूले नहीं, और निन्दा से कभी घबराये नहीं। दोनों को समभाव से उन्होंने ग्रहण किया और दोनों से वे अलिप्त रहे।

राजनीतिक बवंडर के इस युग में बहुत-सी चटकीली और लुभावनी चीजें बापा के सामने आई थीं, और उन्होंने भांति-भांति के मोहक प्रलोभन दिखा-दिखाकर उन्हें खींचने का प्रयत्न किया था। परन्तु जोश में आकर क्षणिक लाभ की दृष्टि से उन्होंने कभी अपने निश्चित कार्य और ध्येय का परित्याग नहीं किया। जब १९३० का नमक-सत्याग्रह आरंभ हुआ तब उनके बहुत-से तरुण साथी, जिनके ऊपर उनका पुत्र के समान स्नेह था और जिन साथियों ने बीस-बीस साल तक भील

जाति की सेवा करने की प्रतिज्ञा ले रखी थी, वे भी सत्याग्रह में जा कूदे, तब बापा ही एक ऐसे बचे थे, जो उस संग्राम से अप्रभावित रहकर अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र में वैसे ही डटे रहे। अपने जीवन भर के साथियों का प्रेम और ममत्व भी उनको सत्याग्रह-युद्ध में नहीं खींच सका। परन्तु बाहर रहते हुए भी वे अनेक जेल जानेवालों के परिवारों की देखभाल करते रहे; उनके लिए आर्थिक सहायता का प्रबन्ध किया। इसका मतलब यह नहीं था कि वे जेल जाने से कुछ डरते थे और उससे बचना चाहते थे। सत्याग्रह के समय जब वे महमदाबाद में शराब की पिकेटिंग का निरीक्षण कर रहे थे तब पुलिस के आ जाने पर वे वहाँ से हटे नहीं, बल्कि दृढ़तापूर्वक अपने कर्त्तव्य पर वहीं डटे रहे। नतीजा यह हुआ कि पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया, जिसका उन्होंने स्वागत ही किया और सहर्ष जेल चले गये।

बापा का स्वभाव किसी प्रकार की उतावली मचाने या अपने काम का ढोल पीटने का नहीं था। उन्होंने तो जीवनपर्यन्त मूक रहकर ही जन-सेवा की। उन्होंने हथेली पर सरसों उगाने की कभी कोशिश नहीं की। सारा कार्य वे धीरे-धीरे और व्यवस्थित रूप से करते थे। एक गुजराती कहावत—टीपे टीपे सरोवर भराय, अने कांकरे कांकरे पाल बँधाय—के अनुसार उन्होंने एक-एक बूँद पानी लेकर सरोवर भर दिया और एक-एक कंकर लेकर उसकी पाल बाँध दी।

पैंतीस वर्ष पहले उन्होंने सेवा के जो बीज बोये थे, वे आज बढ़कर फूले-फले वटवृक्ष का रूप धारण कर चुके हैं। दोहद और दिल्ली के उद्यान में उन्होंने अपने जीवन-रस से सींच-सींचकर जो फूल खिलाये, उनकी सुगन्ध आज देशभर में फैल गई है। भारत के कोने-कोने में, प्रान्त-प्रान्त में, छोटी-बड़ी अनेक संस्थाओं की पुष्पवाटिकाएँ सेवारूपी पुष्पों की सुगन्ध से महक रही हैं। ये फुलवारियाँ भारत के ढाई करोड़ आदिवासियों, लगभग चार करोड़ अछूतों और असंख्य पिछड़े वर्ग के लोगों के जीवन में सुगन्ध फैला रही हैं। इन सब दरिद्रनारायणों की सेवा करते-करते बापा ने अपनी काया चन्दन की भांति घिसा दी। दूसरों के जीवन में ज्योति जगाने के लिए उन्होंने अपने जीवन का तेल खर्च किया। ऐसा प्रतीत होता है, मानो जब उस जर्जरित देह ने भारत के दीन-दुखियों और पद-दलितों की और अधिक सेवा करने से जवाब दे दिया, तब वे नया देह धारण कर इस भूमि पर पुनः अवतार लेने के लिए परलोक चले गये।

भावनगर के एक अपरिचित स्थान में जब ८१ वर्ष पहले उन्होंने जन्म लिया था तब कौन जानता था कि ८० साल के दीर्घ जीवन के बाद जब यह बालक विदा होगा तब भारत के करोड़ों लोग उसकी विदाई पर आँसू बहायेंगे, सैकड़ों नगरों और हजारों गाँवों में उसकी दिवंगत आत्मा को जलाञ्जलि दी जायेगी। ये बातें उनकी लोक-

प्रियता को बताती हैं, और लोक-हृदय में उन्होंने कैसा स्थान बना लिया था इसकी ओर संकेत करती हैं।

सौराष्ट्र की भूमि 'बहुरत्ना' कहलाती है। इतिहास के आदिकाल से लेकर अब तक इस भूमि ने असंख्य नर-रत्नों को जन्म दिया है। भगवान् कृष्ण ने इस भूमि को पावन किया। महात्मा गांधी का अवतार इसी सौराष्ट्र-भूमि पर हुआ। दयानन्द सरस्वती जैसे उत्कट धर्म-संशोधक और नरसिंह मेहता जैसे भक्त कवि ने इसी भूमि को धन्य किया। बहुत-से सन्त-महात्माओं और अमर ख्यातिवाले शूरवीर तथा सत्यनिष्ठ पुरुषों को जन्म देने वाली इस सौराष्ट्र-भूमि ने ही ठक्कर बापा जैसे विरले लोक-सेवक को जन्म दिया। यह न केवल सौराष्ट्र का, बल्कि गुजरात का और समस्त भारत का भी गौरव है। उनके जीवन से श्री किशोरलाल मशरूवाला और दादा साहब मावलंकर जैसे भारत के महा-पुरुषों से लेकर असंख्य साधारण कार्यकर्त्ताओं और सेवकों को मार्गदर्शन और प्रेरणा मिली है। पैंतीस वर्ष तक अखण्ड सेवा का यज्ञ करनेवाले इस पुण्य पुरुष की जीवन-गाथा न केवल इस पीढ़ी को बल्कि आगामी पीढ़ियों के लोगों को भी सेवा की—देश के लिए और दूसरों के लिए कार्य करने की—तथा त्याग की प्रेरणा सदैव देती रहेगी।

ठक्कर बापा का जीवनवृत्त लिखने से पहले जब मैंने उनके पुण्य जीवन का मर्म समझने का प्रयत्न किया, तब मुझे अनायास ही कबीर साहब की यह साखी याद आ गई :

"कहत कबीर कमाल से, दो बातें तू सीख ले।
कर साहब की बन्दगी, अरु भूखे को अन्न दे।"

सौराष्ट्र की भूमि से, उसकी सन्त-परम्परा से, और अपने वैष्णव पिता से बापा को ये दो बातें—साहब की बन्दगी और भूखे को रोटी देना—विरासत में मिली थीं। और जो कुछ कसर रह गई थी उसे भारतीय संस्कृति में पले अन्य गुरुजनों ने—गोखले और गांधीजी ने पूरा कर दिया। ये बातें उन्होंने ऐसे आत्मसात् कर ली थीं, जैसे शरीर भोजन को पचाकर रक्त बना लेता है। यही कारण है कि उनके पैंतीस वर्ष के अखण्ड सेवा-प्रवाह में यही दो बातें स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। उनकी जीवन-पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर यही दो सिद्धान्त मोटे अक्षरों में अंकित दिखाई देते हैं।

इसलिए मैंने भी उनके सेवामय जीवन को शब्दबद्ध करते हुए कबीर की इस साखी को सतत अपनी दृष्टि के समक्ष रखा है। इस साखी को ही अपना ध्रुवतारा मानकर बापा की पुण्यजीवनी लिखने का मैंने यह भारी साहस किया है।*

*लेखक की अप्रकाशित गुजराती पुस्तक 'ठक्कर बापा' से

मीरा बहन

इस पागलपन को छोड़ दो

मैं समझती हूँ कि आपको अपना सब अनाज बेचकर बाजार से रोटी खरीदने की बात कभी न सूझी होगी। ऐसा विचार आपको कतई पागलपन लगता होगा, जो ठीक है; क्योंकि ऐसा करना बेवकूफी की आखिरी हद होगी। इसी तरह आपके पुरखों (दादा-परदादा) को अपनी सब कपास बेच कर बाजार से तैयार कपड़ा खरीदने की बात कभी न सूझी होगी। उन्होंने सोचा होगा कि ऐसा करना कतई पागलपन है और उन्होंने ऐसा सोचकर ठीक ही किया।

लेकिन अब सब कुछ बदल गया है। मिल के कपड़े का जहर गांवों में बहुत दूर-दूर तक फैल गया है और आप में से बहुत से अपना तन ढकने के लिये बनियों के ऊपर आसरा रखते हैं। आपका अब कपड़े की कीमत या पूर्ति पर कोई वश नहीं रह सकता। कभी यह बहुत महंगा हो जाता है और कभी-कभी तो किसी भी दाम पर नहीं मिल सकता। अब आप पूरी तरह से मिल मालिकों और बनियों के हाथ में हैं। उन्हें आपकी भलाई से कोई दिलचस्पी नहीं, उनकी एक मात्र इच्छा अधिक से अधिक रुपया बटोरना है। अगर आपने अपने पुरखों की तरह अपने लिये कपास पैदा करना, उसको कातना और अपने गाँव में ही बुनना जारी रखा होता, तो आप इन स्वार्थी व्यापारियों से बिल्कुल स्वतंत्र रह सकते थे। आपको न तो कपड़े के भावों की चिन्ता करनी पड़ती और न इसके बारे में माथापच्ची करनी पड़ती कि कपड़ा मिलेगा या नहीं। यह वैसे ही आपके घरों में होता—हर साल हाथ का बना हुआ मजबूत कपड़ा, जो जाड़ों की ठंड और गर्मियों की गर्मी से बचाता है, मिलता रहता। आप में से जो अभी तक खद्दर का प्रयोग करते हैं, इस बात की सच्चाई जानते हैं।

आप बिना कपड़ों के नहीं रह सकते। यह हमारे लिये बिल्कुल जरूरी चीज है। इसलिये यदि आप घर पर कपड़ा न बनावें, तो आपको बाजार से खरीदना ही पड़ता है, चाहे वह कितना ही निकम्मा और महंगा क्यों न हो।

आप अब देख सकते हैं कि यह सब कैसा पागलपन है और बापूजी ने कितनी समझदारी की बात कही कि आपको अपने भोजन और कपड़े के लिए बाहर वालों पर आसरा नहीं रखना चाहिए, क्योंकि ये दोनों जिन्दगी की सबसे मुख्य जरूरतें हैं। ईश्वर ने आपको यह अद्‌भुत् वस्तु दी है—कपास का पौदा, जिसे आप अपने खेतों में उगा सकते हैं और अपने हाथों से कपड़े में बदल सकते हैं। इस प्रकार अपने शरीर की गर्मी

और सर्दी से रक्षा कर सकते हैं। परन्तु आपने यह अमूल्य जन्मसिद्ध अधिकार बेच दिया है और अपने को शोषकों के हाथों सौंप दिया है।

क्या यह पागलपन नहीं है?

दरअसल यह हद दर्जे का पागलपन है। ऐसा पागलपन, जिसका हमारे पुरखों ने स्वप्न में भी ख्याल न किया होगा।

आपको अब यह पागलपन छोड़ देना चाहिये और फिर अपना वस्त्र-स्वावलम्बन का जन्मसिद्ध अधिकार हासिल करना चाहिये। इसमें कामयाबी के लिये देहातों में अपने हाथों से कातना और बुनना ही काफी न होगा, बल्कि शोषक बनियों और मिल-मालिकों की हरकतों को भी रोकना पड़ेगा। जब आप अपने को उनके पंजे से छुड़ाने की कोशिश करेंगे तो वे आपको रोकने के लिये सब कुछ करेंगे। यह केवल तब ही किया जा सकता है, जब हम 'बापू राज' कायम करें। इसलिये हम सब को बिना कुछ देर किये इस महान् कार्य के लिये एक हो जाना चाहिये।

"......महाभारत में एकलव्य की कथा आई है। वह निरा काव्य नहीं है। उसमें सत्य है। मृत्तिका में चैतन्य नहीं होता। मूर्त्ति में सामर्थ्य नहीं होती। लेकिन एकलव्य के लिए द्रोणाचार्य की मूर्त्ति मिट्टी नहीं थी। उसमें तो वह साक्षात् गुरु द्रोणाचार्य को देखता था। उसकी अखंड श्रद्धा क्योंकर फलीभूत नहीं होती? अगर हम चरखे में ऐसी श्रद्धा रख सकें तो हमारे लिए वह प्राणवान प्रतिमा बन जाये। तब हम उसमें अपनी समस्त संकल्प-शक्ति और हृदय लगा दें। चरखा तो हमारे लिए अहिंसा का प्रतीक है। असली चीज मूर्त्ति नहीं, हमारी दृष्टि है। एक दृष्टि से संसार सही है; दूसरी दृष्टि से ईश्वर ही एकमात्र सत्य है। अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों बातें ही सत्य हैं। यदि हम अपने प्रतीक में ईश्वर का साक्षात्कार कर सकें तो हमारे लिए वह भी सच हो जाता है।"

—महात्मा गांधी

स्वामी शिवानन्द सरस्वती

दुर्व्यसन और उनसे मुक्ति के उपाय

कई लोग मेरे पास आते और कहते हैं कि यह कलियुग है, कोई कहता है यह यंत्रयुग है, कोई कहता है कि यह अणुबम का युग है—इस प्रकार जितने मुंह उतनी बातें सुनाई देती हैं। जो कुछ भी हो इतना तो अवश्य है कि आज मनुष्य और धर्म की कसौटी है। नवीन युग के आविष्कारों और खोजों से मानव को यदि २५ प्रतिशत सुविधायें प्रदान हुई हैं, तो ५० प्रतिशत उसके सर्वनाशक साधन जुट चुके हैं और अवशेष २५ प्रतिशत के लिये मानव प्रयत्न भी कर रहा है। देखें मानव अपने विनाश की चेष्टा में कहाँ तक सफल होता है। जहाँ एक ओर हमारे धर्मदूत उसको पुकार-पुकार कर कुछ परामर्श दे रहे हैं, वहाँ आज की चमत्कारिता उसकी बुद्धि को आवर्णित किये हुए है।

धर्म बूढ़ा और खूसट हो चुका है, पड़ा होगा कहीं अस्पताल में—प्रायः सभी का यही मत है। यदि किसी को धर्माचरण करने को कहो तो कहता है, आप तो विकास-वाद के विरोधी हैं और हमें लकीर के फकीर की तरह जीवन बिताने को कहते हैं! परन्तु दूसरे ही क्षण देखो तो वही व्यक्ति रो रहा है। क्यों? घर में कलह, प्रायः पत्नी विषयक-भ्रान्ति से, अथवा पुत्र की अकाल-मृत्यु से, अथवा आर्थिक-संकट के कारण ··· और भी कई कोटि ऐसे कारण आज उत्पन्न हो गये हैं, कि उस कारण जो मनुष्य विकास-वाद की बीन बजा रहा था, वही 'जय सीता राम' का ढोल बजाने ऋषिकेश, नहीं तो बद्रीनाथ, नहीं तो उत्तरकाशी ही पहुँच जाता है। क्या ही आश्चर्य है! मैंने पिछले २६ सालों से इन्हीं चित्रपटों को आते और जाते देखा है, परन्तु मुझे आश्चर्य है, क्यों मानव अभी भी सावधान नहीं होता।

इन सब का कारण क्या है?

क्या किसी विचारक ने कभी भी इस विषय पर मनन किया है, कि क्योंकर यह सब कुछ हो रहा है। रात और दिन आघात-व्याघात होने पर भी क्यों नहीं मनुष्य जागता है? वैसे तो मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण करने वालों की कमी नहीं होगी, परन्तु भौतिक कारणों पर भी कुछ ध्यान पड़ना ही चाहिये। शरीर और मन तथा तथागत, सभी भौतिक मण्डल का आपस में गहनतर संबंध है। एतदर्थ, हमें यह देखना चाहिये कि मनुष्य के इन दुःखों, और विपत्तियों क्लेशों तथा तथाविध सभी दुःखों की उत्पत्ति पदार्थवर्ग के कौन से स्थान से उद्भूत होती है।

यह भी ठीक है कि मनुष्य अपने कर्तव्य भूल गया है और अपने लक्ष्य को विस्मरण

कर चुका है। परन्तु यह विचार केवलमात्र शिक्षितों और विचारकों के लिए ही प्रचारार्थ उपयुक्त है, जिसका उपयोग किसी समय होता भी है। मैं तो इस विचार का हूँ कि मनुष्य ने केवलमात्र अपने ध्येय को तिरस्कृत करने मात्र से ही इस दुःख की भूमिका नहीं पाई यद्यपि उसने किसी ऐसे मार्ग का अवलम्बन भी किया जो, उसे अन्धकार और अज्ञान और तत्कथित दुःख की ओर ले गया। एक तो मियां बावरे, ऊपर खाई भांग। एक तो मनुष्य को यह ही नहीं पता कि वह कौन है और उसे क्या करना चाहिए और यह जीवन क्या और धर्म क्या है—उस पर भी यह महामारी उसपर आ गिरी और शून्य महल में प्रवेश करने के स्थान पर जगमगाते कूप में जा गिरा। यह है आज की दशा।

यदि पूछो कि इसका स्पष्टीकरण क्या है तो मैं आपको अवश्यमेव कठोर सत्य बतलाना चाहता हूँ कि यह हमारे दुर्व्यसन हैं, जिनके कुपरिणाम स्वरूप हम आज की स्थिति का सामना करने पर विवश हो रहे हैं। यदि हममें कोई अनुचित व्यसन नहीं होते तो हमने कितना धन बचाया होता और उस धन को निर्माण कार्यों में व्यय किया होता। यदि हम इन दैनिक-व्यसनों पर दृष्टिपात करें तो हम जान पायेंगे कि हमारे शारीरिक-क्षेम को, मानसिक-बल को तथा गृहसंबंधी सभी सुदृढ़-विचारधाराओं को हमारे व्यसनों ने ही नष्ट कर दिया है। न होते यह व्यसन, न बनते हम फक्कड़। कई लोगों के मुंह से मैं इस उक्ति को सुनता ही रहता हूँ। परन्तु, कब होगा इनसे छुटकारा? ऐसा मैंने किसी को कहते नहीं सुना।

धूम्रपान

दुर्व्यसनों से जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे मनुष्य की पारिवारिक-कुशलता को प्रभावित किये बिना नहीं रहते। विचार करने पर वे अत्यन्त निर्बल और तुच्छ जान पड़ते हैं। परन्तु एक बार उनकी शरण में जाओ तो पता चलेगा कि कितनी गहराई उनमें है। धूम्रपान भी इसी प्रकार का एक पारिवारिक-कुख्याति प्राप्त दुर्व्यसन है, जिसने हमारी जनता के गालों को अन्दर खींच लिया है और नित्य बड़े आदर और सत्कार के साथ उनकी जेब भी खाली करता रहता है। डाक्टरों ने छानबीन की परन्तु उसका उपयोग कितनों ने किया? कितने सहस्र लोगों ने उनकी बात का अनुपालन किया? और मैं भी यह आवश्यक नहीं समझता हूँ कि यहाँ पर उसके गुण-दोषों का विवेचन हो। सभी लोग जानते हैं कि धूम्रपान करने से फेफड़ों की हानि और नयनों की ज्योति क्षीण होती है। वीर्य द्रवीभूत होने लगता है और सन्तान निर्बल और रोगी हो जाती है। स्मरण शक्ति का ह्रास हो जाता है और कफ के आधिक्य होने के कारण कोई भी भोजन अपना उचित प्रभाव नहीं देता।

सबसे बड़ा अवगुण इसमें यह है कि प्रत्येक व्यक्ति इस पर औसतन ८ आने प्रति-

दिन खर्च करता है। इस गणना के अनुसार विचार कीजिए कि ४० करोड़ जन-संख्या वाले देश की कितनी निधि राख हो रही है? क्या यह आर्थिक-दृष्टिकोण से अवाँछनीय नहीं? इसमें भी लगभग आधी से अधिक निधि विदेशों में चली जाती है। आर्थिक हानि के अलावा हम कई रोगों के लक्ष्य होकर, अपने भाग्य को मंद कर देते हैं। इस पर भी हमारा ध्यान इस विषय पर नहीं जाता कि हम इस व्यसन को त्याग ही क्यों न दें। यदि दिन के ८ आने प्रति व्यक्ति के अनुसार हमारे परिवार में बच जायें तो हम कितना दूध और कितना फल और कितने पौष्टिक और सात्विक पदार्थों का सेवन कर सकते हैं। विचारक इसे कितना ही साधारण क्यों न समझें, परन्तु इसका विकसित रूप महाभयंकर और विनाशकारी है। मैंने तो कई मरणासन्न रोगियों को देखा है, जो अपने अन्तिम क्षणों में भी सिगरेट माँगते थे। कितनी गहरी वासना है!

भारत में तो यह एक प्रणाली ही हो गई है कि आये हुये मेहमान को 'फरमाइये' कहकर, सिगरेट देवें। विद्यार्थियों को देखिये, न जाने किस प्रकार ऐसी व्यवस्था कर लेते हैं कि दो चार चुस्कियां तो मिल जायं। माता-पिता भी कहते हैं कि होली में सिगरेट पीना तो रस्म-रिवाज है। धिक्कार है, ऐसे रस्म और रिवाजों को और उनके बनाने वालों को। कालान्तर में वे ही माता और पिता रोते हुये रस्म-रिवाज की ही दुहाई देते हैं। कितना विनाशकारी परिणाम है, केवल मात्र एक डिबिया का! माया कितनी प्रबल है और हम कितने निर्बल हैं!

मद्यपान

इसी प्रकार, किन्तु कुछ और उन्मादक और कुछ और विनाशकारी लक्षण लिए अनाज का सड़ा हुआ यह आसव है, जिसे मद्य कहते हैं। मालूम नहीं कि क्या गुण हैं इसमें? सिगरेट पीने से, कुछ लोग कहते हैं, खुलकर दिशात्याग होता है, परन्तु शराब पीकर क्या लघुशंका त्याग खुलकर होता है? यहां तक कि पवित्र स्थानों में भी मद्यालय खोलने की अंग्रेजी सरकार ने कोई मनाही नहीं की। वर्तमान भारत सरकार की कृपा-दृष्टि से कुछ दिन विज्ञापन चमके और कुछ शान्ति रही—परन्तु अब फिर वही रफ्तार, जो पहिले थी। शायद ही कोई भारतीय ग्राम ऐसा हो, जहां के लोग इस इल्लत से बचे हों।

मद्यपान से क्या हानियाँ होतीं हैं, उनका विचार करें तो एक महाभारत ही लिखा जा सकता है। परन्तु मुझे आश्चर्य है कि जो भारतीय दाने-दाने के लिए मुहताज होकर गलियों में भिक्षा मांगता है, वही रात को कैसे मदिरालय में कहकहे मारकर हँसता है। क्या यह किसी राष्ट्र के पतन का लक्षण नहीं? विज्ञ नेताओं ने मद्यपान की हानियों का जनता को दिग्दर्शन भी कराया, परन्तु हम विकासवादी जो ठहरे, अपने पूर्वजों के आदेश क्यों मानने लगे। मनुस्मृति ने स्पष्ट कह

दिया है, कि जो मद्यपान करता है, वह महापातकी है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि ऐसा मनुष्य दुःख ही भोगता है। विदेशी लोग भी तो पीते हैं और उनमें यह सभ्यता का एक लक्षण माना जाता है। पर क्या हम भारतीयों से यह सभ्यता सही भी जा सकती है? हमारी पारिवारिक स्थिति कैसी है? घर में सन्तान की शिक्षा के लिये तो कहा जाता है कि हम निर्धन हैं, शिक्षा-दीक्षा की कोई व्यवस्था नहीं कर सकते, परन्तु क्या आपने कभी भी यह सोचा है कि आप अपने दुर्व्यसनों का त्याग कर ही वह निधि सुरक्षित कर सकते हैं, जो केवल मात्र आपके ही परिवार के लिए शिक्षादि का पर्याप्त साधन नहीं होगी, अपि च आप सहस्रों और भी निर्धनों की सहायता कर सकते हैं? विचारक कहते हैं, कि भारत की आर्थिक स्थिति शोचनीय है और फिर भारत निर्धन है और पैसे-पैसे को रोता है, परन्तु मैं साहस-पूर्वक कहना चाहता हूं कि यह कहना सर्वथा उचित नहीं है। भारत अभी भी वही सोने की चिड़िया है, जिसे इतिहास दुहराते हैं। परन्तु भेद इतना ही है कि उस सोने की चिड़िया को मारपीट कर अपने विलासी जीवन का विषयाभूषण बनाया जा रहा है। मैं यह दृढ़ निश्चय के साथ कहता हूं कि हम यदि अपने दुर्व्यसनों का परित्याग कर अपना धन बचायें तो हमारी स्थिति सुधर सकती है और प्रत्येक भारतीय मालामाल हो सकता है।

मैंने श्रमिक समुदाय को देखा है, जो दिन भर अपने शरीर के रक्त को पसीने के रूप में बहाते हैं, परन्तु रात होते ही उसे गंगा की नाईं बहा भी देते हैं। उनके परिवार को देखिये, वही बाबा आदम के जमाने के चिथड़े पहिने हुए। क्या उनके बालक भी उन्हीं का आदर्श नहीं ग्रहण करेंगे? कहां रही सभ्यता, कहां रही संस्कृति—जैसा हम रात और दिन चिल्लाते रहते हैं। हमारे ही भाई अपने को दुराचार की ओर बहा रहे हैं और उसी को सच्चा आनन्द कहते हैं। देखते-देखते हमारे कितने सुन्दर घर बर्बाद हो गये, कितने बच्चे इसके परिणामस्वरूप अभी भी गलियों में मारे-मारे फिरते हैं। मैं अपने भाइयों से विनय करता हूं कि वे इस महान् कार्य में सहयोग दें, अपनी-अपनी ओर से घर-घर जाकर निम्न-श्रेणी के लोगों को सदाचार और सत्य-धर्म का उपदेश दें, जिससे हमारे देश का सांस्कृतिक उद्धार हो और हम विश्व के लिए आदर्श की शिक्षा प्रस्तुत करें।

जुआ

दीवाली इस महाविनाशकारी नाटक का मानों रंगमंच ही बन गया है। जिस दिन हमारा वित्तवर्ष प्रारम्भ होता है, उसी दिन इस विनाश का सूत्रपात भी होता है। प्रचलित दुर्गुणों में यह एक प्रमुख शैतान है, जो भाई-भाई की मर्यादा को नष्ट करा देता है। कितना आनन्ददायक है यह, परन्तु इसका परिणाम आप लोग जानते हैं? हमारा इतिहास इसका साक्षी है। न होती द्यूतक्रीड़ा

और न होता महाभारत का प्रलयंकर संग्राम, और न होती हमारे देश की सांस्कृतिक हानि।

इसका कोई-न-कोई उपाय होना चाहिये। यह कोई सरकार का ही काम नहीं। जनता के नेताओं को इसका बहिष्कार करना चाहिये। ग्राम-पंचायतों को इसका उत्तर-दायित्व अपने ऊपर लेना चाहिये, जिससे ग्रामों से इस बीमारी का प्रयाण हो। विद्यालयों में इस विषय की शिक्षा देनी चाहिये और साथ-साथ सचरित्रता का उपदेश भी बालकों को देना चाहिये। जुये के दुष्परिणामों का वर्णन कभी-कभी हमारे लिये लज्जास्पद भी होता है। काम, क्रोध, हत्या, चोरी और न जाने कितने विनाशकारी पाप इसमें अंतर्हित हैं। यह इन सब की जननी है।

जुआ खेलने से न तो कोई किसी प्रकार के लाभ का अधिकारी हुआ है और न होगा। उसका जीवन विषादमय हो जाता है। उसे सदा कोई-न-कोई चिन्ता संतप्त किये रहती है, सत् और असत् का विचार करने वाली बुद्धि नौ-दो-ग्यारह हो जाती है, उसे कर्म और कुकर्म का ज्ञान ही नहीं रहता। वह न तो जानता है माँ, बहिनों को और न देखता है अपने पिता और भाई को, और न उसे अपनी ही चेतना रहती है। वह दो नेत्रों का अन्धा और दो कानों का बहरा है। बुद्धि होने पर भी वह पशु से भी गया-बीता है। वह कहीं का भी नहीं रहता—यह उक्ति ही उसके लिये चरितार्थ होती है।

तब क्या उपाय हो

इस प्रकार के कई व्यसन हमारे विकास-वादी युग में आ गये हैं, जब कि हमारे पूर्वज सीधे-सादे, छल और प्रपंच से रहित, सदाचारी और दयालु, लोकोपकारी और सर्वभूतहितपरायण थे। क्या इस विकास का कोई मूल्य रहा? विकास का मूल्य तो तभी है, जब मनुष्य सत्य से महासत्य की ओर चले, मनुष्यत्व से देवत्वका मार्ग पकड़े और विश्व से मोक्ष की ओर प्रस्थित हो। विकास का मूल्य तो तभी महान् है, जब मनुष्य अपने-अपने जीवन को शान्ति और प्रेम से व्यतीत करे और दूसरों को दुःख न दे और सबके साथ प्रेम का व्यवहार करे। शास्त्र की मर्यादा, संतों की प्रतिष्ठा और देवताओं की उपासना ही हमारे विकास का सच्चा लक्षण हो सकता है। जीवन-यापन की कुशलता और संस्कृति-विकास की चातुरी ही हमारे विकास का क, ख, ग है। हम विश्व में रहें, परन्तु सदा सत्य-आचरण का पालन करें। जो वेदों ने कहा है, जो कुरान ने कहा है, जो बायबिल कहती है, जो जेन्दअवेस्ता ने कहा है, जो गुरुग्रंथ साहब ने कह दिया, और जो-जो हमारे हितपरायण महात्मा लोग कह रहे हैं, उस पर ही आस्था रखना और उसी को अपने जीवन की आधारशिला जानना ही हमारे जीवन को शान्ति का प्रतीक बना पायगा।

नित्य प्रति प्रातःकाल उठकर प्रतिज्ञा

(शेष पृष्ठ ३२ पर)

ओंग

भारत के दक्षिण-पूर्व में अंडमन नाम का टापू है। इस टापू से करीब-करीब प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। अंग्रेजों के शासन-काल में इस टापू को एक विचित्र कुख्याति मिली। भारत में जितने बुरे-बुरे खूनी मुजरिम थे, करीब-करीब सभी को इस टापू में भेजा जाता था। अंडमन मृत्यु का पर्याय समझा गया। जिसे मृत्यु-दंड मिलता था, अपील करने पर उसे आजीवन अंडमन में रहने की आज्ञा—नहीं नहीं, दंड—दिया जाता था। अंडमन आदमी इसलिए भेजा जाता था कि वहाँ की जलवायु स्वास्थ्यवर्द्धक नहीं है। लेकिन स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् अंडमन की यह कुख्याति घट गयी। अब वहाँ कैदी नहीं भेजे जाते हैं। भारत-सरकार ने कई हजार विस्थापितों को वहाँ भिजवाया है। उनके लिए नाना प्रकार की सुविधायें दी गयी हैं। कृषि, जंगल आदि के विकास के लिए विभिन्न साधनों के अतिरिक्त सरकार ने रुपये की मदद की है। जंगलों को साफ करने के लिए भारत से वहाँ बहुत-से हाथी भी भेजे गये हैं जो बड़े-बड़े वृक्षों को उठाकर एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाने का काम करेंगे। लेकिन आज भी, इतने घोर परिवर्तन के पश्चात् भी, अंडमन-संबंधी विचार धारा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। आज भी लोग दंड की पराकाष्ठा को व्यक्त करने के लिए कह ही बैठते हैं—अंडमन भेज देने लायक हो।

इस टापू में नाना तरह के लोग बसते हैं। नाना तरह की इनकी वेष-भूषा होती है और नाना तरह की इनकी भाषायें होती हैं। इस टापू में बहुत-सी आदिम-जातियाँ भी बसती हैं, जिनके बारे में अभी तक दुनिया को बहुत ही कम मालूम है। अभी-अभी कुछ ही दिन हुए हैं कि भारत-सरकार के मानव-विज्ञान-शास्त्र विभाग के कतिपय विद्वान् अंडमन गये। उन्होंने कठिन परिश्रम कर काफी खोज की, लेकिन उन्हें इस संबंध में बहुत-सी बाधायें भी हुईं। कोई-कोई जाति जैसे वहाँ की 'जारवा' जाति—इतनी खूंखार है कि कोई भी सजीव उनके पास से वापस नहीं लौट सकता। एक विशेष जाति का उन्होंने पता लगाया। इसका नाम 'ओंग' है। जैसा कि पता लगा है उनकी जन-संख्या केवल पैंतीस है! यदि इनके अस्तित्व की रक्षा नहीं हुई या यों कहा जाय कि यदि वे अपने को सबल बनाकर अपनी रक्षा नहीं कर सके तो कुछ ही दिनों में इस जाति का अस्तित्व ही इस संसार से मिट जायगा।

कद में ये न बड़े होते हैं और न भूरियों

की तरह छोटे-छोटे ही। औसतन ये मझोले कद के होते हैं। रंग इनका काला होता है। घुंघराले होने के कारण इनके बाल काफी छोटे-छोटे दीखते हैं। पर उतने छोटे ये होते नहीं हैं। दूर से देखा जाय तो ऐसा दीखता है कि अपने सपाट सिर में इन लोगों ने काले कपड़े बाँध रखे हैं। औरतों के बाल भी ऐसे ही होते हैं। पुरुष अपने सिर के अगले भाग के बाल को बिलकुल काट देते हैं। काटने के लिए न तो ये कैंची का प्रयोग करते हैं या न कोई उस्तरे आदिका। लोहे पर शान चढ़ा कर ये कंघी के रूप में रखते हैं और उसी से बाल आदि छिलते हैं। इनकी नाक का उपरी भाग चिपटा रहता है और अन्त में उठा हुआ।

वस्त्र आदि ये नहीं पहनते। इनके यहाँ अभी इस सभ्यता की एक किरण भी नहीं झलकी है। आज जब कि सभ्य दुनियाँ में वस्त्रों पर नाना प्रकार के प्रयोग हो रहे हैं, आज जब कि यह प्रगतिशील संसार आदिम युग, लोहा युग तथा अन्य युगों को पार करता हुआ अणु-युग की ओर तीव्रता से बढ़ रहा है, अंडमन के टापू में अभी भी यह जाति आदिम युग की याद दिलाती है जबकि उस युग के निवासी जंगलों में नंगे आखेट किया करते थे। आप इस 'ओंग' जाति के लोगों को देखकर कदापि नहीं कह सकते कि ये इस युग के आदमी हैं। आज भी ये प्रायः नंगे रहते हैं। पुरुष या नारी सभी ही अपनी कटि में हल्की घास की बनी एक रस्सी बाँधते हैं और गुप्तांगों के छिपाने के लिए ठीक उसके सामने घास का एक गुच्छा वहाँ लटका देते हैं। बस यही उनका वस्त्र है। इसके अतिरिक्त उनके शरीर पर कोई भी आवरण नहीं रहता। नारियों के वक्षस्थल सदा खुले रहते हैं। बच्चों को ये इधर की आदिम-जातियों की तरह पीठ पर नहीं बाँधतीं। जनेऊ-सी एक हल्की पतली रस्सी ये गले से लटका लेती हैं और गोद पर उसी से उसे बाँध रखती हैं। हाथ के पहुँचों में पुरुष या नारी दोनों राखी-सी पतली रस्सियाँ बाँधती हैं। अब जबकि यहाँ के कुछ लोग वहाँ बस गये हैं तब इन्हें कभी-कभी कपड़े भी मिल जाते हैं। पर ऐसा बहुत ही कम होता है।

इस जाति का कोई विशेष घर—स्थान नहीं है। महाभ्रमणशील यह जाति है। आज यहाँ, तो कल वहाँ। आजीविका के लिए इन्हें आखेट या मछली पर निर्भर होना पड़ता है। या तो जंगल से जानवरों को मारकर लायें या नदी से मछलियों को लावें। जंगल में ये धनुष और वाण का प्रयोग करते हैं। धनुष-वाण इनके बहुत ही छोटे होते हैं। नादियों में डेंगियों का प्रयोग करते हैं। मछली जब साँस लेने को ऊपर आती है तो ये उसे एक तेज बर्छी से वेध देते हैं।

इनके रस्मों-रिवाज के विषय में बहुत-कुछ ज्ञात नहीं है। हाँ, इनमें बहु-विवाह की प्रथा नहीं है। इनका एक ही विवाह होता है और पति-पत्नी एक दूसरे में बड़ी ही निष्ठा रखते हैं। तलाक तो इनमें होता ही नहीं।

इनकी भाषा भी बड़ी विचित्र है। पता नहीं ये कहाँ की भाषा बोलते और समझते हैं। भारत-सरकार के एक भाषा-विज्ञान पंडित का कहना है कि इनकी भाषा का कोई भी संबंध हमारी भाषाओं से नहीं है। पता नहीं उनकी यह उक्ति कहाँ तक ठीक है। जो भी हो मानव-विज्ञान-शास्त्रियों को इन पर कुछ और प्रकाश देना चाहिए। सरकार को भी ऐसा उचित प्रबन्ध करना चाहिए जिसमें इस जाति का अस्तित्व स्थापित रहे और यह प्रगति करे। —आदिवासी

दुर्व्यसन और उनसे मुक्ति के उपाय……

करना कि अपने दिन को आनन्द से व्यतीत करेंगे और अमुक-अमुक पापकर्म नहीं करेंगे, सबसे मितभाषण और मृदुभाषण करेंगे। रात्रि को सोने के पूर्व ही अपने दिन-भर के किये कर्मों का विवेचन करेंगे तो सत्यतः परिज्ञान हो जायगा कि क्या किया और क्या नहीं करना चाहिए था। अपने-अपने इष्ट को प्रेम और भक्ति से पूजना और सदा-सर्वदा, प्रत्येक क्षण, उसी को सबमें व्यापक देखने की चेष्टा करना। योगासनों का मृदु अभ्यास करने से संकल्प शक्ति का लाभ होगा और अपने दुर्गुणों को परिहार के योग्य बन सकते हैं। यह मेरा दीर्घ जीवन का अनुभव है। और किसी भी उपाय से, केवल ईश्वर की इच्छा ही हो तो दूसरी बात, इनका त्याग नहीं कर सकेंगे। अपनी दिनचर्या बनाओ और तदनुसार व्यवहार करो। कुछ दिनों तक असफलता भी मिले तो हताश नहीं होना। टेक लगाकर कटिबद्ध होना ही हमारा कर्तव्य है। फल, फूल, दूध तथा अन्य सात्विक और पौष्टिक-भोजन करने का अभ्यास डालना। कुसंग से भागना। अपने अवकाश के समय सद्ग्रन्थों का मनन करना, इसी से शक्ति प्राप्त होगी। मेरे वचन सत्य समझना। कितने ही लोग इनसे महान् विनाशकारी व्यवहारों से मुक्ति पा चुके हैं। सदाचार, सद्भाषण और सद्श्रवण सफलता की कुंजी हैं। ईश्वर-चिन्तन और उपासना और उसकी व्यापकता का दर्शन शक्ति और बल देने वाला है। यदि अपने जीवन में कभी व्यसनों की दासता स्वीकार की है तो भी मैं आश्वासन देता हूँ कि उपर्युक्त नियम से इन सभी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर सकोगे। ईश्वर की कृपा वहीं होती है, जहाँ मनुष्य की संकल्प-शक्ति का उदय होता है। जहां संकल्प, वहां सफलता—यही हम भारतीयों का श्रुति-सिद्धान्त है।

★

धर्मदेव शास्त्री

किंनर

हिमालय अथवा हिमाचल :—

हिमालय और हिमाचल समान अर्थ वाले शब्द हैं। हिमाचल भारत का सदा शुभ्र उन्नत मस्तक है। पुराना होने पर भी हिमालय नित्य नूतन है। हिमालय ने भारत की भूमि को ही हरा भरा किया है इतना ही नहीं भारतीय संस्कृति और सभ्यता को सरस बनाने वाला भी हिमाचल ही है। हिमाचल का हृदय सरस है जबकि उसका शरीर कठोरतम है। कल-कल निनाद करने वाली कम चौड़ी होने पर भी तेजी से दौड़ने वाली अनेक नदियाँ हिमाचल के हृदय का परिचय देती हैं। हिमाचल का नाम लेते ही प्रत्येक भारतीय का मस्तक गौरव से ऊँचा हो जाता है। महाकवि कालिदास ने कुमार संभव महाकाव्य का प्रारंभ हिमालय की प्रशंसा से किया है। महाकवि ने हिमालय को देवात्मा शब्द से सम्बोधित करके उसे पृथ्वी का मेरु-दंड बताया है। आज पृथ्वी धन-धान्य और रत्नों से भरपूर है। पृथ्वी को यदि गौ माना जाय तो महान् रत्न और औषधि आदि बहुमूल्य पदार्थ इस गौ का अमृत दूध है परन्तु महाकवि के शब्दों में पृथ्वी माता को पन्हाने वाला बछड़ा हिमालय ही है।

कभी हिमाचल सर्वथा सुरक्षित दुर्गमय होने से राजनीति की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था। महाभारत के समय में और उसके बाद भी प्रधान राजा हिमालय में अपने दुर्ग अथवा गढ़ बनाते थे। गढ़वाल का नाम-करण इसका प्रमाण है। वृहत्तर हिमालय के विविध भागों में प्राचीन राजाओं के भग्नावशेष किले मिलते हैं। किलों से सम्बन्धित अनेक कथाएं भी सुनने को मिलती हैं।

कभी हिमालय अलंघ्य माना जाता था परंतु आज विज्ञान की उन्नति के युग में हिमाचल के उतुंग शृँग भी अलंघ्य और अनाक्रमणीय नहीं रहे। विज्ञान ने देश पर ही नहीं काल पर भी कुछ हद तक विजय प्राप्त की है। विज्ञान के कारण दूरी और विलंब या अंदाजा झूठा बन गया है परंतु किंनर देश की यात्रा करने वाले को एक बार तो विज्ञान के सब चमत्कार झूठे प्रतीत होते हैं क्योंकि यातायात की विविध सुविधाओं से सुपरिचित शहरी आदमी के लिये शिमला से १४० मील की दूरी मंगल-ग्रह की दूरी से कुछ ही कम प्रतीत होती है। स्मरण रहे किंनर देश का केन्द्र स्थान चीनी, शिमला से १४० मील दूर है।

हिमाचल प्रदेश :—

हिमालय अथवा हिमाचल समानार्थक शब्द होने पर भी हिमाचल प्रदेश शब्द

१५ अप्रैल १६४८ से शिमला और पूर्वी पंजाब के ३० विलीन छोटे-बड़े राज्यों के समूह के ही अर्थ में व्यवहृत होने लगा है। इनमें मुख्य उल्लेखनीय राज्य रामपुर बुशहर, सिरमौर, मंडी, चम्बा और जुब्बल हैं। ८ मार्च १६४८ को स्वतंत्र भारत की सरकार और कुछ राज्यों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार राज्यों का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया और राजाओं के सब अधिकार भारत की सार्वभौम सत्तावाली सरकार को प्राप्त हो गये। राजाओं के लिये निश्चित धन राशि वार्षिक भत्ते के रूप में भारत सरकार ने देने का उत्तरदायित्व लिया। हिमाचल प्रदेश के रूप में विलीन होने वाले ३० देशी राज्यों में अधिकतम भत्ता मंडी के राजा को मिलेगा जो दो लाख बीस हजार रुपये वार्षिक है। इसके बाद सिरमौर के महाराजा का नम्बर हैं उन्हें एक लाख ३५ हजार रुपये वार्षिक देने का भारत सरकार ने भार वहन किया है। लम्बाई-चौड़ाई में बड़ा होने पर भी रामपुर बुशहर के राजा को केवल अस्सी हजार रुपये ही वार्षिक मिलेंगे क्योंकि राज्य का राजस्व (रेवेन्यू) कम रहा है।

हिमाचल प्रदेश में हाल ही नवीन शासन विधान लागू होने पर २६ जनवरी १६५० को कोटगढ़ और कोटरवाई भी मिला दिये गये हैं। यह पूर्वी पंजाब के शासनाविष्ट प्रदेश थे। इनमें से कोटगढ़ केवल ६ वर्ग मील का बहुत छोटे कलेवर वाला प्रदेश सेव की खेती के कारण उत्तर भारत में बहुत प्रसिद्ध है।

हिमाचल प्रदेश का क्षेत्रफल दस हजार छः सौ वर्गमील है जबकि प्रदेश की जन-संख्या नौ लाख पैंतीस हजार से कुछ अधिक है।

हिमाचल प्रदेश में विलीन बुशहर राज्य का क्षेत्रफल ३ हजार ८ सौ वर्गमील है जबकि राज्य की कुल जनसंख्या एक लाख १२ हजार है। इसमें किंनर भाषा-भाषी प्रदेश का क्षेत्रफल करीब २०६० वर्गमील है जबकि जनसंख्या किंनर प्रदेश की केवल ३५ हजार है। किंनर प्रदेश के लिये लोग कुनौर और किंनरों के लिये कुनौरा शब्द का प्रयोग करते हैं। आगे हम दोनों अर्थों में किंनर शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

किंनर की सीमा :—

किंनर के पूर्व में पश्चिमी तिब्बत, पश्चिम में कुल्लू (तहसील लसराज जिला कांगडा, पंजाब) उत्तर में लाहोल और स्पिति (कांगडा) और दक्षिण में रामपुर तहसील है।

भारत का सीमान्त :—

किंनर हिमाचल प्रदेश का ही नहीं भारत का भी सीमांत है। इस प्रदेश की सीमा तिब्बत के साथ नमन्या ग्राम के पास मिलती है। नमन्या किंनर देश का अंतिम ग्राम है। उसके पास ही शिवकी नाम का ग्राम तिब्बत की सीमा में है। यहां भारत और तिब्बत की सीमाएं निराबाध रूप में मिल रही हैं।

बहुत प्राचीन काल से तिब्बत और भारत का व्यापार इस मार्ग से होता आ रहा है। महा राजा अशोक के समय में भारत की सीमा कालसी तक थी। उन दिनों कालसी से ऊपर का सुविशाल पार्वतीय भाग महाचीन साम्राज्य के अन्तर्गत था।

तिब्बत और किंनर

में धर्म, भाषा और संस्कृति की दृष्टि से बहुत कुछ साम्य है। फिर भी किंनर देश के निवासी तिब्बत निवासियों से अपने आपको सांस्कृतिक दृष्टि से उच्च मानते हैं। रामपुर बुशहर से १२ मील आगे सरहान है जहाँ कुछ वर्ष पूर्व तक बुशहर राज्य की राजधानी थी। सरहान से आगे किंनर देश की सीमा में प्रवेश करते ही बौद्ध धर्म का प्रभाव दीखने लगता है। तिब्बती लिपि में मणिप-द्मेहुम मंत्र अनेक स्थानों पर अंकित है। चीनी में तो बीच मार्ग में दो स्थानों पर पचासों पत्थर संगृहीत हैं जिनमें उक्त मंत्र खोदा हुआ है।

सामाजिक रीति रिवाज, खानपान, और वेश-भूषा में तिब्बत और किंनर में बहुत कुछ साम्य है फिर भी दोनों में एक बड़ा अन्तर यह है कि तिब्वत में जाति भेद अथवा वर्ण भेद नहीं है जबकि किंनर में नमन्या तक राजपूत, काली, वाढ़ी, लोहार और रेढ़ जातियाँ पाई जाती हैं जिनमें परस्पर विवाह संबंध नहीं होता। वस्तुतः मानव ने आर्थिक और सामाजिक विकास के साथ विविध पेशे और कार्य शुरु किये। यह सब मानव के विकास का स्वभाविक परिणाम था। प्राचीन आर्यों ने इसको ही वर्ण व्यवस्था कहा है। बहुत दिनों तक वर्ण भेद शुद्ध वृति भेद के आधार पर चलता रहा उसमें जाति जन्म का कोई महत्व नहीं था। विवाह और अन्य सामाजिक प्रवृतियों के साथ भी वर्ण का वास्ता नहीं था। बाद में यह व्यवस्था जन्म के ही आधार पर चलने वाली कोरी परम्परावादी रुढ़ि रह गई है। तिब्बत को देखने से प्रतीत होता है कि उसकी अपेक्षा किंनर में सांस्कृतिक तथा आर्थिक बुद्धि विकास अपेक्षाकृत अधिक है। यह प्राचीन आर्य धर्म की ही देन है। बौद्ध धर्म को भी हम प्राचीन आर्य धम की एक शाखा मानते हैं। अहिंसा, तप, और संयम जैसे आर्य धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को सर्वसाधारण अशिक्षित जनता में कुछ भी व्यावहारिकता देने का श्रेय बौधधर्म को ही है।

हमने देखा है किंनर और तिब्बती अनेक स्त्री पुरुष उक्त मंत्र का जाप करते हैं। पाप कर्मों से विमुख रहने में उन्हें धर्म से प्रेरणा मिलती है।

तिब्बती और किंनर :—

सांस्कृतिक दृष्टि से समानता होने पर भी किंनर तिब्बतियों से आकार-प्रकार में भिन्न हैं। किंनरों की आकृति प्राचीन आर्यों के समान है। उनका कद लम्बा है। परन्तु तिब्बत के निवासी अपेक्षाकृत छोटे कद के हैं। चेहरा देखते ही दोनों में भेद स्पष्ट हो जाता है।

अश्व मुख :—

महाकवि कालीदास ने किंनरों को अश्व मुख कहा है। घोड़े की तरह किंनरों का लम्बा मुख देखकर हमें महाकवि की बात सत्य प्रतीत हुई। किंनर में घोड़े पालने का भी शौक है।

किंनर और वानर :—

वानर का शब्दार्थ है आधा आदमी परन्तु किंनर का अर्थ है आधा देव। किंनर आदमी और देव के मध्य में हैं। बहुत पुरानी जाति होने के अतिरिक्त किंनरों में अतिमानव सौन्दर्य है। किंनर नारियां के कंठ असाधारण रूप से मधुर हैं। इतना महीन कंठ स्वर हमने अन्यत्र नहीं सुना।

गरीबी होने पर भी इस प्रदेश में चोरी नाम मात्र को है। हमने अपनी यात्रा के दौरान में देखा है भूखे होने पर भी लोग सड़क पर रखे दूसरे के अनाज को नहीं चुराते। बहुपतित्व होने पर भी स्त्री और पुरुषों में व्यभिचार की मात्रा नगन्य है।

स्त्रियां इस प्रदेश में सभी जातियों में शराब नहीं पीतीं। वह किसी भी प्रकार का नशा सेवन नहीं करतीं। यह सब बातें आज के युग में अपने आपको सभ्य कहने वाले समाज में भी नहीं है। किंनर में यह है। इस लिए यह प्रदेश मनुष्यों से उत्कृष्ट श्रेणी के जीवों का है।

किंनर और प्राचीन साहित्य :—

बहुत प्राचीन काल से किंनर उत्कृष्ट जाति मानी गई है। पुरानों में और महाभारत में ही नहीं इससे पूर्व उपनिषदों में भी किंनरों का उल्लेख मिलता है। देव और दानव दो भागों में मनुष्यों को विभक्त करने वाले प्राचीन साहित्यकारों ने किंनर को गन्धर्व, यक्ष के समान देव जाति में गिना है।

किंनर का उल्लेख प्राचीन साहित्य में नृत्य, स्तुति और संगीत जैसी कला के साथ मिलता है। यह जाति सदा से शान्तिप्रिय और कला प्रेमी रही है। आज भी अपनी प्राचीन परम्परा को यह जाति सुरक्षित रखे हुए है।

परन्तु :—

किंनर देश में जाकर जो निर्धनता दिखाई देती है वह हृदय विदारक है। हमारे विचार से निर्धनता के दो रूप होते हैं। एक भौतिक अथवा आर्थिक निर्धनता दूसरी बौद्धिक अथवा मानसिक निर्धनता। किंनरों में दोनों प्रकार की निर्धनता पाई जाती है। हमें यह देखकर बहुत दुःख हुआ कि आज औसत किंनर जो खाना खाता है वह इतना ही जिससे मनुष्य मरे नहीं। जीवन योग्य भोजन उन्हें नहीं मिलता। जंगली घास पत्ती और कड़वे फलों को भोजन के रूप में लेने वाले अनेक किंनर हमने अपनी आखों से देखे हैं।

किंनर से सम्पर्क :—

गत तीन वर्षों से सर्दियों में कालसी आने वाले अनेक किंनर मित्र मुझे चीनी तक आने का निमंत्रण दे रहे थे। इसबार गरमियों में इधर जाने की इच्छा जब मैंने पूज्य ठकर

बापा को व्यक्त की तो वह बहुत प्रसन्न हुए। बापा का जीवन दरिद्र नारायण की सेवा में ही बीता है। बापा के कहने पर श्री छगन लाल के० पारीख भी चीनी तक मेरे साथ चले। पारीख जी ५६ वर्ष की आयु के वृद्ध होने पर भी सामाजिक सेवा की अनुकरणीय लगन से सुदूर किंनर देश तक खुशी-खुशी चले।

प्रति वर्ष किंनर शीतकाल में अपनी भेड़ बकरियों को लेकर नीचे गरम स्थानों में चले जाते हैं। ऐसे ही स्थानों में कालसी प्रमुख है। शताब्दियों से किंनर और कालसी का यह संबंध चलता है। कभी कालसी सुदूर हिमालय और मैदान का प्रधानतम व्यापारिक स्थान था। आज तो कालसी व्यापारिक दृष्टि से शून्य है। सांस्कृतिक दृष्टि से महाराजा अशोक के पत्थर पर खुदे चौदह धर्म लेख जमीन से ऊपर सिर उठाये जमुना नदी के किनारे पर खड़े हैं। २३ शताब्दी पूर्व के यह लेख एक वेडोल पत्थर पर खुदे हैं। स्वयं वेडोल पत्थर पर अंकित होने पर भी यह लेख भारतीय संस्कृति की एकरूपता और सरलता के प्रबल प्रचारक हैं।

विगत दो वर्षों से आश्रम में एक किंनर अपनी पत्नी के साथ शीतकाल में रहता है। यह किंनर कोली जाति का आदिवासी हरिजन है। जितना समय यह दम्पती आश्रम में रहते हैं आश्रमवासियों के लिये अनवरत कार्य की प्रेरणा मूक रूप से निरन्तर कार्यरत रह कर करते हैं।

किंनर शब्द सुनते ही भेड़ बकरीवाले भोले भले और पांव से सिर तक ऊनी वस्त्र धारण किये स्त्री पुरुषों की स्मृति हो जाती है।

किंनर देश की यात्रा में हमने जो जानकारी प्राप्त की है, उसके आधार पर संक्षेप में जो लिखा जा रहा है वह रोचक होने के साथ ही यदि देशवासियों का ध्यान इस अभागे प्रदेश की ओर आकर्षित कर सके तो अपना परिश्रम हम सफल समझेंगे।

कालचक्र अनवरत गति से चल रहा है। कभी किंनर जाति उन्नत अवस्था में रही होगी। आज उसकी हालत सभी दृष्टियों से अवनत और शोचनीय है। देश के अन्य आदिवासी और पिछड़े प्रदेशों की गिनती में किंनर देश को किसी से पीछे नहीं रखा जा सकता। आशा करनी चाहिये कि स्वतंत्र भारत की सरकार और जनता सुदूर हिमाचल के सीमान्त पर अवस्थित अभागे किंनर की दशा सुधारने में उचित ध्यान देंगे।

वेश-भूषा और भाषा :—

किंनर स्त्री पुरुषों के वस्त्र ऊन के होते हैं। उनकी खेती ही उनका मुख्य धंधा है। खेतों में काम करते समय तथा भेड़ बकरी चुगाते समय भी स्त्री पुरुष और बालक अपनी छोटी कंडी साथ रखते हैं। कंडी में कुछ ऊन और एक लकड़ी की तकली रहती हैं। जब भी मौका मिलता है कातना शुरु कर देते हैं। चलते हुए भी ऊन की तकली मीलों तक चलाते जाते हैं। ऊन का महत्व

किंनर के लिये बहुत है। इसलिये भेड़ पालने का व्यवसाय यहाँ प्रधान है। स्त्री पुरुष दोनों ही सिर पर ऊन की टोपी लगाते हैं जिसे किंनर भाषा में ठेपा कहा जाता है। यह टोपी फेल्ट कैप की तरह होती है।

टोपी के साथ तीन अंगुलि चौड़ी पट्टी जुड़ी रहती है जो शीतकाल में उलटाने से कनटोप का काम देती है। माथे के ऊपर टोपी का जो भाग आगे दीखता है उसमें मलमल का कपड़ा प्रत्येक किंनर लगाता है। यह स्त्री पुरुष दोनों के लिये समान है। किंनर स्त्री भारत की अन्य स्त्रियों की भांति वेणी बनाती है। टोपी लगाने पर भी पीठ के पीछे लटकनेवाली यह वेणी अथवा चोटी ही स्त्री की पहिचान है। टोपी के बिना कोई भी नहीं रहता। स्त्रियों में पर्दा करने की बात का भी यहाँ ज्ञान नहीं है।

स्त्रियाँ ऊन की साड़ी लगाती हैं जो कम्बल की तरह मोटी होती है। समय पड़ने पर यह ऊन की साड़ी धोकर कम्बल अथवा अन्य वस्त्र के लिये गरीब किंनर बेच भी देते हैं। साड़ी के लिये पृथक रूप से कुछ विशेष वस्त्र नहीं बनाया जाता। ऊनी साड़ी को यहाँ की भाषा में दोड्र कहा जाता है। दोड्र और ठेपा के अतिरिक्त स्त्रियाँ शरीर पर चोली भी लगाती हैं।

खेत में काम करते समय गर्मियों में प्रायः स्त्रियाँ चोली उतार कर दोड्र से चोली का काम भी लेती हैं। पुरुष ऊन का पाजामा और ऊनी अचकन लगाते हैं। अचकन के नीचे कमीज लगाने का रिवाज आमतौर पर नहीं है। अचकन का रिवाज यहाँ बहुत पुराना है। अचकन को यहाँ की भाषा में छुवा कहा जाता है। पुरुष जूता भी लगाते हैं जिसे यह लोग स्पन्द कहते हैं। जूता भी उनका ऊन का ही होता है। बरफ में चलने के लिये बकरी के बालों का विशेष जूता बनाया जाता है जो बरफ पर चलने में कभी नहीं बिगड़ता गरम भी रहता है। पत्थरों में जाने से तत्काल यह जूता फट जाता है। साधारणतया जो जूता बनता है उसके तलवे चमड़े के होते हैं और सब ऊन के तागे से बुना होता है।

जौनसार बावर तथा अन्य पर्वतीय भागों में स्त्रियाँ सिर पर रुमाल बाँधती हैं जिसे जौनसारी ढाट्र कहते हैं। सरहान तक यही प्रथा है, परन्तु किंनर देश के सर्वप्रथम गाँव चौरा से ही यह बात नहीं दिखाई देती। स्त्रियाँ भी यहाँ पुरुषों की भाँति टोपी लगाती हैं।

कानों में काँटे की तरह का आभूषण प्रायः सभी स्त्रियाँ लगाती हैं। आभूषण चाँदी के होते हैं। गरीब लोग कम मूल्य की धातु के आभूषण भी लगाते हैं। कुछ धनी लोगों की स्त्रियाँ सोने के आभूषण भी लगातीं हैं। हरिजन स्त्रियां अब तक यहाँ की प्रथा के अनुसार सोने के आभूषण नहीं लगा सकती थीं परन्तु राज्यों के विलीन होने के साथ यह बात अब कम हो रही है।

किंनर की भाषा स्वतंत्र है। इसका नाम हमस्कत है जबकि किंनर से आगे तिब्बती भाषा को व्यवस्कत कहा जाता है। हमस्कत की लिपि भी व्यवहार में नहीं आती। हमस्कत में कोई प्रकाशित अथवा लिखित साहित्य नहीं हैं। लोकगीतों के रूप में यह साहित्य अमर है। आमतौर पर किंनरों में नागरी लिपि का प्रचार है। हमस्कत भाषा के कुछ शब्द हिन्दी अर्थ के साथ हम उद्धृत करते हैं :—

	किंनर में		हिन्दी में
१	ती	...	पानी
२	किम्	...	मकान
३	बोठंग	...	पेड़
४	लठरी	...	लोटा
५	नंग	...	थाली
६	अमा, ओऊ	...	माता
७	ब्बा	...	पिता
८	दाऊब	...	बहिन
९	साको मित्तर	...	साला
१०	तैते	...	दादा
११	तेगो	...	दादी
१२	गोनै	...	औरत

ब्राह्मण नहीं होता :—

किंनर में ब्राह्मण नहीं होता। विवाह, नामकरण और अन्य संस्कार अग्नि की साक्षी के बिना धूप आदि से आपस में ही हो जाते हैं। किसी पुरोहित की इसके लिए आवश्यकता नहीं होती।

बौद्धधर्म के गुरु लामा लोग इधर प्रायः प्रत्येक ग्राम में हैं, वह भी संस्कार करा लेते हैं।

ऐतिहासिक सामग्री :—

किंनर की पुरानी राजधानी कामरु है। जब किंनर में बुशहर के राजा का राज्य नहीं था तब कामरु में ठाकुरों का राज्य था। यहाँ प्राचीन किलाहै जो प्रागैतिहासिक काल का बताया जाता है। रामपुर बुशहर के विलीन होने से पूर्व आजन्म कैद के अपराधी को राज्य की ओर से कामरु में रखा जाता था। चारों ओर से बंद ऊँची दीवारों के भीतर डालने के लिये कोई दरवाजा नहीं था। उसे ऊपर से ही रस्सों के द्वारा भीतर डाला जाता था। खाना भी इसी प्रकार पहुँचाने की व्यवस्था रहती थी। एक बार भीतर डाला हुआ कैदी जीता जागता बाहर नहीं आता था। आखिर आजन्म कारावास जो ठहरा।

बुशहर राज्य की गद्दी पर बैठते समय उत्तराधिकारी की गद्दीनशीनी का समारोह रामपुर के समान कामरु में भी होता था।

चीनी किंनर का केन्द्र और महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ महासू जिले की एक तहसील का केन्द्र है। चीनी में बाणासुर का किला है।

सतलज नदी के किनारे चीनी से १८ मील दूर मोरंग में पाडवों का किला है। अज्ञातवास के दिनों में एक ही रात में यह किला पांडवों ने बनाय था, ऐसा कहा जाता

है। इसी प्रकार चीनी से ३२ मील दूर लाभरंग में भी पांडवों का किला बताया जाता है।

पांडव संबंधी गीत किंनर देश में विवाह के बाद प्रथम रात्रि को गाये जाते हैं। यह गीत सूर्योदय से पूर्व समाप्त करने की प्रथा है। किंनर में बहुपति प्रथा आमतौर पर प्रचलित है। इसका कारण पांडव संस्कृति भी हो सकता है।

देवता और उनकी पूजा :—

पुरानी अर्द्ध विकसित जातियों के अध्ययन में उनके देवताओं का अध्ययन महत्वपूर्ण होता है। उत्तराखंड को देव भूमि कहा जाता है। किंनर नाम में ही देव भूमि का संकेत है। देव भूमि का और चाहे कुछ अर्थ हो किंनर इस अर्थ में अवश्य देव भूमि है कि यहाँ असंख्य देवताओं की पूजा होती हैं। ग्राम-ग्राम में पृथक देवता हैं। देवताओं के नाम जायदाद जागीर लगी है। यहाँ के लोग देवताओं से बहुत डरते हैं और उन्हें नाराज न होने देने के लिये पूरी कोशिश करते हैं। वैसे तो पहाड़ में सर्वत्र देवताओं का आधिपत्य है परन्तु किंनर में तो देवता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दखल रखता है। यहाँ का सच्चा राजा देवता है। वह वैद्य भी है और जीवन-मरण का अधिपति भी। देव भूमि किंनर देश देवी देवताओं की पवित्र दासता में बंधा है। एक अध्यापक ने हमसे ऊर्नी के पास पूछा 'शास्त्री जी, यह देवता है क्या, देवता यहाँ स्कूलों का भी विरोध करते हैं। इनसे छूटने का क्या उपाय है?' प्रश्नकर्त्ता अध्यापक मैट्रिक परीक्षोत्तीर्ण हैं

मैंने उत्तर दिया 'देवता एक ही है वह है परमात्मा और देवी देवता मनगढंत हैं। यह सब पेट भरने के तरीके लोगों के बनाये हुए हैं। मेरे कथन पर अध्यापक को विश्वास नहीं हो रहा था।' वह बोला 'देवता के विरुद्ध बोलने का किसी को यहाँ हक नहीं। देवताओं का इधर बड़ा भारी आतंक है।'

१४ मई को हमने दलान से रामपुर जाते हुए एक ग्राम में देवता को नाचते हुए देखा। पालकी पर बैठाकर देवता के भगत उसे ऐसे हिला रहे थे जैसे देवता नाच रहा हो। देवता के बड़े छत्र को भी घुमा कर नचाया जा रहा था। जब कभी किसी को कोई प्रश्न पूछना हो तो देवता के हिलने-डुलने से उत्तर का अनुमान लगाया जाता है। इस प्रकार देवता बोलता भी है।

किंनर का प्रधान देवता कोठी की देवी है। इसके अतिरिक्त कामरु में बद्रीनाथ, चौगांव में महेश्वर तथा सांगला में नागस देवता भी विशेष रूप से पूजे जाते हैं। वैसे ग्राम-ग्राम में देवता हैं। देवी देवता वीर पुरुषों के ही रूप हैं। ऐसा कहा जाता है कि पहले बाणासुर की राजधानी सरहान में थी। बाणासुर के तीन पुत्र और चार लड़कियां कुल सात सन्तान थीं। इनमें चंडिका सबसे बड़ी थी। पिता के मरने पर राज्य के लिए तीनों भाइयों में प्रबल विरोध हुआ। कोठी की देवी ने भाइयों और बहिनों का क्षेत्र बांटकर शांति करा दी। (क्रमशः)

नरेन्द्र देव

आधी रात का सूर्य

भूगोल के पढ़नेवाले यह भली भांति जानते हैं कि स्वेडन, नार्वे तथा डेनमार्क को सम्मिलित करके जो भूभाग बनता है, उसी को स्कैण्डिनेविया कहते हैं। इतिहास बताता है कि पहले तीनों देश एक ही राजा के शासनाधीन थे, ठीक उसी भाँति जैसे आज इङ्गलैण्ड, स्काटलैण्ड तथा अलस्टर एक ही राजा के अधीन हैं। किन्तु स्कैण्डिनेविया के तीनों देशों का शासन आज पृथक-पृथक होता है।

जहाँ आधी रात को सूर्योदय होता है। उस देश को देखने की लालसा से हम लोग लन्दन से यात्रा की तैयारी में लग गये, कारण जुलाई मास का प्रथम सप्ताह आ गया था। १४ जुलाई के बाद, नार्वे का यह 'मिड नाइट सन' नहीं दिखाई पड़ता। हम डोवर की तरफ चल पड़े। इङ्गलिश चैनल पार करके अस्टेण्ड, ब्रुसेल्स, घेण्ट, वाटरलू, एण्टोवर्प, ब्रासेल्स प्रभृति बेलजियम के एतिहासिक और युद्धकालीन परिचित स्थानों को देखते हुए तीन दिन के बाद, हम लोग हालैण्ड पहुँच गये। यहाँ से रूजानदाल, हेग, हुक-आफ-हालैण्ड, रटर्डम, आमर्स्टडम आदि अच्छे-अच्छे शहरों एवं देहाती अंचलों में घूमकर, पश्चिमी जर्मनी होते हुए हम सीधे डेन्मार्क पहुँचे। कोपेनहेगेम में ठहरने के बाद, स्टाकहोम आ गये। स्वेडन के इस सुन्दर शहर में दो दिन विश्राम करके रवाना होकर हम नार्वे के उत्तरी पहाड़ी प्रदेश में नार्विक के मुहाने पर पहुँच गये।

स्टाकहोम में हमें मालूम पड़ा, कि मध्य-रात्रि के सूर्य को देखने के लिए इतनी जल्दीबाजी की जरूरत न थी। १४ जुलाई तक नार्विक न पहुँचने पर यह 'निशीथ का सूर्य' वहाँ से जरा आगे बढ़ कर ट्रमजो में २१ जुलाई तक दिखाई पड़ता है। और ट्रमजो से यदि सीधे नार्थकेप तक जाया जाय तो वहाँ से ३० जुलाई तक मध्यरात्रि का सूर्य दिखाई पड़ता है। यह सब सुन कर हम लोग कुछ निश्चिन्त हुए फिर भी इन बातों पर ही हम पूरा भरोसा न कर सके। अगर न देख सके तो, इसी शंका से स्टाकहोम छोड़ कर जल्दी ही हम नार्विक पहुँच गये।

स्टाकहोम से ट्रेन हमें उत्तरी मेरू की ओर ले चली। लैपलैण्ड पहुँचते ही आकाश मेघाच्छन्न हो गया। चिमनियों की लाल रोशनी को छोड़ कर 'निशिसूर्य' नहीं दिखाई पड़ा। यहाँ रात होते हुए भी दिन जैसा उजेला छिटका हुआ था। हम दूसरे रोज नार्विक पहुँचे। वर्षा हो रही थी अतः स्टेशन से एक टैक्सी लेकर हम होटल पहुंचे।

स्टेशन से होटल इतना करीब होगा हम नहीं जानते थे। टैक्सी पर बैठते ही फौरन हमें होटल के सामने उतरना पड़ा। यहाँ टैक्सी भाड़ा बहुत लगता है। पहाड़ी देश है न। फिर भी रास्ता बहुत अच्छा है। आसानी से पैदल भी आया जा सकता था।

नार्विक एक छोटा-सा पहाड़ी नगर है। ११००० की आबादी है। उत्तर मेरू वृत के दो सौ मील भीतर ही यह नगर स्थित है। रेलवे लाइन भी यहीं आकर समाप्त हो जाती है। ट्रमजो तक बस जाती है। इसके बाद नौका छोड़ कर कोई दूसरी सवारी नहीं मिलती। नार्थकेप जाने के लिए ट्रमजो से मोटर बोट पर सवार होना पड़ता है। नार्विक के पास ही 'उफो' फियोर्ड है। नारवे के यह फियोर्ड या, जलधि अंश खाड़ियाँ समुद्र की तरह प्रशस्त हैं। प्राकृतिक सौंदर्य के पुजारी स्टीम बोट पर बैठ कर खाड़ियों के अन्दर मीलों घूमा करते हैं। इन खाड़ियों के दोनों किनारों पर गगनचुम्बी पर्वत हैं। विस्तीर्ण ग्लेशियर अर्थात् तुषार प्रवाह, वर्फ से ढँकी चोटियाँ और इधर-उधर जल-प्रपात जिनके जल में बर्फ का प्रतिविम्ब झलमलाता रहता है। पहाड़ों के बर्फ पर प्रकाश की किरणें एक अलौकिक चमक पैदा करती हैं। घने जंगल कहीं-कहीं पहाड़ की भूमि को मीलों तक घेरे हुए हैं। यह श्याम स्निग्ध उपत्यका एक सुन्दर नैसर्गिक चित्र जैसी मालूम पड़ती है। यहाँ की तरुणियाँ सुन्दर हैं, तरुण सुन्दर हैं, शिशु सुन्दर हैं, मकान सुन्दर हैं, वेश-भूषा सुन्दर है, मानों प्रकृति की सारी सुन्दरता यहीं सिमट कर आ गई है। इन तमाम सौन्दर्य का पूरा-पूरा उपभोग जलविहार के समय ही किया जा सकता है।

नार्विक तीन तरफ से नीले सागर की तरंगों से घिरा है और इसके एक तरफ गगनचुम्बी शैलमाला है। कोई-कोई शिखर तो तीन चार हजार फुट से भी ऊँचे हैं। यहाँ प्रति घण्टे विद्युत ट्रेनें स्वेडन के किरुना नगर से लोहे को लाद-लाद कर यहाँ के बन्दरगाह पर खड़े जहाजों पर चढ़ाने के लिए दौड़ा करती हैं। नारवे ही क्या, यह संसार के उत्कृष्ट बन्दरगाहों में एक है। यहाँ पर हर समय विदेश जानेवाले और विदेशों से आनेवाले जहाज खड़े रहते हैं।

जाड़े के दिनों में यहाँ 'स्की' खेल होता है—दौड़ और नृत्य होता है, क्योंकि यहाँ बरफ नहीं गलती। जाड़े के दिनों में झीलें भी जमकर बर्फ बन जाती हैं। नार्विक का 'माउण्ट वियर्न फेल' स्की के खिलाड़ियों का स्वर्ग कहा जाता है। ढाई मील लम्बा ढालू पहाड़ी पथ 'स्की' दौड़ के लिए बहुत ही अच्छा है। 'स्की' पर कहीं झपेटा आने पर संभलने के लिए जगह-जगह टीले भी हैं। इसके अलावा एक सुन्दर 'आईसरिंक' भी है। इस रिंक के बीच स्केटिंग करने में बहुत ही आनन्द आता है। छोटे-छोटे बच्चे और बच्चियाँ तक यहाँ पर पैर में स्केट बाँध कर निर्द्वन्द दौड़ते, भागते, नाचते और गाते हैं।

रात को इस 'आईसरिंक' और बरफ के पहाड़ों को प्रकाश-प्रपात समुज्जवल किये रहते हैं—जिससे खिलाड़ियों को कोई असुविधा नहीं होती। यहाँ बरफ पर हॉकी का खेल होते भी मैंने देखा। रात में इस तुषार-भूमि की शोभा दिन से सात गुनी अधिक बढ़ जाती है।

अप्रैल महीने से यहाँ पर रात में दिन का प्रकाश दिखाई पड़ने लगता है। रात बोल कर यहाँ कुछ है ही नहीं, क्योंकि रात्रि का अन्धकार यहाँ होता ही नहीं। दिन और रात दोनों ही समान होते हैं। मध्यरात्रि का सूर्य यहाँ मई महीने से दिखाई पड़ने लगता है। अन्धेरी रात में सूर्योदय की लालिमा फूट कर नार्विक के चारों तरफ—अरण्य, पर्वत, जलाशय, झोपड़ों और उनके द्वारों, सभी को चमका देती है। इस समय कितने ही लड़के, लड़कियों एवं तरुणों के दल सजे सजाए ढंग से कन्धे पर आवश्यक सामान लादे हुए घर से निकल पड़ते हैं। इन्हें देखकर ऐसा लगता है कि इनके शरीर का गर्म लहू जवानी के अदम्य उत्साह के साथ अरुणोदय को पूरा-पूरा सन्मान देते हैं।

नार्विक से दक्षिण की ओर एक पहाड़ है। इसका नाम है 'स्लीपिंग क्वीन' अर्थात् 'निद्रित रानी'। दूर से ही देखने पर ऐसा लगता है, मानों कोई सुन्दरी अपनी लटें फैलाये सोई हुई है। यह पहाड़ विशेष ऊँचा नहीं है। इसके शिखर पर आसानी से चढ़ा जा सकता है। ऊपर चढ़ कर हमने देखा कि स्कूल के छोटे-छोटे बहुत-से लड़के-लड़कियाँ पहले से ही शिखर पर किलकारियाँ मारते हुए निद्रित रानी को जगाने की कोशिश कर रहे हैं।

उन्नत शैलमालाओं की गोद में छोटी-छोटी गुफाएं भी हैं—जो कैलाश और मानसरोवर की याद दिलाती हैं। मध्यरात्रि के नवोदित सूर्य की लालिमा चारों तरफ एक स्वर्ग का दृश्य उपस्थित करती हैं। नारवेजियन साहित्य के विरह, मिलन और न जाने-किन भावनाओं का शायद यही उद्गम है।

हम लोग जिस होटल में ठहरे थे उसका नाम था–'दी होटल रायल'। नार्विक में यह सबसे बड़ा होटल है। यहाँ का दैनिक खर्च प्रत्येक व्यक्ति पीछे तीस क्रोन रहने के लिए लगता है और खाने का खर्च अलग। नारवे का एक क्रोन इङ्गलैण्ड के एक शिलिंग के बराबर होता है। दुनिया भर के जितने भी धनी व्यापारी हैं, यहाँ इसी होटल में टिकते हैं। हम लोग साधारण यात्री थे—अतएव इस अभिजात्यवर्गीय होटल में ठहर कर खूब बेवकूफ बन गये। इंगलैण्ड में हमलोग दिन में चार बार खाकर भी जितना खर्च करते थे, वहाँ के मुकाबले में हमें यहाँ काफी मंहगा पड़ा।

होटलवालों ने हम लोगों के लिए खूब बड़े कमरे रिजर्व करके रक्खे थे—बिलकुल राजाओं के ठहरने लायक। होटल की महिला मैनेजर ने हमें बताया कि 'मिडनाइट सन' देखने के लिए आप लोगों को कहीं बाहर जाने की दरकार नहीं, आप उसे यहीं कमरे से ही देख

सकते हैं। इस होटल को ऐसी ही स्थिति विशेष के लिए बनाया गया है। सुनकर हम लोग बहुत प्रसन्न हुए।

जुलाई महीने का बीच था। गर्मी पड़ रही थी। लेकिन नार्विक के तापमान के अनुसार ६० डिग्री से अधिक ताप नहीं था। दिनभर हम लोग नार्विक नगर में घूमते रहे, बहुत अच्छा मालूम पड़ा। नवनीता ने इसी बीच नारवेजियन लड़कियों के साथ मित्रता भी कर ली थी। एक दुभाषिये की मदद से नार्वेजियन लड़कियों से उसने बातें भी खूब कीं। यहाँ पर किसी-किसी स्कूल में अंग्रेजी भी पढ़ाई जाने लगी है, अतएव कुछ लड़कियाँ अङ्ग्रेजी बोलने और समझने भी लगी हैं।

नगर की दूकानों पर लैपलैण्ड के उद्योग और कलापूर्ण सामग्रियों का दर्शन हुआ। कहीं हाथ के बुने मोजे, स्वेटर, गुलबन्द इत्यादि दिखाई पड़े—कहीं-कहीं 'रेण्डियर' नामक स्थानीय हरिन के सींग के बने सामान जैसे चाकू, छुरा एवं बर्छे दिखाई पड़े। हरिन के चमड़े की बनी बहुत-सी चीजें भी नजर आईं एवं स्टेशनरी, खिलौना, किताबों, चित्रों तथा सौंदर्य प्रसाधनों आदि की दूकानें भी मिलीं। पहाड़ी पर बसे इस छोटे-से नगर में प्रायः सभी चीजें मिलती हैं।

शाम को जब हम लोग लौट कर होटल आये तब जोरों की वृष्टि शुरू हो गई। सारा आकाश मेघाच्छन्न हो गया। हमारे होटल की महिला मैनेजर ने बताया कि अगर मौसम ऐसा ही रहा तो 'मिडनाइट सन' नहीं निकलेगा। दूसरे दिन शाम को ही हम लोग नार्विक छोड़ देने वाले थे। बड़ी निराशा हुई। करते भी क्या, प्रकृति पर कोई जोर न था।

पानी रात में भी बरसता रहा। मानों हम लोगों की आशाओं पर पानी फिर रहा था! नवनीता दिन-भर की थकी-माँदी सो गई थी। पत्नी निराशा के साथ मेघाच्छन्न आकाश को वातायन से देख रही थीं। हठात् वह उल्लसित कंठ से चिल्ला उठीं—वह देखो, वर्षा रुक गई। मेरी खुशी का अन्त नहीं रहा। खिड़की के परदे को हटा कर मैंने आसमान की ओर देखा। सचमुच जैसे भगवान ने मेरी प्रार्थना सुन ली हो। उधर कमरे में रक्खे टेलीफोन की घंटी बज उठी। रिसिवर उठाया तो मालूम हुआ होटल की महिला मैनेजर हमें सूर्योदय की सूचना दे रही हैं। मैंने भद्र महिला को अनेकों धन्यवाद देकर रिसिवर रखा।

घड़ी पर हम लोगों ने नजर दौड़ाई तो रात को ग्यारह बजे थे। आसमान की ओर देखा तो प्रातः का-सा दृश्य दिखाई पड़ा। पूरब दिशा में धीरे-धीरे रोशनी बढ़ती जा रही थी और भगवान भास्कर स्पष्ट होते जा रहे थे।

टन्-टन् करके नार्विक के एक बड़े गिर्जे में दो की घंटी बजी। मैंने नवनीता को भी जगाया और उठा कर जंगले के पास ले आया। मध्यरात्रि का यह सूर्य तो पूर्णिमा के चाँद-जैसा लगता है बाबू! उसने कहा।

सचमुच इतना कमनीय, स्निग्ध एवं नयनाभिराम दृश्य था कि मालूम पड़ता था, जैसे चन्द्रमा और सूर्य मिल कर एक हो गये हों।—विशाल-भारत

★

मदनमोहन सिंह

मलेरिया से पिंड छूटा

प्राकृतिक चिकित्सा से मेरा परिचय है अतः मैं दवा का प्रयोग नहीं करता लेकिन, इस बार जब गत ३ नवंबर '५१ को मलेरिया ने पकड़ा तो समस्या कठिन हो गई। ज्वर की हालत में होश-हवाश नहीं रहता, दोपहर को ठंडक लगने लगती और ज्वर दो घंटे के अंदर १००° चला जाता, मुझे बेहोशी के दौरे लगते। दुबला मैं हमेशा का हूँ, मेरे प्रोफेसर घबरा गये। मित्र दवा लेने पर जोर देने लगे, एक दिन तो दो डाक्टरों को साथ ले आये जिन्होंने एक स्वर से कहा कि बिना कुनैन के मलेरिया जायगा नहीं, यदि इसका विधिवत् डाइगनोसिस किया जाय तो वक्त लगेगा अतः कुनैन लेकर ठीक हो जायं। कुनैन का मिक्सचर मैंने तीन दिन लिया पर ज्वर और कष्ट कम होना तो दूर, ये सभी बढ़ गये। शरीर में पीड़ा तो इतनी होने लगी जो बरदाश्त के बाहर थी। ऐसी अवस्था में मैंने पांच दिन गुजारे पर ज्वर जाता न देख कर मैंने आरोग्य-मंदिर, गोरखपुर पहुँचने की ठानी। एक मित्र से प्रार्थना की और वे मुझे आरोग्य-मंदिर पहुँचा आयें। जब मैं आरोग्य मंदिर पहुँचा तो उस समय रात के नौ बजे थे। तुरंत मेरे रहने का इन्तजाम किया गया। एक आदमी मेरी देख-भाल के लिए रहा जिसे हिदायत की गई कि मुझे जब प्यास लगे पानी जरूर पिलाया जाय।

सवेरे से मेरी चिकित्सा शुरू हुई जो बहुत साधारण थी। अभी बता दूँ कि ज्वर की उग्रता तीन दिन में चली गई और एक सप्ताह में मेरा ज्वर बिलकुल चला गया। चिकित्सा केवल यह थी कि मुझे रोज एनिमा दिया जाता, पेड़ू पर मिट्टी की पट्टी रखी जाती और ज्वर १०२° से ज्यादा होने पर सारे बदन की गीली पट्टी लगाई जाती। भोजन सप्ताह भर मिला केवल पानी और पांच-छः नीबू का रस जिसे मैं पानी में मिला-मिलाकर पीता रहता।

ज्वर जाने पर मुझे पहले दिन सवेरे-दोपहर और शाम को एक-एक संतरा चूसने को मिला। दूसरे दिन छः, तीसरे दिन दोपहर को संतरे के बजाय तरकारी मिली और दो-तीन दिन में मुझे सवेरे संतरे और दोपहर शाम को रोटी-सब्जी मिलने लगी।

ज्वर जाना था कि मुझे ताकत मालूम होने लगी। सात दिन तक जब तक ज्वर था मेरे लिए करवट बदलने में भी कठिनाई होती थी पर संतरा मिलने के दूसरे दिन से ही मैं अपना सभी कार्य स्वयं कर सकता था। रोटी मिलते-मिलते तो, जो मेरा वजन दस पौंड कम हो गया था पर शक्ति पूरी आ गई थी। ज्वर जाने पर मैं अवसाद नहीं स्फूर्ति का अनुभव कर रहा था, पाचन भी ज्यादा अच्छा हो गया और धीरे-धीरे वजन भी बढ़ गया।

इस समय मेरा स्वास्थ्य मलेरिया होने के पूर्व स्वास्थ्य से बहुत बढ़िया है। काम करने की शक्ति तो अधिक है ही और वजन जो दस पौंड घटा था अट्ठारह पौंड बढ़ गया है।

—आरोग्य

आंजन

महावीर हनुमान का नाम और यश अमर है। जबतक भारतभूमि रहेगी, जबतक इस भारतवर्ष में लोग निवास करेंगे, महावीर हनुमान का नाम मिट नहीं सकता। आज समस्त हिन्दू जाति उस पवनसुत के नाम पर श्रद्धा और भक्ति से सिर झुकाती है। शायद ही ऐसा कोई नगर या गाँव होगा जहाँ महावीर हनुमान का मन्दिर या चबूतरा नहीं हो।

न जाने वह कौन-सा समय रहा होगा जब महावीर हनुमान इस धरती पर अपना प्रबल पराक्रम दिखला रहे थे। न जाने वह कौन-सा युग था जब वे संसार को स्वामी भक्ति का पाठ पढ़ा रहे। उस महान ब्रह्मचारी का नाम आज युग-युग से चला आ रहा है। वह अंजनी-पुत्र हनुमान...

इधर छोटानागपुर की ओर ऐसा कहा जाता है कि महावीर हनुमान की जन्म-भूमि इसी झारखंड के आंजन नाम की जगह में थी। आंजन गाँव का नाम अंजनी नाम से सादृश्य रखती भी है। सम्भव है यह नाम माता अंजनी के नाम पर ही हो।

यह आंजन गाँव बहुत पुराना कहा जाता है। लोगों का कहना है कि किसी समय यह स्थान जरूर ही तीर्थस्थान रहा होगा। शिव-लिंग वहाँ प्रचुर मात्रा में दिखलाई देते हैं। ये शिवलिंग इधर के ही पत्थरों को तराश कर बनाये गये हैं। उन्हें देखते ही उनका पुरानापन प्रकट हो जाता है। इधर कई शताब्दियों से छोटानागपुर में बाहर से देवताओं की मूर्तियाँ मँगाकर मन्दिरों में उनकी स्थापना लोग किया करते थे। पर आंजन में जो शिवलिंग हैं वे वहाँ के पत्थर के ही बने हुए हैं। कहते हैं कि किसी समय उस गाँव में सरोवरों की भरमार थी। लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि यहाँ ३६० सरोवर थे। ऐसा था कि अगर आदमी चाहे तो साल भर तक रोज पृथक-पृथक सरोवरों में ही स्नान करता रहे। पहले तालाब से शुरू करके फिर उसके बाद जब पूरा साल समाप्त हो जाता तब उसके बाद ही फिर उस सरोवर में स्नान करने का अवसर आ सकता। इस बात को सुनकर आदमी सोच भी नहीं सकता कि उस समय का आंजन गाँव कितना मनोहर रहा होगा जब वहां के ३६० सरोवरों में कमल खिले रहते होंगे, उनके ऊपर भौंरों का गुंजार होता रहता होगा, तथा तरह-तरह के पक्षी उड़-उड़ कर वहां आस-पास में आया करते होंगे। इस बात की कल्पना से ही रोमांच-सा हो आता है।

पर आज का आंजन वह आंजन नहीं है। वे ३६० सरोवर कहानी बन चुके हैं।

लोगों ने उन सरोवरों को खेतों में परिणत कर दिया। अब वहाँ खेती होती है। उन सरोवरों की बात तक लोग प्रायः भूल चुके हैं। पर आज के समय में भी वहां लगभग ३० सरोवर मौजूद हैं।

उस गाँव के रहनेवाले वृद्ध लोग महावीर हनुमान की कहानी बतलाया करते हैं। पुराण के ग्रन्थों में जिस प्रकार हनुमानजी का जन्म वृत्तान्त वर्णित है उस बात को दुहराते हैं। उसके बाद कहनेवाले वृद्धों के चेहरे पर गौरव की चमक आती है। वह गर्व के साथ कहते हैं कि हनुमानजी का जन्म यहीं, इसी गाँव में हुआ था। यहीं उनकी माता अंजनी निवास करती थीं। आज भी माता अंजनी की गुफा यहाँ मौजूद है।

एक पहाड़ी गुफा को लोग माता अंजनी की गुफा कहते हैं। लोग बहुत ही आश्चर्य के साथ कहा करते हैं कि उस गुफा के भीतर से कभी-कभी ऐसी गन्ध आती है कि मानो वहाँ कोई धूप जला रहा हो।

कुछ लोगों का कहना है कि वहाँ अगर ३६० सरोवर थे तो ३६० देवताओं का निवास भी था। प्रतिदिन आदमी अलग-अलग सरोवर में स्नान करके अलग-अलग देवताओं का पूजन किया करता था। आनेवाले यात्री भक्तों की कमी नहीं थी। वे इस तीर्थ में आते थे और साल भर तक रह जाते थे। पता नहीं कि वह कौन-सा युग था।

गुमला की जो लौरी लोहरदगा होकर जाती है उसी रास्ते पर गुमला से ७ मील इधर ही टोटो नाम का गाँव है। वहाँ व्यापारी लोगों की घनी आबादी है। उस गाँव के लोग कमाते-खाते अच्छी हालत में हैं। उस गाँव में डाकखाना है, लड़कों का स्कूल है। खेती से उपज भी टोटो में अच्छी होती है। बनिया लोग वहाँ खास तौर पर लाह या घी का रोजगार करते हैं। पर अब तो टोटो के घी का नाम बस नाम भर ही रह गया है। उस रोजगार को लोगों ने छोड़ दिया है। न गाय और भैंस पालते हैं और न घी का रोजगार करते हैं। परन्तु लाह का रोजगार तो वहाँ अभी चल रहा है। हाँ, अब वहाँ के उस रोजगार में वैसी तेजी नहीं। जो अच्छे व्यापारी थे वे पास ही गुमला में जाकर बस गये या लोहरदगा या डाल्टेनगंज जाकर रोजगार करने लगे। पर, फिर भी वह भाग्यशाली गाँव है। उसी टोटो गाँव से पच्छिम की ओर लगभग दो मील की दूरी पर आंजन गाँव है। बस्ती न बहुत बड़ी है और न एकदम छोटी। उराँव लोगों की आबादी उस गाँव में अधिक है। वही आंजन हनुमानजी का जन्म-स्थान बतलाया जाता है। वहाँ एक इन्द्रकुंड है जहाँ से जल निकलता रहता है। एक पत्थर की ढेंकी भी उस गाँव में है। यह ढेंकी भी प्राचीन काल की बतलाई जाती है।

कहनेवाले कहते हैं कि उस गाँव में रहने वालों को कभी-कभी कुछ मिल भी जाता है। कहते हैं कि किसी किसान को खेत जोतते समय वहाँ सोना मिला था। पर

किस आदमी को वह सोना मिला था, कितना सोना मिला था, कब मिला था, इस बात का पता नहीं लगता। पर लोगों को वहाँ कुछ मिल जाय तो उसमें कोई अचम्भे की बात नहीं। श्री रघु ठाकुर, जो इधर कुछ समय से आँजन गाँव के महत्त्व को पुनः प्रतिष्ठित करने पर जोर दे रहे हैं, कह रहे थे कि उन्हें वहाँ पत्थर का एक सिक्का मिला था जिस पर एक सिंह, एक हाथी और एक बन-सूअर की तस्वीर बनी हुई है। कहते हैं कि उस सिक्के पर कुछ लिखा हुआ भी है जो पढ़ा नहीं जाता। श्री रघु ठाकुर यह भी कह रहे थे कि वहाँ जो ईंट मिलती है उसकी लम्बाई १५ इंच तथा चौड़ाई १० इंच की है।

उस गाँव में एक शिवलिंग के बारे में, जो चक्र महादेव के नाम से प्रसिद्ध हैं कहा जाता है, कि इनकी बड़ी भारी महिमा है।

—आदिवासी

प्रकाशक—श्रीनगेन्द्र नारायण सिंह, मंत्री, बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना
मुद्रक—वैशाली प्रेस, पटना-४

'अमृत' के लेख और लेखक

(अगस्त, १९५१—जुलाई, १९५२)

अगस्त, १९५१

सितम्बर, १९५१

अक्टूबर, १९५१

नवम्बर, १९५१

दिसम्बर, १९५१

जनवरी, १९५२

फरवरी, १९५२

मार्च, १९५२

अप्रैल, १९५२

मई, १९५२

जून, १९५२

जुलाई, १९५२

* * *

अमृत

(जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र)

को

अपना कर,

उसमें

लिख कर,

उसमें विज्ञापन देकर,

उसके ग्राहक बन कर

तथा उससे सहानुभूति रख

कर स्वराज्य के सच्चे अर्थ में

सत्य की सेवा को सार्थक करने में

अपनी सहायता तथा सहयोग दें

★ ★ ★

'अमृत' के नियम

❀ 'अमृत' प्रतिमास प्रकाशित होगा।

❀ इस का वार्षिक मूल्य ५) और एक प्रति का आठ आना है।

❀ पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या लिखने की कृपा करें।

❀ 'अमृत' में जन-जीवन, विशेषत: हरिजनों, आदिवासियों तथा अन्य उपेक्षित वर्गों के कल्याण-संबंधी स्वस्थ एवं सुरुचिपूर्ण रचनाओं का विशेष स्थान होगा। यह रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की व्यावहारिक कठिनाइयों तथा उनके निराकरण सम्बन्धी सुझावों का स्वागत करेगा।

❀ 'अमृत' में अश्लील तथा भद्दे विज्ञापन नहीं लिए जायेंगे।

भारत के प्रत्येक कोने में एजेन्टों की आवश्यकता है। एजेंसी के नियम के लिए मैनेजर, 'अमृत', बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना-४ को लिखें।

तार :—'सेवकसंघ' पटना
फोन :—२१४६ पटना

रजिस्टर्ड नं० पी० ७६१

बापा की पुण्य-स्मृति में—

अमृत

जन-जीवन-संबंधी मासिक पत्र

(बिहार सरकार द्वारा स्वीकृत)

स्त्री पुरुष से श्रेष्ठ है

"....स्त्री को अबला कहना उसका अपमान करना है। उसे अबला कहकर पुरुष उसके साथ अन्याय करता है। अगर ताकत से मतलब पाशवी ताकत से है तो निस्सन्देह पुरुष की अपेक्षा स्त्री में कम पशुता है, पर अगर इसका मतलब नैतिक शक्ति से है तो अवश्य ही पुरुष की अपेक्षा स्त्री कहीं अधिक शक्तिशालिनी है। क्या स्त्री में पुरुष से अपेक्षाकृत अधिक प्रतिभा नहीं है? क्या उसका आत्मत्याग पुरुष से बढ़कर नहीं है? उसमें सहन शक्ति की कमी है? साहस का अभाव है? बिना स्त्री के पुरुष हो नहीं सकता। अगर अहिंसा हमारे जीवन का मंत्र है तो कहना होगा कि देश का भविष्य स्त्रियों के हाथ में है।"

—महात्मा गांधी

प्रकाशक—श्रीनगेन्द्र नारायण सिंह, मंत्री, बिहार हरिजन सेवक संघ, पटना
मुद्रक—वैशाली प्रेस, पटना-४